आत्म-कथा

(प्रथम खण्ड)

म० गांधीजी के गुजराती 'सत्यना प्रयोगो' अथवा
'आत्म-कथा' का हिन्दी अनुवाद

अनुवादक

पं० हरिभाऊ उपाध्याय

प्रकाशक

सस्ता-साहित्य-मंडल

अजमेर

प्रथमवार २०००]　　१९२८.　　[मूल्य ॥=)

प्रकाशक
जीतमल लूणिया, मन्त्री
सस्ता-साहित्य-मंडल, अजमेर

लागत का ब्योरा

कागज़	६४०)
छपाई	५३५)
बाइंडिंग	१२५)
व्यवस्था, विज्ञापन आदि खर्च	८१०)
	२११०)

प्रतियाँ ३०००
एक प्रति का लागत मूल्य ॥≡)

सूचना—प्रचार के ख़याल से इस पुस्तक का मूल्य सब के लिए केवल ॥=) ही रखा गया है।

मुद्रक
जीतमल लूणिया
सस्ता-साहित्य प्रेस, अजमेर

अनुवादक की ओर से

यह मेरा अहोभाग्य है कि महात्माजी की आत्म-कथा के हिन्दी अनुवाद का अवसर मुझे मिला। 'नवजीवन' में 'आत्म-कथा' के प्रकाशित होने के पहले ही मैं 'हिन्दी नवजीवन' को छोड़कर, महात्माजी की आज्ञा से, राजस्थान में काम करने के लिए आ चुका था। मेरे बाद कई भाइयों के हाथों में 'हिन्दी-नवजीवन' का काम रहा और 'आत्म-कथा' का अनुवाद भी उसमें मित्रों द्वारा हुआ। अतएव उसमें भाषा-शैली का एक-सा न रहना स्वाभाविक था। परन्तु उसे पुस्तक-रूप में प्रकाशित करने के लिए यह आवश्यक समझा गया कि अनुवाद किसी एक व्यक्ति से कराया जाय। यह निर्णय होते ही मैंने भूखे भिखारी की तरह, झपट कर अनुवाद का भार अपने सिर पर ले लिया। सचमुच, वह दिन मेरे बड़े सद्भाग्य का दिन था।

अनुवाद मैंने गुजराती से किया है। मूल कथा महात्माजी गुजराती में ही लिख रहे हैं। अङ्गरेज़ी अनुवाद में बहुत स्वतंत्रता ली गई है। अतएव अङ्गरेज़ी से हिन्दी उल्था करने में हिन्दी अनुवाद मूल गुजराती से बहुत दूर जा पड़ता। महात्माजी गुजराती में बड़े थोड़े में, और बहुत ख़ूबी से अपने हृदय के गूढ़ भावों को व्यक्त कर देते हैं। उनका अनुवाद करना, कई बार, बड़ा कठिन हो जाता है। भाव को विशद करने जाते हैं तो भाषा-सौन्दर्य नहीं निभ पाता और भाषा-सौन्दर्य पर ध्यान देने लगते हैं तो भाव में गड़बड़ी पड़ने लगती है। मैंने कहीं-कहीं भाषा के किंचित् अटपटेपन को स्वीकार करके भी महात्माजी की मार्मिक वाक्य-रचना को क़ायम रखने की कोशिश की है। पाठक महात्माजी के ऐसे वाक्यों को 'आर्ष'—वाक्य ही समझ लें। दूसरे, हिन्दी-भाषा ज्यों-ज्यों राष्ट्र भाषा की

योग्यता और श्रेष्ठता को पहुँचती जायगी त्यों-त्यों उसका 'परदे की बीबी' बनी रहना असम्भव होता जायगा। उसे गुजराती, मराठी, बङ्गला आदि के सुंदर और मार्मिक शब्द-प्रयोगों को अपना कर अपना भण्डार भरे बिना गुज़र नहीं। इस दृष्टि से तो इस अनुवाद के ऐसे शब्द-प्रयोग मेरी राय में केवल क्षम्य ही नहीं, स्वागत-योग्य भी हैं।

रहा अनुवाद। सो इसकी अच्छाई-बुराई के बारे में मुझे कुछ भी कहने का अधिकार नहीं। मूल वस्तु की अद्वितीयता से तो कोई इन्कार नहीं कर सकता। अनुवाद में यदि मूल की उत्तमता से पाठक को वंचित रहना पड़े तो अपनी इस असमर्थता का दोष-भागी मैं अवश्य हूँ।

जब से मैंने अनुवाद को हाथ में लिया है, मैं मुश्किल से एक जगह ठहरने पाया हूँ—जहाँ ठहरने भी पाया हूँ, तहाँ अन्यान्य कामों में भी लगा रहना पड़ा है। अतएव जितना जल्दी मैं चाहता था, इस अनुवाद को पूरा न कर सका। इसका मुझे बड़ा दुःख है। पाठकों की बढ़ी हुई उत्सुकता को यदि यह अनुवाद पसन्द हुआ तो मेरा दुःख कम हो जायगा। अभी तो यह भाव, कि मैं महात्माजी के इस प्रसाद को हिन्दी पाठकों के सामने पुस्तक-रूप मे रखने का निमित्त-भागी बना हूँ, उस दुःख को कम कर रहा है। और जब मेरी दृष्टि इस अनुवाद के भावी कार्य की ओर जाती है, तब तो मुझे अपने इस सौभाग्य पर गर्व होने लगता है। मुझे विश्वास है कि महात्माजी की यह उज्ज्वल आत्म-कथा भूमण्डल के आत्मार्थियों के लिए एक दिव्य प्रकाश-पथ का काम देगी और उन्हें आशा तथा आत्मा का अमर सन्देश सुनावेगी।

उज्जैन,
फाल्गुन शु० ८, सं० १९८४

हरिभाऊ उपाध्याय

प्रस्तावना

चार-पांच साल पहले अपने नज़दीकी साथियों के आग्रह से मैंने आत्म-कथा लिखना मंजूर किया था और शुरूआत भी कर दी थी। परन्तु एक पृष्ठ भी न लिख सका था कि बम्बई में दंगा हो गया, और आगे का काम जहाँ का तहाँ रह गया। उसके बाद तो मैं इतने कामों में उलझता गया, कि अन्त को मुझे यरवडा में शान्ति मिली। वहाँ श्री जयरामदास भी थे। उन्होंने चाहा कि मैं अपने दूसरे तमाम कामों को एक ओर रख कर सब से पहले आत्म-कथा लिख डालूँ। मैंने उन्हें कहलाया कि मेरे अध्ययन का क्रम बन चुका है, और उसके पूरा होने के पहले मैं आत्म-कथा शुरू न कर सकूँगा। यदि मुझे पूरे छः साल यरवडा में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ होता, तो मैं अवश्य वहीं आत्म-कथा लिख डालता। पर अध्ययन-क्रम को पूरा होने में अभी एक साल बाकी था और उसके पहले मैं किसी तरह लिखना शुरू न कर सकता था। इस कारण वहाँ भी वह रह गयी। अब स्वामी आनन्द ने फिर वही बात उठाई है। इधर मैं भी द० आ० के सत्याग्रह का इतिहास पूरा कर चुका हूँ, इसलिए आत्म कथा लिखने को मन हो रहा है। स्वामी तो यह चाहते थे कि पहले मैं सारी कथा लिख डालूँ और फिर वह पुस्तकाकार प्रकाशित हो। पर मेरे पास एक साथ इतना समय नहीं। हाँ 'नवजीवन' के लिए तो रफ्ता रफ्ता लिख सकता हूँ। इधर 'नवजीवन' के लिए भी हर हफ्ता मुझे कुछ न कुछ लिखना ही पड़ता है, तो फिर आत्म-कथा ही क्यों न लिखूँ? स्वामी ने इस निर्णय को स्वीकार किया, और अब जा कर आत्म-कथा लिखने की बारी आई।

पर मैं यह निर्णय कर ही रहा था कि एक निर्मल हृदय साथी ने आ कर कहा। वह सोमवार—मेरा मौन दिन था।

"आप आत्म-कथा लिख कर क्या करेंगे? यह तो पश्चिम की प्रथा है। हमारे पूर्व में तो शायद ही किसी ने लिखी हो। और फिर आप लिखेंगे भी क्या? आज जिस बात को सिद्धांत के तौर पर मानते हैं, कल उसे न मानने लगें तो? अथवा उस सिद्धांत के अनुसार जो काम आप आज करते हैं उनमें बाद को परिवर्तन करना पड़े तो? आपके लेखों को बहुत लोग प्रमाण मान कर अपना जीवन बनाते हैं। उन्हें यदि ग़लत रास्ता मिला तो? इसलिए अभी आत्म-कथा के रूप में कुछ लिखने की जल्दी न करें तो ठीक न होगा?"

इस दलील का थोड़ा-बहुत असर मुझपर हुआ। पर मैं आत्म-कथा कहाँ लिख रहा हूँ? मैं तो आत्म-कथा के बहाने अपने उन प्रयोगों की कथा लिखना चाहता हूँ, जो मैंने सत्य के लिए समय समय पर किये हैं। हाँ, यह बात सही है कि मेरा सारा जीवन ऐसे प्रयोगों से भरा हुआ है। इस लिए यह कथा एक जीवन-वृत्तांत का रूप धारण कर लेगी। पर यदि इसका एक एक पृष्ठ मेरे प्रयोगों से ही भरा हो तो इस कथा को मैं स्वयं निर्दोष मानूंगा। मैं यह मानता हूँ—अथवा यों कहिए, मुझे ऐसा मोह है कि मेरे तमाम प्रयोग यदि लोगों के सामने आ जायँ, तो इससे उन्हें लाभ होगा। राजनैतिक क्षेत्र के मेरे प्रयोगों को भारतवर्ष जानता है—नहीं उन्नत मानी जाने वाली दुनियाँ भी थोड़ा बहुत जानती है। पर मेरी दृष्टि में उसका मूल्य बहुत कम है। और चूँकि इन्हीं प्रयोगों के कारण मुझे 'महात्मा' पद मिला है इसलिए उसका भी मूल्य मेरे नज़दीक बहुत कम है। बहुत बार इस विशेषण से मुझे बड़ा दुःख पहुँचा है। मुझे एक भी ऐसा क्षण याद नहीं पड़ता जब इस विशेषण से मैं मन में फूल उठा होऊँ। पर, हां, अपने आध्यात्मिक प्रयोगों का वर्णन अवश्य मुझे प्रिय होगा, जिन्हें कि अकेला मैं ही जान सकता हूँ और जिनकी बदौलत मेरी

राजनैतिक क्षेत्र की शक्ति उत्पन्न हुई है। और यदि ये प्रयोग सचमुच आध्यात्मिक हों, तो फिर उनमें फूल उठने के लिए जगह ही कहाँ है? उनके वर्णन का फल तो नम्रता की वृद्धि ही हो सकती है। ज्यों ज्यों मैं विचार करता जाता हूँ, अपने भूतकाल के जीवन पर दृष्टि डालता जाता हूँ, त्यों त्यों मुझे अपनी अल्पता साफ़ साफ़ दिखाई देती है। जो बात मुझे करनी है, आज ३० साल से जिसके लिए मैं उद्योग कर रहा हूँ, वह तो है, आत्म-दर्शन, ईश्वर का साक्षात्कार, मोक्ष। मेरे जीवन की प्रत्येक क्रिया इसी दृष्टि से होती है। मैं जो कुछ लिखता हूँ, वह भी सब इसी उद्देश से; और राजनैतिक क्षेत्र में जो मैं कूदा, सो भी इसी बात को सामने रखकर।

परन्तु शुरू ही से मेरी यह राय रही है कि जो बात एक के लिए शक्य है, वह सब के लिए शक्य है। इसलिए मेरे प्रयोग खानगी नहीं हुए, न रहे ही। इस बात से कि सब लोग उन्हें देख सकते हैं, उनकी आध्यात्मिकता कम होती होगी यह मैं नहीं मानता। हाँ कितनी ही बातें ऐसी ज़रूर होती हैं, जिन्हें हमारी आत्मा ही जानती है, जो हमारी आत्मा में ही समाई रहती हैं। परन्तु ऐसी बात तो मेरी पहुँच के बाहर की बात हुई। मेरे प्रयोग में तो आध्यात्मिक का अर्थ है नैतिक; धर्म का अर्थ है नीति; और आत्मा की दृष्टि से जिस नीति का पालन किया गया हो वही धर्म है। इस लिए इस कथा में उन्हीं बातों का समावेश रहेगा जिनका निर्णय बालक, युवा, वृद्ध करते हैं और कर सकते हैं। ऐसी कथा को यदि मैं तटस्थ भाव से, निरभिमान रह कर, लिख सकूँ तो उससे अन्य प्रयोग करने वालों को कुछ मसाला अवश्य मिलेगा।

अपने प्रयोगों पर मैं किसी प्रकार की सम्पूर्णता का आरोपण नहीं करता। विज्ञान-शास्त्री जिस प्रकार अपने प्रयोगों को अतिशय नियम-पूर्वक, विचार-पूर्वक और सूक्ष्मता के साथ करता है, फिर भी उससे उत्पन्न परिणामों को अन्तिम नहीं बताता, अथवा जिस प्रकार उनकी सत्यता के विषय

में यदि सशंक नहीं तो तटस्थ रहता है, वही बात मेरे प्रयोगों के बारे में समझना चाहिए। मैंने खूब आत्म-निरीक्षण किया है, अपने एक एक भाव की छानबीन की है, उसका विश्लेषण किया है। पर मैं यह दावा हरगिज़ नहीं करना चाहता कि उसके परिणाम सब के लिए अन्तिम हैं, वे सत्य हैं अथवा वही सत्य हैं। हाँ, एक दावा अवश्य करता हूँ कि वे मेरी दृष्टि से सच्चे हैं और इस समय तो अन्तिम जैसे मालूम होते हैं। यदि ये ऐसे न मालूम होते हों तो फिर इनके आधार पर मुझे कोई काम न खड़ा करना चाहिए। पर मैं तो जिन चीज़ों को देखता हूँ उनके कदम कदम पर दो भाग करता जाता हूँ—ग्राह्य और त्याज्य। और जिस बात को ग्राह्य समझता हूँ उसके अनुसार अपने आचारण को बनाता हूँ, एवं जबतक ऐसा आचरण मुझे—अर्थात् मेरी बुद्धि को और आत्मा को—सन्तोष देता है तबतक उसके शुभ परिणामों पर मुझे अटल विश्वास अवश्य रखना चाहिए।

यदि मैं केवल सिद्धान्तों का अर्थात् तत्वों का ही वर्णन करना चाहता होता, तो मैं आत्मकथा न लिखता। परन्तु मैं तो उसके आधार पर उठाये गये कार्यों का इतिहास देना चाहता हूँ, और इसी लिए मैंने इस प्रयत्न का पहला नाम रक्खा है 'सत्य के प्रयोग'। इसमें अहिंसा, ब्रह्मचर्य इत्यादि नियम, जो कि सत्य से भिन्न माने जाते हैं, उनके भी प्रयोग आ जायेंगे। परन्तु मेरे निकट तो सत्य ही सर्वोपरि है, और उसमें अगणित वस्तुओं का समावेश हो जाता है। यह सत्य स्थूल—वाचिक—सत्य नहीं है। यह तो वाचा की तरह विचार का भी सत्य है। यह सत्य केवल हमारा कल्पना-गत सत्य ही नहीं, बल्कि स्वतंत्र, चिरस्थायी सत्य, अर्थात् परमेश्वर ही है।

परमेश्वर की व्याख्यायें अगणित हैं; क्यों कि उसकी विभूतियाँ भी अगणित हैं। विभूतियाँ मुझे आश्चर्य चकित करती हैं। ये मुझे क्षण भर के लिए मुग्ध भी करती हैं। पर मैं तो पुजारी हूँ सत्य-रूपी परमेश्वर का ही। वही एक मात्र सत्य है और दूसरा सब मिथ्या है। यह सत्य अबतक

मेरे हाथ नहीं लगा है, मैं तो उसका शोधक मात्र हूँ। उसकी शोध के लिए मैं अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु को छोड़ देने के लिए तैयार हूँ; और इस शोध-रूपी यज्ञ में अपने शरीर को भी होम देने की तैयारी है और मुझे विश्वास है कि इतनी शक्ति मुझ में है। परन्तु जबतक इस सत्य का साक्षात्कार नहीं हो जाता तबतक मेरी अन्तरात्मा जिसे सत्य समझती है, उसी काल्पनिक सत्य को अपना आधार मानकर, दीप-स्तम्भ समझकर, उसके सहारे अपना जीवन व्यतीत करता हूँ।

यह मार्ग यद्यपि तलवार की धार पर चलने जैसा है तथापि मुझे तो सरल से सरल मालूम हुआ है। इस रास्ते जाते हुए मुझे अपनी भयंकर भूलें भी मामूली मालूम हुई हैं। क्यों कि इन भूलों के करते हुए भी मैं बच गया हूँ और अपनी समझ के अनुसार आगे भी बढ़ा हूँ। हाँ, दूर दूर से विशुद्ध सत्य की—ईश्वर की—झलक भी देख रहा हूँ। मेरा यह विश्वास दिन दिन बढ़ता जाता है कि सृष्टि में एक मात्र सत्य ही है और उसके सिवा दूसरा नहीं है। यह विश्वास किस तरह बढ़ता गया है, यह बात मेरे जगत् अर्थात् 'नवजीवन' इत्यादि के पाठक जानें और शौक से मेरे प्रयोगों में हिस्सेदार बनें तथा उसकी झलक भी मेरे साथ-साथ देखें। फिर मैं यह बात अधिकाधिक मानता गया हूँ, कि जितना मैं कर सकता हूँ उतना एक बालक भी कर सकता है, और इसके लिए मेरे पास सबल कारण हैं। सत्य की शोध के साधन जितने कठिन हैं, उतने ही सरल हैं। अभिमानी को जो बात अशक्य मालूम होती है वही एक भोले-भाले शिशु को बिलकुल शक्य मालूम होती है। सत्य के शोधक को एक रजकण से भी नीचे रहना पड़ता है। सारी दुनिया रजकण को पैरों तले रौंदती है; पर सत्य का पुजारी तो जबतक इतना अल्प नहीं बनजाता कि रजकण भी उसे कुचल सके, तबतक स्वतंत्र सत्य की झलक भी दुर्लभ है। यह बात वसिष्ठ-विश्वामित्र के आख्यान में अच्छी तरह स्पष्ट करके बताई गई है। ईसाई-धर्म और इस्लाम भी इसी बात को साबित करते हैं।

आगे जो प्रकरण लिखे जायँगे उनमें यदि पाठक को अभिमान का भास हो तो अवश्य समझना चाहिए कि मेरी शोध में कमी है और मेरी वे झलकें मृगजल के सदृश हैं। मुझ जैसे अनेकों का क्षय भले हो, पर सत्य की सदा जय हो। अल्पात्मा को नापने के लिए सत्य का गज़ कभी छोटा न बने।

मैं चाहता हूँ, मेरी विनय है कि मेरे लेखों को कोई प्रमाण न मानें। उनमें प्रदर्शित प्रयोगों को उदाहरण-रूप मानकर सब अपने अपने प्रयोग यथाशक्ति और यथामति करें, इतनी ही मेरी इच्छा है। मुझे विश्वास है कि इस संकुचित क्षेत्र में आत्म कथा-संबंधी मेरे लेखों से बहुत कुछ सहायता मिल सकेगी। क्यों कि एक भी ऐसी बात जो कहने लायक है, मैं छिपाऊँगा नहीं। पाठकों को अपने दोषों का परिचय मैं पूरा पूरा कराने की आशा रखता हूँ। क्योंकि मुझे तो सत्य के वैज्ञानिक प्रयोगों का वर्णन करना है। यह दिखाने की, कि मैं कैसा अच्छा हूँ, मुझे तिलमात्र इच्छा नहीं है। जिस नाप से मैं अपने को नापना चाहता हूँ और जो नाप हम सब को अपने लिए रखना चाहिए, उसे देखते हुए तो मैं अवश्य कहूँगा—

मो सम कौन कुटिल खल कामी ?
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो ऐसो निमकहरामी ॥

क्यों कि जिसे मैं सम्पूर्ण विश्वास पूर्वक अपने श्वासोच्छ्वास का स्वामी मानता हूँ, जिसे मैं अपने निमक का देने वाला मानता हूँ उससे मैं अभी तक दूर हूँ-यह बात मुझे प्रतिक्षण काँटे की तरह चुभ रही है। इसके कारण-रूप अपने विकारों को मैं देख तो सकता हूं; पर अब भी उन्हें निर्मूल नहीं कर पाता हूँ।

पर अब समाप्त करता हूँ! प्रस्तावना से प्रयोगों की कथा में नहीं पड़ सकता। वह तो कथा-प्रकरणों में ही पाठक को मिलेगी।

आश्रम, साबरमती
मार्गशीर्ष सु० ११ सं० १९८२

मोहनदास करमचंद गांधी

विषयसूची

पहला भाग

विषय	पृष्ठ

तीसरा भाग

आत्म-कथा

[प्रथम खण्ड]

महात्मा गान्धी

जन्म

गांधी परिवार, ऐसा मालूम होता है, पहले * पंसारी का काम करता था। परन्तु मेरे दादा से ले कर तीन पुश्त तक वह काठियावाड़ के भिन्न भिन्न राज्यों में दीवानगिरी करता आया है। ऐसा जान पड़ता है कि उत्तमचन्द गांधी उर्फ ओता गांधी बड़े टेक रखने वाले थे। उन्हें राज-दरबारी साजिश के कारण पोरबन्दर छोड़ना पड़ा, और जूनागढ़ राज्य में जा कर आश्रय लिया। बायें हाथ से उन्होंने नवाब साहब को सलाम किया। यह अविनय-सा दिखाई दिया और एक ने कारण पूछा तो उत्तर मिला "दाहिना हाथ तो पोरबन्दर को दिया जा चुका है।"

ओता गांधी ने एक के बाद दूसरा विवाह किया था। पहली पत्नी से चार लड़के हुए थे और दूसरी से दो। अपना बचपन याद करते हुए मुझे यह ख़याल बिलकुल नहीं आता कि ये भाई सौतेले लगते थे। उनमें पांचवें करमचन्द गांधी उर्फ कबा गांधी और अन्तिम तुलसीदास गांधी थे। दोनों भाई एक एक करके

---

* गुजरात-काठियावाड़ में पंसारी को गांधी कहते हैं। —अनुवादक.

पोरबन्दर में दीवान रहे थे। कबा गांधी मेरे पिताजी थे। पोरबन्दर का दीवानपद छोड़ने के बाद वे राजस्थानी कोर्ट के सभासद रहे थे। फिर राजकोट में और कुछ समय वांकानेर में दीवान रहे। मृत्यु के समय राजकोट दरबार के पेन्शनर थे।

कबा गांधी के भी एक एक करके चार विवाह हुए थे। पहली दो पत्नियों से दो लड़कियां थीं, अन्तिम पुतलीबाई से एक कन्या और तीन पुत्र हुए। उनमें सबसे छोटा मैं हूँ।

पिताजी कुटुम्बप्रेमी, सत्यप्रिय, शूर और उदार परन्तु क्रोधी थे। कुछ विषयासक्त भी होंगे। उनका अन्तिम विवाह चालीस वर्ष की अवस्था के बाद हुआ था। वे रिश्वत से दूर भागते थे, इसीसे अच्छा न्याय करते थे, ऐसी प्रसिद्धि हमारे कुटुम्ब में तथा बाहर थी। राज्य के बड़े वफ़ादार थे। एक बार एक असिस्टेन्ट पोलिटिकल एजेन्ट ने राजकोट के ठाकुर साहब का अपमान किया तो उन्होंने उनका सामना किया। साहब बिगड़ पड़े और कबा गांधी से कहा, माफी मांगो। उन्होंने साफ इन्कार कर दिया। इससे कुछ घण्टे के लिए उन्हें हवालात में भी रहना पड़ा। पर वे टस से मस न हुए—तब, अन्त को, साहब ने उन्हें छोड़ देने का हुक्म दिया।

पिताजी को धन जोड़ने का लोभ न था। इससे हम भाइयों के लिए बहुत थोड़ी सम्पत्ति वे छोड़ गये थे।

पिताजी ने शिक्षा केवल अनुभव से प्राप्त की थी। वे उतनी ही शिक्षा पाये होंगे जिसे आज हम अपर प्राइमरी कहते हैं। इतिहास, भूगोल का ज्ञान तो बिलकुल न था। इतना होते हुए भी व्यावहारिक ज्ञान इतने ऊंचे दरजे का था कि सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रश्नों

को हल करने में अथवा हज़ार आदमियों से काम लेने में उन्हें कठिनाई न पेश आती थी। धार्मिक शिक्षा नहीं के वरावर थी। परन्तु मन्दिरों में जाने से, कथा-पुराण सुनने से, जो धर्म-ज्ञान असंख्य हिन्दुओं को सहज ही मिलता रहता है, वह उन्हें मिलता था। अन्तिम दिनों में हमारे कुटुम्ब के मित्र एक विद्वान् ब्राह्मण की सलाह से उन्होंने गीता-पाठ शुरू किया था, और नित्य कुछ श्लोक पूजा के समय ऊंचे स्वर से पाठ किया करते थे।

माता साध्वी स्त्री थीं ऐसी छाप मेरे दिल पर पड़ी है। वे बहुत भावुक थीं। पूजा-पाठ किये विना कभी भोजन न करतीं, हमेशा हवेली—वैष्णव मन्दिर—जातीं। जब से मैंने होश सम्भाला, मुझे कभी याद नहीं पड़ता कि उन्होंने कभी चातुर्मास छोड़ा हो। कठिन से कठिन व्रत वे धारण करतीं और उन्हें निर्विघ्न पूरा करतीं। बीमार पड़ जाने पर भी व्रत न छोड़तीं। ऐसा एक समय मुझे याद है जब उन्होंने चान्द्रायण व्रत किया—बीच में बीमार पड़ गईं, पर व्रत न छोड़ा। चातुर्मास में एक वार भोजन करना तो उनके लिए मामूली वात थी। इतने से सन्तोष न पा कर एक वार चातुर्मास में उन्होंने हर तीसरे दिन उपवास किया। दो तीन उपवास उनके लिए एक नगण्य वात थी। एक चातुर्मास में उन्होंने ऐसा व्रत लिया कि सूर्यनारायण के दर्शन होने पर ही भोजन किया जाय। इस चौमासे में हम लड़के लोग आसमान की तरफ देखा करते कि कब सूरज दिखाई पड़े और कब मां खाना खाय। इस वात को तो सब लोग जानते हैं कि चौमासे में बहुत वार सूर्य-दर्शन मुश्किल से होते हैं। ऐसे दिन याद हैं, जब कि हमने सूर्य को निकलता हुआ देखकर पुकारा है—'मां-मां, वह सूरज निकला' और जबतक मां

जल्दी जल्दी दौड़ कर आती हैं, सूरज छिप जाता था। मां यह यह कहती हुई वापिस जातीं कि 'कोई बात नहीं, ईश्वर नहीं चाहता कि आज खाना खाऊं; और अपने कामों में मशगूल हो जातीं।

माता व्यवहार-कुशल थीं। राज-दरबार की सब बातें जानतीं। रनवास में उनकी बुद्धिमत्ता ठीक आँकी जाती थी। मैं बच्चा था तब दरबारगढ़ में कभी कभी वह साथ ले जातीं और 'बा माँ साहेब' (ठाकुर साहब की विधवा माता) के साथ के उनके कितने ही संवाद मुझे अब भी याद हैं।

इन माता-पिता के यहां आश्विन बदी १२, संवत् १९२५ अर्थात् २ अक्टूबर, १८६९ ईसवी को पोरबन्दर अथवा सुदामापुरी में मेरा जन्म हुआ।

बचपन पोरबंदर में ही बीता। ऐसा याद पड़ता है कि किसी पाठशाला में मैं पढ़ने बैठाया गया था। मुश्किल से कुछ पहाड़े पढ़ा हूंगा। उस समय मैं लड़कों के साथ महेताजी—मास्टर साहब—को सिर्फ़ गाली देना सीखा था—इतना याद पड़ता है, और कोई बात याद नहीं आती। इससे यह अनुमान करता हूँ कि मेरी बुद्धि मंद रही होगी और स्मरणशक्ति उन पंक्तियों के कच्चे पापड़ की तरह होगी जो कि हम लड़के गाया करते थे—

एकड़े एक, पापड़ शेक;
पापड़ कच्चो,—मारो—

पहली खाली जगह मास्टर का नाम रहता था। उन्हें मैं अमर करना नहीं चाहता। दूसरी खाली जगह में जो गाली छोड़ दी गई है, उसको भरने की आवश्यकता नहीं।

---

(२)

वचपन

पोरबन्दर से पिताजी राजस्थानिक कोर्ट के सभ्य हो कर जब राजकोट गये तब मेरी उम्र कोई ७ साल की होगी। राजकोट की पाठशाला में मैं भर्ती कराया गया। इस पाठशाला के दिन मुझे अच्छी तरह याद हैं। मास्टरों के नाम-ठाम भी याद हैं। पोरबन्दर की तरह वहाँ की पढ़ाई के संबंध में कोई खास बात जानने लायक नहीं। मैं मुश्किल से मामूली दर्जे का विद्यार्थी माना जाता होऊँ। पाठशाला से ऊपर स्कूल में और वहाँ से हाईस्कूल में गया। यहां तक पहुँचते हुए मेरा बारहवां साल पूरा हो गया। मुझे याद नहीं पड़ता कि अब तक मैंने किसी भी शिक्षक से झूठ बोला हो, और किसी से मित्रता जोड़ी हो। मैं बहुत झेंपू लड़का था, मदरसे में अपने काम से काम रखता। घण्टी लगते समय पहुँच जाता, और स्कूल बंद होते ही घर भाग आता। 'भाग आना' शब्द का प्रयोग मैंने जान बूझ कर किया है। क्योंकि मुझे किसी के साथ बातें करना न सुहाता था। मुझे यह डर भी बना रहता कि 'कोई मेरी दिल्लगी उडावेंगे तो'?

हाईस्कूल के प्रथम ही वर्ष की परीक्षा के समय की, एक घटना

लिखने योग्य है। शिक्षा-विभाग के इन्स्पेक्टर, जाईल्स साहब, निरीक्षण करने आये। उन्होंने पहली कक्षा के विद्यार्थियों को पाँच शब्द लिखवाये। उनमें एक शब्द था केटल (Kettle) । उसे मैंने गलत लिखा। मास्टर साहब ने मुझे अपने बूट से ठोंकर मार कर चेताया। पर मैं क्यों चेतने लगा ? मेरे दिमाग में यह बात न आई कि मास्टर साहब मुझे आगे के लड़के की स्लेट देख कर सही लिखने का इशारा कर रहे हैं। मैं यह मान रहा था कि मास्टर साहब तो इस बात के लिए गश्त लगा रहे थे कि कहीं हम एक-दूसरे की देख देख कर न लिख लें। सब लड़कों के पांचों शब्द सही निकले, और मैं ही अकेला गदाई साबित हुआ ! बाद को मास्टर साहब ने मेरी 'मूर्खता' मुझे बताई, परन्तु उनकी अक्ल का कुछ असर मेरे दिल पर न हुआ। दूसरों को देख देख कर लिखना मुझे न सधा।

ऐसा होते हुए भी मास्टर साहब के प्रति नम्रता का परिचय देने में मुझ से गलती न हुई। बड़े-बूढ़ों के ऐब न देखने का गुण मुझ में स्वाभाविक तौर पर था। बाद को तो इन मास्टर साहब के दूसरे ऐब भी मेरी नज़र में आये। फिर भी उनके प्रति मेरा आदर भाव कायम ही रहा। मैं इतना जानता था कि बड़े-बूढ़ों की आज्ञा का पालन करना चाहिए, जैसा वे कहें करना चाहिए; वे जो करें उसके क़ाज़ी हमें न बनना चाहिए।

इसी समय दूसरी दो घटनायें हुई हैं, जो मुझे सदा याद रही हैं। मामूली तौर पर मूझे कोर्स की पुस्तकों के अलावा कुछ पढ़ने का शौक न था। इस खयाल से कि पाठ याद करना चाहिए, उलहना सहन न होगा, मास्टर साहब को धोखा न दिया जायगा,

मैं पाठ यांद करता; पर मन न लगा करता। इससे सबक कई वार कच्चा रह जाता। ऐसी हालत में दूसरी पुस्तकें पढ़ने को जी कैसे चाहता? परन्तु पिताजी की खरीदी एक पुस्तक पर मेरी नज़र पड़ी 'श्रवण-पितृ-भक्ति नाटक'। इसे पढ़ने को दिल चाहा। वड़े अनुराग और चाव से मैंने उसे पढ़ा। इन्हीं दिनों शीशे में तसवीर दिखाने वाले लोग भी घर आया करते। उनमें मैंने यह दृश्य भी देखा कि श्रवण, अपने माता पिता को काँवर में विठा कर तीर्थयात्रा के लिए ले जा रहा है। दोनों वातों की गहरी छाप मेरे दिल पर पड़ी। मेरे मन में यह वात उठा करती कि मैं भी श्रवण की तरह वनूँ। श्रवण जव मरने लगा तो उस समय का उसके माता पिता का विलाप अव भी याद है। उस ललित छंद को मैं वाजे पर वजाया भी करता। वाजा सीखने का मुझे शौक था और पिताजी ने एक वाजा खरीद भी दिया था।

इसी अरसे में एक नाटक कम्पनी आई। और मुझे उसका नाटक देखने की इजाजत मिली। हरिश्चन्द्र का खेल किया गया। इस नाटक को देखते मैं अघाता न था। वार वार उसे देखने को मन हुआ करता, पर यों वार वार जाने कौन देने लगा? जो हो; अपने मन में मैंने इस नाटक को सैकड़ों वार खेला होगा। हरिश्चन्द्र के सपने आते। यही धुन लगी कि 'हरिश्चन्द्र की तरह सत्यवादी सव क्यों न हों?' यही धारणा होती कि हरिश्चन्द्र के जैसी विपत्तियाँ भोगना और सत्य का पालन करना ही सच्चा सत्य है। मैंने तो यही मान रक्खा था कि नाटक में जैसी विपत्तियां हरिश्चन्द्र पर पड़ी हैं, वैसी ही वास्तव में उस पर पड़ी होंगी। हरिश्चन्द्र के दुःखों को देख कर, उन्हें याद कर कर, मैं खूव रोया हूँ। आज मेरी वुद्धि कहती

है कि, संभव है, हरिश्चन्द्र कोई ऐतिहासिक व्यक्ति न हों। पर मेरे हृदय में तो हरिश्चन्द्र और श्रवण आज भी जीवित हैं। मैं मानता हूँ कि आज भी यदि मैं उन नाटकों को पढ़ूं तो आंसू आये बिना न रहें।

---

(३)

बाल-विवाह

जी चाहता है कि यह प्रकरण मुझे न लिखना पड़े तो अच्छा; परंतु इस कथा में मुझे ऐसी कितनी ही कड़वी घूंटें पीनी पड़ेंगी। सत्य के पुजारी होने का दावा करके मैं इससे कैसे बच सकता हूँ?

यह लिखते हुए मेरे हृदय को बड़ी व्यथा होती है कि १३ वर्ष की उम्र में मेरा विवाह हुआ। आज मैं अपनी आंखों के सामने १२-१३ वर्ष के बच्चों को देखता हूं और जब मुझे अपने विवाह का स्मरण हो आता है, तब मुझे अपने पर दया आने लगती है और उन बच्चों को इस बात के लिए बधाई देने की इच्छा होती है कि वे मेरी हालत से अब तक बचे हुए हैं। तेरह साल की उम्र में हुए मेरे विवाह के समर्थन में एक भी नैतिक दलील मेरे दिमाग में नहीं आ सकती।

पाठक यह न समझें कि मैं सगाई की बात लिख रहा हूँ। सगाई का तो अर्थ होता है दो लड़के लड़कियों के विवाह करने का इकरार, जिसे मां-बाप आपस में ही कर लेते हैं। सगाई टूट सकती है। सगाई हो जाने पर यदि लड़का मर जाय तो कन्या

विधवा नहीं हो सकती। सगाई के मामले में वर कन्या के पढ़ने का प्रयोजन नहीं होता। दोनों को खबर हुए बिना भी सगाई हो सकती है। मेरी एक एक करके तीन सगाइयां हुईं। मुझे कुछ भी पता नहीं कि ये सगाइयां कब हो गईं। मुझ से यह कहा गया कि एक एक कर के दो कन्यायें मर गईं, इसीसे मैं जानता हूँ कि मेरी तीन सगाइयां हुईं। कुछ ऐसा याद पड़ता है कि तीसरी सगाई सातेक साल की उम्र में हुई होगी। पर मुझे कुछ याद नहीं आता कि सगाई के समय मुझे उसकी खबर की गई हो। विवाह में वर कन्या की उपस्थिति की आवश्यकता होती है, उसमें धार्मिक विधि-विधान होते हैं। यहाँ मेरा लिखना इस विवाह के ही संबंध में है। विवाह का स्मरण मुझे पूरे तौर पर है।

पाठक जान गये हैं कि हम तीन भाई थे। सब से बड़े की शादी हो चुकी थी। मँझले भाई मुझ से दो-तीन वर्ष बड़े थे। मेरे पिताजी ने तीन विवाह एक साथ करने का निश्चय किया—एक तो मँझले भाई का, दूसरा मेरे चचेरे भाई का, जिनकी उम्र मुझसे शायद एकाध साल ज्यादह हो, और तीसरा मेरा। इसमें हमारे कल्याण की कोई बात न थी। हमारी इच्छा की तो बात ही क्या? यह तो केवल माता-पिता की सुविधा और खर्च-वर्च के खयाल का विषय था।

हिन्दू-संसार में विवाह कोई ऐसी-वैसी चीज नहीं। वर-कन्या के मां-बाप विवाह के पीछे बरबाद हो जाते हैं। धन भी लुटाते हैं और समय भी लुटाते हैं। महीनों पहले से तैयारियां होने लगती हैं, तरह तरह के कपड़े तैयार होते हैं, जेवर बनते हैं, जाति-भोजों का हिसाब लगाया जाता है, भोजन की चीजों की बाजियाँ सी

लगती हैं। स्त्रियां, सुर हो या वे-सुर, गीत गा गा कर अपनी आवाज बैठा लेती हैं, बीमार भी पड़ जाती हैं, और पडौसियों की शांति भंग करती हैं। पडौसी भी तो जब उनके यहां अवसर आता है तब ऐसा ही करते हैं इसलिए यह सारा शोरगुल तथा भोजों की जूठन आदि गंदगी सब चुप-चाप सहन करते हैं।

यह झञ्झट तीन बार अलग अलग करने के बजाय एक ही बार कर डालना क्या अच्छा नहीं? 'कम ख़र्च वाला नशीन' क्योंकि तीन विवाह एक साथ होने से ख़र्च भी खुले हाथ किया जा सकता था। पिताजी और चाचाजी वृद्ध थे। हम लोग थे उनके सब से छोटे लड़के। इसलिए हमारे विवाह संबन्धी अपनी लालसा को तृप्त करने का भाव भी था ही। इन कारणों से तीन विवाह एक साथ करने का निश्चय हुआ और उसके लिए, जैसा कि मैं लिख चुका हूँ, महीनों पहले तैयारियां होती रहीं और सामग्रियां जुटती रहीं।

हम भाइयों ने तो सिर्फ तैयारियों से ही जाना कि विवाह होने वाले हैं। मुझे तो इस समय इन मनसूबों के अलावा कि अच्छे अच्छे कपड़े पहनेंगे, बाजे बजते देखेंगे, तरह तरह की भोजन मिठाई मिलेगी, एक नई लड़की के साथ हँसी-खेल करेंगे, और किसी विशेष भाव का रहना याद नहीं आता। विषय-भोग करने का भाव तो पीछे से उत्पन्न हुआ। किस प्रकार सो तो मैं बता सकता हूँ; परन्तु इसकी जिज्ञासा पाठक न रक्खें। अपनी इस शर्म पर मैं परदा डालना चाहता हूँ। जो बातें जानने योग्य हैं वे सब आगे आ जायंगी, वे भी इसलिए कि जो मध्यबिंदु मैंने अपनी दृष्टि के सामने रक्खा है, उसका कुछ सम्बन्ध उनके ब्योरे के साथ है।

हम दो भाइयों को राजकोट से पोरबंदर ले गये, वहाँ हलदी लगाने इत्यादि जो विधियां हुईं वे यद्यपि रोचक हैं तथापि उनका वर्णन छोड़ देने लायक है।

पिताजी दीवान हुए तो क्या, थे तो नौकर ही। फिर राजप्रिय-इसलिए और भी पराधीन। ठाकुर साहब ने आख़िरी वक्त तक उन्हें जाने न दिया। फिर जब इजाजत दी तो दो दिन पहले, जब कि सवारी का जगह जगह इन्तजाम करना पड़ा। पर—! पर दैव ने कुछ और ही सोच रक्खा था। राजकोट से पोरबंदर ६० कोस है। बैलगाड़ी से ५ दिन का रास्ता था। पिताजी तीन दिन में आये। आखिरी मंजिल पर तांगा उलट गया। पिताजी को सख्त चोट आई। हाथ पांव और बदन में पट्टियाँ बांधे घर आये। हमारा और उनका विवाह का आनंद आधा रह गया। परन्तु विवाह तो हुए ही। मुहूर्त कहीं टल सकता था? मैं तो विवाह के बाल-उल्लास में पिताजी का दुःख भूल गया।

मैं पितृ-भक्त तो था ही, परन्तु विषय-भक्त भी उतना ही था। यहाँ विषय से मतलब इन्द्रियों के विषय से नहीं, बल्कि भोग-मात्र से है। यह होश तो अभी आना बाकी था कि माता-पिता की भक्ति के लिए सब सुख छोड़ देना चाहिए। ऐसा होते हुए भी मानों इस भोगेच्छा की सजा मुझे मिलनी हो, मेरी जिन्दगी में एक ऐसी दुर्घटना हुई, जो मुझे आज तक खलती है। जब जब निष्कुलानन्द की यह पंक्ति—

'त्याग न टके रे वैराग विना, करीये कोटि उपायजी'

गाता हूँ अथवा सुनता हूँ, तब तब यह दुर्घट और कटु प्रसंग मुझे याद आता है और शर्मिन्दा करता है।

पिताजी ने थप्पड़ मार कर मुँह लाल रक्खा। शरीर में चोट और पीड़ा के रहते हुए भी विवाह-कार्य में पूरा पूरा योग दिया। पिताजी किस अवसर पर कहाँ कहाँ बैठे थे, यह सब मुझे ज्यों का त्यों याद है। बाल-विवाह पर विचार करते हुए पिता के कार्य पर जो टीका-टिप्पणी आज मैं कर रहा हूँ, उसका स्वप्न भी उस समय न आया था। इस समय तो मुझे सब अच्छा और उचित ही मालूम होता था। विवाह की उत्सुकता थी और पिताजी जो कुछ करते थे सब ठीक ही जान पड़ता था। उस समय की स्मृति आज भी मेरे मन में ताजा है।

कैसे पाणि-ग्रहण हुआ, सप्तपदी में किस प्रकार वर-वधू साथ बैठे, किस तरह दोनों ने एक-दूसरे को कंसार* खिलाया, और किस प्रकार हम दोनों एक साथ रहने लगे इसका चित्र आज भी मेरी आँखों के सामने खड़ा हो जाता है। ओह, वह पहली रात! दो अबोध बालक बिना जाने, बिना समझे संसार-सागर में कूद पड़े! भाभी ने सिखाया कि पहली रात को मुझे कैसे बरतना चाहिए। यह याद नहीं पडता कि मैंने धर्म-पत्नी से यह पूछा हो कि उन्हें किसने सिखाया था। अब भी पूछा जा सकता है; पर अब तो इसकी इच्छा तक नहीं होती। पाठक इतना ही जान लें कि कुछ कुछ ऐसा याद पडता है कि हम दोनों एक-दूसरे से डरते थे। एक-दूसरे से शरमाते तो थे ही। मैं क्या जानता कि बातें कैसे करें, क्या क्या करें? सिखाई बातें भी कहाँ तक मदद कर

* कंसार गेहूं की लपसी जैसा पदार्थ होता है, जिसे विधि समाप्त होने पर वर-वधू खाते-खिलाते हैं। —अनुवादक

सकती हैं ? पर ऐसे मामलों में किसी के सिखाने की जरूरत नहीं रहती। जहाँ संस्कार प्रबल हैं, वहाँ सिखाना फजूल हो जाता है। धीरे धीरे परिचय बढ़ता गया—आजादी के साथ एक दूसरे से बोलने-बतलाने लगे। हम दोनों हम-उम्र थे। मैं शीघ्र पति-देव बन बैठा।

---

(४)

पतिदेव

जिन दिनों मेरा विवाह हुआ, छोटे छोटे निबन्ध—पैसे पैसे के या पाई पाई के सो याद नहीं पड़ता—छपा और बिका करते। इनमें दाम्पत्य प्रेम, मितव्ययता, बाल-विवाह, इत्यादि विषयों की चर्चा रहा करती। इनमें से कोई कोई निबन्ध मेरे हाथ पड़ता और उसे मैं पढ़ जाता। यह मेरी आदत थी कि जो बात अच्छी न लगती उसे भूल जाता, और जो अच्छी लगती उसके अनुसार आचरण करता। यह पढ़ा कि एक-पत्नी-व्रत का पालन करना पति का धर्म है और वह मेरे हृदय में अंकित हो गया। सत्य की लगन तो थी ही। इसलिए पत्नी को धोखा देने का भी अवसर न था। और यह भी समझ चुका था कि दूसरी स्त्री से सम्बन्ध जोड़ना पाप है। फिर कोमल वय में एक-पत्नी-व्रत के भंग होने का अवसर भी कम ही रहता है।

परन्तु इन सद्विचारों का एक बुरा परिणाम निकला। यदि मैं एक-पत्नी-व्रत का पालन करता हूँ, तो पत्नी को भी एक पति-व्रत का पालन करना चाहिए। इस विचार से मैं असहिष्णु-ईर्ष्यालु पति बन गया। 'पालन करना चाहिए' में से 'पालन करवाना चाहिए'

इस नतीजे पर जा पहुँचा। और यदि पालन करवाना हो तो फिर मुझे चौकीदारी करनी चाहिए। पत्नी की पवित्रता पर तो सन्देह करने का कोई कारण न था; परन्तु ईर्ष्या कहीं कारण देखने जाती है? 'मेरी पत्नी हमेशा कहाँ कहाँ जाती है, यह जानना मेरे लिए जरूरी है, मेरी इजाज़त लिए बग़ैर वह कहीं नहीं जा सकती।' यह बात मेरे और उसके बीच दुःखद झगड़े का मूल बन बैठी। बिना इजाज़त के कहीं न जा पाना तो एक तरह की कैद ही हो गई। परन्तु कस्तूर बाई ऐसी मिट्टी की न बनी थी जो ऐसी कैद को बरदाश्त करती। जहाँ जी चाहे, बिना मुझ से पूछे ज़रूर चली जातीं। ज्यों ज्यों मैं दबाता त्यों त्यों वह अधिक आजादी लेती, और त्यों ही त्यों मैं और चिढ़ता। इस कारण हम बालक-दम्पति में अबोला रहना एक मामूली बात हो गई। कस्तूर बाई जो आ-जादी लिया करतीं उसे मैं निर्दोष मानता हूँ। एक बालिका जिस के मन में कोई पाप नहीं है, देव-दर्शन को जाने के लिए अथवा किसी के यहाँ मिलने जाने के लिए क्यों ऐसा दबाव सहन करने लगी? यदि मैं उस पर दबाव रक्खूँ तो फिर वह मुझ पर क्यों न रक्खे?—पर यह बात तो अब समझ में आती है। उस समय तो मुझे पतिदेव की सत्ता सिद्ध करनी थी।

पर इससे पाठक यह न समझें कि हमारे इस गार्हस्थ्य-जीवन में कहीं मिठास थी ही नहीं। मेरी वक्रता का मूल था प्रेम। मैं अपनी पत्नी को आदर्श स्त्री बनाना चाहता था। एक-मात्र यही भाव रहता था कि पत्नी स्वच्छ हो, स्वच्छ रहे, मैं सीखूँ सो सीखे, मैं पढ़ूँ सो पढ़े और हम दोनों एक मन दो तन की तरह रहें।

मुझे खयाल नहीं पडता कि कस्तूर बाई के मन में यह भाव

रहा हो। वह निरक्षर थी। सरल-स्वभाव, स्वतंत्र और परिश्रमी थी, और मेरे साथ कम बोला करती। अपने अज्ञान पर उसे असंतोष न था। अपने बचपन में मैंने कभी उसकी ऐसी इच्छा नहीं देखी कि यह पढ़ते हैं, तो मैं भी पढ़ूँ। इससे मैं मानता हूँ कि मेरी भावना एकपक्षीय थी। मेरा विषय-सुख एक ही स्त्री पर अवलम्बित था और मैं उस सुख की प्रतिध्वनि चाहता था। प्रेम यदि एकपक्षीय भी हो तो वहाँ सर्वांश में दुःख नहीं हो सकता।

मुझे कहना चाहिए कि मैं—अपनी पत्नी से जहाँ तक सम्बन्ध है, विषयासक्त था। स्कूल में भी उसका ध्यान आता, और यह विचार मन में चला ही करता कि कब रात होगी, और कब हम मिलेंगे। वियोग असह्य था। कितनी ही ऊट-पटाँग बातें कह कर के मैं कस्तूर बाई को देर तक सोने न देता। इस आसक्ति के साथ ही यदि मुझ में कर्त्तव्य-परायणता न होती तो, मैं समझता हूँ, या तो किसी बुरी बीमारी में फंस कर अकाल ही काल-कवलित हो जाता अथवा अपने और दुनिया के लिए भारभूत हो कर वृथा जीवन व्यतीत करता होता। 'सुबह होते ही नित्यकर्म तो हर हालत में करने चाहिए, झूठ तो बोल नहीं सकते,' अपने इन विचारों के बदौलत मैं कई संकटों से बच गया हूँ।

मैं ऊपर कह गया हूँ कि कस्तूर बाई निरक्षर थी। उसे पढ़ाने की मुझे बड़ी चाह थी। पर मेरी विषय-वासना मुझे कैसे पढ़ाने देती? एक तो मुझे जबरदस्ती पढ़ाना था, फिर रात में ही मौका मिल सकता था। माता-पितादि के सामने तो पत्नी की तरफ देख तक नहीं सकते—बात करना तो दूर रहा! उस समय काठियावाड में घूँघट निकालने का निरर्थक और जंगली रिवाज था, आज भी

थोड़ा—वहुत बाकी है। इस कारण पढ़ाने के अवसर भी मेरे प्रतिकूल थे। इसलिए, मुझे स्वीकार करना चाहिए, कि युवावस्था में पढ़ाने की जितनी कोशिशें मैंने कीं वे सब प्रायः वेकाम गईं। और जब मैं विषय-निद्रा से जगा तब तो सार्वजनिक जीवन में पड़ चुका था। और, इस कारण, अधिक समय मेरे पास न रह गया था। शिक्षक रख कर पढ़ाने के मेरे यत्न भी विफल हुए। इसके फल-स्वरूप आज कस्तूर बाई मामूली गुजराती लिखने पढ़ने से अधिक साक्षर न हो पाई। यदि मेरा प्रेम विषय से दूषित न हुआ होता, तो मैं मानता हूँ कि आज वह विदुषी हो गई होती। उसके पढ़ने के आलस्य पर मैं विजय प्राप्त कर पाता। मैं जानता हूँ कि शुद्ध प्रेम के लिए दुनिया में कोई वात असंभव नहीं।

इस तरह अपनी पत्नी के साथ विषयरत रहते हुए भी मैं कैसे वहुत कुछ बच गया, इसका एक कारण मैंने ऊपर वताया। एक और वात उल्लेख करने योग्य है। सैकड़ों अनुभवों से मैंने यह निचोड़ निकाला है कि जिसकी निष्ठा सच्ची है, उसे खुद परमेश्वर ही बचा लेता है। हिन्दू संसार में जहाँ बाल—विवाह की घातक प्रथा है तहाँ, उसके साथ ही, उसमें से कुछ मुक्ति दिलाने वाला भी एक रिवाज है। बालक वर—वधू को मां-बाप वहुत समय तक एक साथ नहीं रहने देते। बाल-पत्नी का आधे से ज्यादह समय मायके में जाता है। हमारे साथ भी ऐसा ही हुआ। अर्थात् हम १३ और १८ साल की उम्र के दरम्यान थोड़ा थोड़ा कर के, तीन साल से अधिक साथ न रह सके होंगे। छः आठ महीने रहना हुआ नहीं कि पत्नी के मां-बाप का बुलौवा आया नहीं। उस समय तो वे बुलौवे बड़े नागवार मालूम होते। परन्तु

उन्हींके बदौलत हम दोनों बच गये। फिर १८ साल की अवस्था में मैं विलायत गया—खासे लम्बे और उम्दा वियोग का अवसर आया। विलायत से लौटने पर भी हम एक साथ तो छः महीने मुश्किल से रहे होंगे। क्योंकि मुझे राजकोट—बम्बई बार बार आना जाना पड़ता था। इतने ही में दक्षिण आफ्रिका का निमन्त्रण आ पहुँचा। इस बीच तो मैं बहुत-कुछ जागृत हो गया था।

---

(५)

हाईस्कूल में

मैं पहले लिख चुका हूँ कि जब मेरा विवाह हुआ तब मैं हाईस्कूल में पढ़ता था। उस समय हम तीनों भाई एक ही स्कूल में पढ़ते थे। बड़े भाई बहुत ऊपर के दरजे में थे और जिन भाई का विवाह मेरे साथ हुआ वे मुझ से एक दरजा आगे थे। विवाह का परिणाम यह हुआ कि हम दोनों भाइयों का एक साल बेकार गया। मेरे भाई को तो और भी बुरा परिणाम भोगना पड़ा। विवाह के पश्चात् वे विद्यालय में रही न सके। परमात्मा जानते हैं, कितने नवयुवकों को ऐसे अनिष्ट परिणाम भोगने पड़ते हैं। विद्याध्ययन और विवाह, ये दोनों बातें, हिन्दू-समाज में ही एक-साथ हो सकती हैं।

मेरा अध्ययन चलता रहा। हाईस्कूल में मैं गदाई नहीं माना जाता था। शिक्षकों का प्रेम-संपादन हमेशा करता रहता। हर साल माँ-बाप को विद्यार्थी की पढ़ाई तथा चाल-चलन के संबंध में प्रमाण पत्र भेजे जाते। उसमें किसी दिन मेरी पढ़ाई या चाल चलन की शिकायत नहीं गई। दूसरे दरजे के बाद तो इनाम भी पाये और पांचवें तथा छठे दरजे में तो क्रमशः ४) और १०)

मासिक की छात्रवृत्तियाँ भी मिली थीं। छात्रवृत्ति मिलने में मेरी योग्यता की अपेक्षा तकदीर ने ज्यादह मदद की। ये छात्रवृत्तियाँ सब लड़कों के लिए न थीं, सोरठ प्रांत के लड़कों में प्रथम आने वाले के लिए थीं, और उस समय चालीस पचास विद्यार्थियों की कक्षा में सोरठ प्रांत के विद्यार्थी बहुत नहीं हो सकते थे।

अपनी तरफ से तो मुझे यह याद पड़ता है कि मुझे अपनी योग्यता के सम्बन्ध में ऊँचा खयाल न था। इनाम अथवा छात्र-वृत्ति मिलती तो मुझे आश्चर्य होता; परन्तु अपने आचरण का मुझे बड़ा ख़याल रहता था। सदाचार में यदि चूक होती तो मुझे रोना आ जाता। यदि मुझ से कोई ऐसा काम बन पड़ता कि जिसके लिए शिक्षक को उलहना देना पड़े अथवा उसका ऐसा ख्याल भी हो जाय तो यह मेरे लिए असह्य हो जाता। मुझे याद है कि एक बार मैं पिटा भी था। मुझे इस बात पर तो दुःख न हुआ कि पिटा; परन्तु इस बात पर महादुःख हुआ कि मैं दण्ड का पात्र समझा गया। मैं फूट फूट कर रोया। यह घटना पहली अथवा दूसरी कक्षा की है। दूसरी घटना सातवीं कक्षा की है। उस समय दोराबजी एदलजी गीमी हेड मास्टर थे, वे विद्यार्थि-प्रिय थे। क्योंकि वे नियमों का पालन करवाते, विधि-पूर्वक काम करते और काम लेते तथा पढ़ाई अच्छी करते। उन्होंने ऊँचे दरजे के विद्यार्थियों के लिए कसरत—क्रिकेट लाज़िमी कर दी थी। मेरा मन उसमें न लगता था। लाज़िमी होने के पहले तो मैं कसरत—क्रिकेट या फुटबाल में कभी न जाता था। न जाने में मेरा झेंपूपन भी एक कारण था। अब मैं देखता हूँ कि कसरत की यह अरुचि मेरी भूल थी। उस समय मेरे ऐसे गलत विचार थे

कि कसरत का शिक्षा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। पीछे जाकर मैं समझा कि व्यायाम अर्थात् शारीरिक शिक्षा के लिए भी विद्याध्ययन में उतना ही स्थान होना चाहिए जितना कि मानसिक शिक्षा को है।

फिर भी मुझे कहना चाहिए कि कसरत में न जाने से मुझे कोई नुकसान न हुआ। इसका कारण है। पुस्तकों में मैंने पढ़ा था कि खुली हवा में घूमना अच्छा होता है। यह मुझे पसन्द आया और तभी से घूमने जाने की आदत मुझे पड़ गई थी, वह अब तक है। घूमना भी एक प्रकार का व्यायाम है और इस कारण मेरा शरीर थोड़ा-बहुत सुगठित हो गया।

अरुचि का दूसरा कारण था पिताजी की सेवा-शुश्रूषा करने की तीव्र इच्छा। स्कूल बन्द होते ही तुरन्त घर पहुँच कर उनकी सेवा में जुट जाता। जब कसरत लाज़िमी कर दी गई तब इस सेवा में विघ्न उपस्थित होने लगा। मैंने अनुरोध किया कि पिताजी की सेवा करने के लिए कसरत से माफी मिलनी चाहिए; परन्तु गीमी साहब क्यों कर माफी देने लगे ? एक शनिवार को सुबह का स्कूल था। शाम को ४ बजे कसरत में जाना था। मेरे पास घड़ी न थी। आकाश में बादल छा रहे थे, इस कारण समय का पता न रहा। बादलों से मुझे धोखा हुआ। जब तक कसरत में पहुंचता हूं तब तक तो सब लोग चले गये थे। दूसरे दिन गीमी साहब ने हाज़री देखी तो मैं ग़ैरहाज़िर पाया गया। मुझ से कारण पूछा। कारण तो जो था सो ही मैंने बतलाया। उन्होंने उसे सच न माना और मुझ पर एक या दो आना (ठीक याद नहीं कितना) जुर्माना हो गया। मैं झूठा समझा गया। मुझे इस

बात से अत्यन्त दुःख हुआ। मैं यह कैसे साबित करता कि मैं झूंठ नहीं बोला। कोई उपाय न रहा। मन मसोस कर रह गया। रोया। समझा कि सच बोलने वाले और सच करने वाले को गाफिल भी न रहना चाहिए। अपनी पढ़ाई के दरम्यान ऐसी गफलत यह पहली और आखिरी थी। मुझे कुछ कुछ स्मरण है कि अन्त को मैं वह जुर्माना माफ़ करा पाया था।

अन्त को कसरत से छुट्टी मिली ही। पिताजी की चिट्ठी जब हेडमास्टर को मिली कि मैं अपनी सेवा-शुश्रूषा के लिए स्कूल के बाद इसे अपने पास चाहता हूं तब उससे छुटकारा मिला।

व्यायाम की जगह मैंने घूमना जारी रक्खा। इस कारण शरीर से मेहनत न लेने की भूल के लिए शायद मुझे सज़ा न भोगनी पड़ी हो; परन्तु एक दूसरी भूल की सज़ा मैं आज तक पा रहा हूँ। पढ़ाई में ख़ुशख़त होने की जरूरत नहीं, यह कु-बुद्धि मेरे मन में न जाने कहाँ से आ गई थी, जो ठेठ विलायत जाने तक रही। फिर, और खास कर दक्षिण आफ्रिका में, जहां वकीलों के और दक्षिण आफ्रिका में जन्मे और पढ़े नवयुवकों के अक्षर मोती के दाने की तरह देखे, तब तो मैं लजाया और पछताया। मैंने देखा कि ख़त का ख़राब होना अधूरी शिक्षा की निशानी है। मैंने पीछे से अपना ख़त सुधारने की कोशिश की; परन्तु पक्के घड़े पर कहीं मिट्टी चढ़ सकती है? जिस बात की अवहेलना मैंने जवानी में की उसे मैं आज तक नहीं कर सका। हरएक नवयुवक और युवती मेरे उदाहरण को देखकर चेते और समझे कि अच्छा ख़त विद्या का आवश्यक अंग है। ख़त सुधार ने के लिए लेखन-कला आवश्यक है। मैं तो यह राय बना रहा

हूं कि बालकों को आलेखन-कला पहले सिखानी चाहिए। जिस प्रकार पत्तियों और वस्तुओं आदि को देख कर बालक उन्हें याद रखता और आसानी से पहचान लेता है उसी प्रकार अक्षरों को भी पहचानने लगता है और जब आ-लेखन-कला सीख कर चित्र इत्यादि निकालना सीख जाता है तब यदि अक्षर लिखना सीखे तो उसके अक्षर छापे की तरह हो जावें।

इस समय के मेरे विद्यार्थि-जीवन की दो बातें उल्लेख करने योग्य हैं। विवाह के बदौलत जो मेरा एक साल टूट गया था उसकी कसर दूसरी कक्षा में पूरी कराने की प्रेरणा मास्टर साहब ने की। परिश्रमी विद्यार्थियों को ऐसा करने की इजाज़त उन दिनों तो मिलती थी। अतएव मैं छः महीने तीसरे दरजे में रहा और गर्मियों की छुट्टी के पहले वाली परीक्षा के बाद में चौथे दरजे में ले लिया गया। इस कक्षा से कुछ विषयों की शिक्षा अंगरेजी में दी जाती है। अंगरेजी में कुछ न समझ पाता। भूमिति, रेखा गणित भी चौथे दरजे से शुरू होता है। एक तो मैं उसमें पीछे था, और फिर समझ में भी कुछ न आता था। भूमिति, शिक्षक समझाते अच्छे थे। पर मेरी कुछ समझ में ही न आता था। मैं बहुत बार निराश हो जाता। कभी कभी यह भी दिल में आता कि दो दरजों की पढ़ाई एक साथ करने से तो अच्छा हो कि मैं तीसरी कक्षा में ही फिर चला जाऊं। पर ऐसा करने से मेरी बात बिगड़ती और जिस शिक्षक ने मेरी मिहनत पर विश्वास रख कर दरजा चढ़ाने की सिफारिश की थी उनकी भी बात बिगड़ती। इस भय से नीचे उतरने का विचार तो बंद ही रखना पड़ा। परिश्रम करते करते जब युक्लिड के तेरहवें प्रमेय तक पहुँचा तब मुझे

एकाएक लगा कि भूमिति तो सब से सहज विषय है। जिस बात में केवल बुद्धि का सीधा और सरल उपयोग करना है, उसमें मुश्किल क्या है ? उसके बाद से भूमिति मेरे लिए एक सहज और सरल विषय हो गया।

संस्कृत मुझे रेखागणित से भी अधिक मुश्किल मालूम पड़ी। रेखागणित में तो रटने की कोई बात न थी; परन्तु संस्कृत में, मेरी दृष्टि से, सब रटना ही रटना था। यह विषय भी चौथी कक्षा से शुरू होता था। छठी कक्षा में जा कर तो मेरा दिल बैठ गया। संस्कृत-शिक्षक बड़े सख्त आदमी थे। विद्यार्थियों को बहुतेरा पढ़ा देने का लोभ उन्हें रहा करता। संस्कृत-वर्ग और फारसी-वर्ग में एक प्रकार की प्रतिस्पर्धा रहती। फारसी के मौलवी साहब नरम आदमी थे। विद्यार्थी लोग आपस में बातें करते कि फारसी बड़ी सरल है, और मौलवी साहब भी भले आदमी हैं। विद्यार्थी जितना याद करता है, उतने ही पर वे निभा लेते हैं। सहज होने की बात से मैं भी ललचाया और एक दिन फारसी के दर्जे में जा कर बैठा ! संस्कृत-शिक्षक को इससे दुःख हुआ। उन्होंने मुझे बुलाया। 'यह तो सोचो कि तुम किसके लड़के हो ? अपने धर्म की भाषा तुम नहीं पढ़ना चाहते ? तुम को जो कठिनाई हो सो मुझे बताओ। मैं तो समस्त विद्यार्थियों को अच्छी संस्कृत पढ़ाना चाहता हूँ। आगे चल कर तो उसमें रस की घूँटें पीने को मिलेंगी। तुम को इस तरह निराश न होना चाहिए। तुम फिर मेरी कक्षा में आकर बैठो।' मैं शरमिन्दा हुआ। शिक्षक के प्रेम की अवहेलना न कर सका। आज मेरी आत्मा कृष्णाशंकर मास्टर का उपकार मानती है, क्योंकि जितनी संस्कृत मैंने उस समय पढ़ी

थी, यदि उतनी भी न पढ़ा होता तो आज मैं जो संस्कृत शास्त्रों का आनन्द ले रहा हूँ वह न ले पाता। बल्कि मुझे तो इस बात का पश्चात्ताप रहता है कि मैं अधिक संस्कृत न पढ़ सका। क्योंकि आगे चल कर मैंने समझा कि किसी भी हिन्दू बालक को संस्कृत का अच्छा अध्ययन किये बिना न रहना चाहिए।

अब तो मैं यह मानता हूँ कि भारतवर्ष के उच्च शिक्षण-क्रम में मातृभाषा के उपरांत राष्ट्र-भाषा हिन्दी, संस्कृत, फारसी, अरबी और अंगरेजी के लिए स्थान होना चाहिए। इतनी भाषाओं की गिन्ती से किसी को डर जाने का कारण नहीं; यदि विधि-पूर्वक भाषायें पढ़ाई जायँ और सब विषयों का अध्ययन अंगरेजी के द्वारा कराने का बोझ हम पर न हो तो पूर्वोक्त भाषायें भार-रूप न मालूम हों—बल्कि उनमें बड़ा रस आने लगे। फिर जो एक भाषा को शास्त्रीय विधि से सीख लेता है उसे दूसरी भाषाओं का ज्ञान सुगमता से हो जाता है। सच पूछिए तो हिन्दी, गुजराती, संस्कृत इन्हें एक भाषा मान सकते हैं। यही बात फारसी और अरबी के लिए कह सकते हैं। फारसी यद्यपि संस्कृत के जैसी है, और अरबी हिब्रू के जैसी, तथापि दोनों भाषायें इस्लाम के प्रादुर्भाव के पश्चात् फली-फूली हैं। इसलिए दोनों में निकट सम्बन्ध है। उर्दू को मैंने पृथक् भाषा नहीं माना, क्योंकि उसके व्याकरण का समावेश हिंदी में होता है। उसके शब्द तो फारसी और अरबी ही हैं। ऊँचे दरजे की उर्दू जानने वाले के लिए अरबी और फारसी जानना आवश्यक होता है, जैसा कि उच्च कोटि की गुजराती, हिंदी बंगला, मराठी जानने वाले के लिए संस्कृत जानना जरूरी है।

(६)

दुःखद प्रसंग—१

मैं पहले कह गया हूँ कि हाईस्कूल में मेरी बहुत कम लोगों से अभिन्न मित्रता थी। घनिष्ठ मित्र तो मेरे दो ही थे, सो भी जुदा जुदा समय पर। एक की मित्रता अधिक समय तक न निभी, हालां कि मैंने अपनी तरफ से उसे नहीं तोड़ा। दूसरे से मित्रता की, इसलिए पहले मित्र ने मेरा साथ छोड़ दिया। यह दूसरी मित्रता मेरे जीवन का दुःखद प्रकरण है। यह मित्रता बहुत दिन तक चली। इसमें मेरी दृष्टि सुधारक की थी। उस व्यक्ति की मित्रता पहले मेरे मँझले भाई के साथ थी। वह मेरे भाई का सहपाठी था। मैं उसके कई ऐबों को जानता था। परन्तु मैंने उसे वफादार साथी मान लिया। मेरी माताजी, बड़े भाई और धर्म-पत्नी तीनों को उसकी सोहबत बुरी मालूम पड़ती। पत्नी की चेतावनी पर तो मैं, अभिमानी पति, क्यों ध्यान देने लगा? हाँ, माता के वचन को तोड़ना मेरे लिए कठिन था। बड़े भाई की बात भी मैं सुन लेता। परन्तु मैंने उन्हें यों समझाया—'आप जो उसकी बुराइयाँ बताते हैं, उन्हें तो मैं जानता हूँ। पर उसके गुणों को आप नहीं जानते। मुझे वह खराब रास्ते नहीं ले

जा सकता; क्योंकि मैंने उसके साथ जो सम्बन्ध बांधा है, वह केवल उसे सुधारने के लिए वांधा है। मुझे विश्वास है कि यदि वह सुधर गया तो बड़ा अच्छा आदमी साबित होगा। मैं चाहता हूँ कि आप मेरे विषय में बिल्कुल निःशंक रहें।' मैं नहीं समझता कि इस बात से उन्हें संतोष हुआ हो; पर इतना जरूर हुआ कि उन्होंने मुझ पर विश्वास रक्खा और मुझे अपने रास्ते जाने दिया।

पीछे जाकर मैंने देखा कि मेरा अनुमान ठीक न था। सुधार करने के लिए भी मनुष्य को गहरे पानी में न पैठना चाहिए। जिनका सुधार हमें करना हो उनके साथ मित्रता नहीं हो सकती। मित्रता में अद्वैत-भाव होता है। ऐसी मित्रता संसार में बहुत थोड़ी देखी जाती है। समान गुण और शील वालों में ही मित्रता शोभती और निभती है। मित्र एक दूसरे पर अपना असर छोड़े बिना नहीं रह सकते। इस कारण मित्रता में सुधार के लिए बहुत कम गुंजाइश होती है। मेरा मत यह है कि अभिन्न मित्रता अनिष्ट है; क्योंकि मनुष्य दोष को झट ग्रहण कर लेता है। गुण ग्रहण करने के लिए प्रयास की जरूरत है। जिसे आत्मा की, ईश्वर की मित्रता की जरूरत है उसे एकाकी ही रहना उचित है, या फिर, सारे जगत् के साथ मित्रता करनी उचित है। ये विचार चाहें उचित हों वा अनुचित; परन्तु मेरा अभिन्न मित्रता जोडने और बढ़ाने का प्रयत्न विफल साबित हुआ।

जिन दिनों इन महाशय से मेरा संपर्क हुआ, राज-कोट में 'सुधार' की लहर ऊँची उठ रही थी। इन मित्र ने खबर दी कि बहुतेरे हिन्दू शिक्षक छुपे-छुपे मांसाहार और मद्यपान करते हैं। राजकोट के दूसरे प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम भी उसने लिये। हाई

स्कूल के कितने ही विद्यार्थियों के नाम भी मेरे पास आये। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ और साथ ही दुःख भी। जब मैंने कारण पूछा तो यह बताया गया—'हम मांस नहीं खाते इसलिए कमज़ोर हो गये हैं। अंगरेज जो हम पर हुकूमत कर रहे हैं, इसका कारण है उनका मांसाहार। तुम जानते ही हो, मैं कितना हट्टा-कट्टा और मज़बूत हूँ और कितना दौड़ सकता हूँ। इसका कारण मेरा मांसाहार ही है। मांसाहारी को फोड़े-फुनसी नहीं होते, हों भी तो जल्दी अच्छे हो जाते हैं। हमारे शिक्षक मांस खाते हैं, इतने भले भले आदमी खाते हैं, सो क्या बिना सोचे समझे ही ? तुमको भी खाना चाहिए। खाकर तो देखो कि तुम्हारे बदन में कितनी ताकत आ जाती है।'

ये दलीलें एक ही दिन में नहीं पेश हुईं। अनेक उदाहरणों से सजा कर ये कई बार पेश की गईं। मेरे मँझले भाई तो उनके जाल में फँस ही चुके थे। उन्होंने भी इस बात का समर्थन किया। इन मित्र और अपने भाई के मुकाबले में मैं दुबला-पतला और कमज़ोर था। उनके शरीर ज्यादह सुगठित थे। उनका शरीर-बल मुझ से बहुत ज्यादह था। वे निर्भय थे। इन मित्र के पराक्रम मुझे मुग्ध कर लेते। वे जितना चाहे दौड़ सकते। गति भी बहुत तेज थी। बहुत लम्बा और ऊँचा कूद सकते थे। मार सहने की शक्ति भी वैसी ही थी। इस शक्ति का प्रदर्शन भी वे समय समय पर करते। अपने अन्दर जो सामर्थ्य नहीं होता उसे दूसरे में देखकर मनुष्य को आश्चर्य होता ही है। वैसा ही मुझे हुआ। आश्चर्य से मोह पैदा हुआ। मुझमें दौड़ने-कूदने की शक्ति नहीं के बराबर थी। इन मित्र के समान बलवान् मैं भी क्यों न बनूँ ?

फिर मैं बड़ा डरपोक भी था। चोर, भूत, सांपादि के भय से सदा घिरा हुआ रहता। इन भयों से मुझे कष्ट भी बहुत होता। रात में कहीं अकेला जाने की हिम्मत न होती। अंधेरे में तो कहीं न जाता। बिना चिराग़ के सोना प्रायः असम्भव था। कहीं यहाँ से भूत-पिशाच निकल कर न आ जायँ, वहाँ से चोर और अन्यत्र से सांप न आ घुसे! इसलिए रोशनी जरूर चाहिए। और मैं अपनी पत्नी के सामने भी, जो कि पास ही सोती और अब कुछ-कुछ युवती हो चली थी, यह भय की बातें कैसे करता? मैं इतना जान चुका था कि वह मुझ से अधिक हिम्मत वाली है, और इस कारण मैं शरमाता था। उसे साँप वगैरा का भय तो कहीं छू तक न गया था। अँधेरे में अकेली चली जाती। मेरी इन कमजोरियों का हाल उन मित्र को मालूम था। वह तो मुझ से कहा करता कि मैं जीते साँपों को हाथ से पकड़ लेता हूँ। चोर से तो वह डरता ही न था। भूत-प्रेत को मानता ही न था। उसने यह बात मन में जमा दी कि यह सब मांसाहार का प्रताप है।

इन दिनों नर्मद कवि की यह कविता स्कूल में गाई जाती—

अंग्रेजो राज करे, देशी रहे दबाई,
देशी रहे दबाई, जो ने बेनां शरीर भाई
पेलो पांच हाथ पूरो, पूरो मांस सेवे ※।

इन सब का मेरे दिल पर पूरा पूरा असर हुआ। मैं राजा

※ भाव यह है कि अंगरेज इसी कारण हट्टे कट्टे हैं और हम पर राज करते हैं कि वे मांस खाते हैं, और हिन्दुस्तानी इसीलिए मुर्दा बने हुए हैं कि वे मांसाहार नहीं करते। —अनु०

हुआ। मैं मानने लगा कि मांसाहार अच्छी चीज है। उससे मैं बलवान् और निर्भय बनूंगा, सारा देश यदि मांस खाने लगे तो अंगरेजों को हरा सकता है।

मांसाहार के आरम्भ का दिन निश्चित हुआ।

इस निश्चय—इस आरम्भ—का अर्थ सब पाठक न समझ सकेंगे। गांधी-परिवार वैष्णव-संप्रदाय का अनुयायी था। माता-पिता कट्टर वैष्णव माने जाते। हवेली में हमेशा जाते। कितने ही मन्दिर तो हमारे कुटुम्ब के ही गिने जाते। फिर गुजरात में जैन-सम्प्रदाय का भी बहुत जोर था। उसका असर हर जगह और हर काम में देखा जाता था। इसलिए मांसाहार के प्रति जो विरोध, जो तिरस्कार गुजरात में और श्रावकों तथा वैष्णवों में दिखाई पड़ता है, वह हिन्दुस्तान में, या सारी दुनिया में कहीं नहीं दिखाई पड़ता। ये थे मेरे संस्कार।

माता-पिता का मैं परम भक्त ठहरा। मैं मानता था कि यदि उन्हें मेरे मांसाहार का पता लग जायगा तो वे तो बे-मौत के प्राण छोड़ देंगे। जान-अनजान में सत्य का भी सेवक तो मैं था ही। यह नहीं कह सकता कि यह ज्ञान मुझे उस समय नहीं था कि यदि मांस खाने लगा तो माता-पिता के सामने झूठ बोलना पड़ेगा।

ऐसी स्थिति में मेरा माँस खाने का निश्चय, मेरे लिए बड़ी गम्भीर और भयंकर बात थी।

परन्तु मैं तो सुधार करना चाहता था। मांस शौक के लिए नहीं खाना चाहता था, स्वाद के लिए मांसाहार का श्रीगणेश नहीं करना था। मैं तो बलवान्, निर्भय, साहसी, होना चाहता था,

दूसरों को ऐसा बनने की प्रेरणा करना चाहता था, और फिर अंगरेज़ों को हरा कर भारतवर्ष को स्वतंत्र करना चाहता था। 'स्वराज्य' शब्द उस समय नहीं सुना था। इस सुधार की उमंग में मेरी अक़्ल गुम हो गई।

---

(७)

दुःखद प्रसंग--२

नियत दिन आया। मेरी दशा का हू बहू वर्णन करना कठिन है। एक ओर सुधार का उत्साह, जीवन में महत्व पूर्ण परिवर्तन करने का आश्चर्य, और दूसरी ओर चोर की तरह लुक छिप कर काम करने की शरम—नहीं कह सकता इन में किस भाव की प्रधानता थी। हम एकान्त जगह की तलाश में नदी की तरफ चले। दूर जा कर एक ऐसी जगह मिली जहां कोई सहसा न देख सके, और वहां मैंने जीवन में पहिली बार पका हुआ मांस देखा! साथ में भटियारे के यहां की डबल रोटी भी थी। दो में से कोई भी चीज़ न भाई। मांस चमड़े की तरह लगा। खाना असम्भव हो गया। मुझे क़ै सी होने लगी। खाना यों ही छोड़ना पड़ा।

मेरे लिए यह रात बहुत भारी हुई। नींद किसी तरह न आती। ऐसा मालूम होता मानों बकरा मेरे शरीर के अन्दर जीवित है और सपने में मानों वह बें बें चिल्लाता है। मैं चौंक उठता, पछताता और फिर सोचता कि मांसाहार के बिना तो गति ही नहीं, हिम्मत न हारनी चाहिए। मित्र भी पिंड छोड़ने वाले

न थे। उन्होंने अन्न मांस को तरह तरह से पकाना और सुस्वादु बनाना तथा ढांक कर रखना शुरू किया। नदी किनारे ले जाने के बजाय राज्य के एक भवन में वहां के बवर्ची से इन्तजाम करके, छुपे छुपे जाने की तजवीज की; और वहां मेज, कुर्सी इत्यादि सामग्रियों के ठाठ-बाट में मुझे लुभाया। इसका अभीष्ट असर मेरे दिल पर हुआ। डबल रोटी के प्रति तिरस्कार कम हुआ, बकरों की ममता छूटी और मांस का तो नहीं कह सकता, पर मांस वाले पदार्थों का स्वाद लग गया। इस तरह एक साल गया होगा; और इस बीच पांच छः बार मांस खाने को मिला होगा। क्योंकि एक तो हमेशा राज्य का भवन न मिलता, और दूसरे मांस के सुस्वादु पदार्थ भी हमेशा तैयार न हो पाते। फिर ऐसे भोजनों के लिए खर्च भी करना पड़ता। मेरे पास तो कानी कौड़ी भी न थी। मैं देता क्या? खर्च का इन्तज़ाम सोचना उस मित्र के जिम्मे रहा। मुझे आज तक खबर नहीं कि उसने क्या इन्तज़ाम किया था। उसका इरादा तो था मुझे मांस की चाट लगा देना, मुझे भ्रष्ट कर देना। इसलिए खर्च का भार खुद ही उठाता। पर उसके पास अखूट खजाना तो था नहीं, इस कारण ऐसे भोज़नों का अवसर कभी कभी ही आता।

जब जब ऐसे भोजनों में शरीक होता तब तब घर खाना न खाया जाता। जब माता खाने को बुलाती तो बहाना करना पड़ता आज भूख नहीं, खाना पचा नहीं। जब जब ये बहाने बनाने पड़ते तब तब मेरे दिल को सख्त चोट पहुंचती। इतनी झूठ बात, फिर माँ के सामने! फिर यदि माँ-बाप जान जाँय कि लड़के मांस खाने लग गये हैं, तब तो उन पर बिजली ही टूट पड़ेगी। ये

विचार मेरे हृदय को हरदम नोचते रहते। इस कारण मैंने निश्चय किया 'हाँ, मांस खाना आवश्यक है, उसका प्रचार करके हिन्दुस्थान को सुधारना भी आवश्यक है, पर माता-पिता को धोखा देना और झूठ बोलना यह मांस न खाने से भी ज्यादा बुरा है। इसलिए माता-पिता के जीते जी मांस न खाना चाहिए। उनकी मृत्यु के बाद, स्वतन्त्र हो जाने पर, खुल्लम खुल्ला खाना चाहिए; और जब तक वह समय न आवे तब तक मांस के रास्ते न जाना चाहिए'। यह निश्चय मैंने अपने मित्र पर प्रकट कर दिया और उस दिन से जो मांसाहार छूटा सो छूटा ही। माता-पिता ने कभी न जाना कि उनके दो पुत्र मांसाहार कर चुके हैं।

माता-पिता को धोखा न देने के शुभ विचार से मैंने मांसाहार छोड़ा, परन्तु उन मित्र की मित्रता न छोड़ी। मैं जो दूसरों को सुधारने के लिए आगे बढ़ा था सो खुद ही बिगड़ गया और बिगड़ जाने का भान तक न रहा।

उसीकी मित्रता के कारण मैं व्यभिचार में भी फँस जाता, परन्तु बाल बाल बच गया। एक बार यह महाशय मुझे चकले में ले गये। वहां एक बाई के मकान में ज़रूरी बातें समझा कर, भेजा। पैसे देना-दिवाना मुझे कुछ न था। वह पहले ही हो चुका था। मेरे लिए तो सिर्फ पापाचार करना बाकी था।

मैं मकान में दाखिल तो हुआ, पर ईश्वर जिसे बचाना चाहता है वह गिरने की इच्छा करते हुए भी बच जाता है। उस कमरे में जाकर मैं तो मानों अन्धा और गूंगा बन गया। कुछ बोलने का ही औसान न रहा। मारे शरम के गूंगा बन कर उस बाई की खटिया पर बैठ गया। एक लफ्ज तक ज़बान से न निकला। बाई

झल्लाई और मुझे दो चार बुरी भली सुना कर सीधा दर्वाजे का रास्ता दिखलाया।

इस समय तो मेरे मन में लगा, मानों यह मेरी मर्दानगी को लांछन लग गया, और धरती फट जाय तो उसमें समा जाऊँ। परन्तु बाद को इससे मुझे उबार लेने पर मैंने ईश्वर का सदा उपकार माना है। मेरे जीवन में ऐसे ही दो चार प्रसंग और आये हैं। बहुतों में मैं बिना प्रयत्न के, दैव-योग से, बच गया हूँ। विशुद्ध और सूक्ष्म दृष्टि से तो मैं गिर ही चुका था; क्योंकि विषय की इच्छा करते ही मैं उसका भोग तो कर चुका। फिर भी लौकिक दृष्टि से हम उस आदमी को बचा हुआ ही मानते हैं जो इच्छा करते हुए भी प्रत्यक्ष कर्म से बच जाता है। और मैं इन अवसरों पर इसी तरह, इतने ही अंश तक, बचा हुआ समझा जा सकता हूँ। फिर कितने ही काम ऐसे हैं, जिनके करने से बचना व्यक्ति के तथा उसके सम्पर्क में आने वालों के लिए बहुत लाभदायक साबित होता है। और जब विचार-शुद्धि हो जाती है तब उस कर्म से बच जाने को वह ईश्वर का अनुग्रह मानता है। जिस प्रकार हम यह अनुभव करते हैं कि न गिरने का यत्न करते हुए भी मनुष्य गिर ही जाता है, उसी प्रकार पतन की इच्छा हो जाने पर भी अनेक संयोगों के कारण मनुष्य बच जाता है। इसमें कहाँ पुरुषार्थ के लिए स्थान है, कहाँ दैव के लिए अथवा किन नियमों के वशवर्त्ती हो कर मनुष्य गिरता है, या बचता है, ये प्रश्न गूढ़ हैं। ये आज तक हल नहीं हो सके हैं और यह कहना कठिन है कि अन्तिम निर्णय हो सकेगा या नहीं। पर हम आगे चलें।

मुझे अब तक इस बात का भान न हुआ कि इस मित्र की

मित्रता अनिष्ट है। अभी और कड़ुवे अनुभव होना बाकी थे। यह तो मुझे तभी मालूम हुआ जब मैंने उसके ऐसे दोषों का प्रत्यक्ष अनुभव किया, जिसकी मुझे कभी कल्पना तक न हुई थी। पर मैं, जहाँ तक हो, समयानुक्रम से अपने अनुभव लिख रहा हूँ, इसलिए वे बातें आगे आवेंगी।

एक बात इसी समय की है, वह कहनी पड़ेगी। हम दम्पती में जो कितनी ही बार मतभेद और मनमुटाव हो जाया करता, उसका कारण यह मित्रता भी थी। मैं पहले कह चुका हूँ कि मैं जैसा प्रेमी था वैसा ही वहमी पति भी था। यह मित्रता मेरे वहम को बढ़ाती रहती थी; क्योंकि मित्र की सचाई पर मुझे अविश्वास बिलकुल न था। इस मित्र की बातें मान कर मैंने अपनी धर्म-पत्नी को कई बार दुःख दिया है। इस हिंसा के लिए मैंने कभी अपने को माफ नहीं किया। हिन्दू-स्त्री ही ऐसे दुःखों को सहन कर सकती होगी। और इसीलिए मैंने स्त्री को हमेशा सहनशीलता की मूर्त्ति माना है। नौकर-चाकर पर यदि झूठा वहम आने लगे तो वे नौकरी छोड़कर चले जाते हैं, पुत्र पर ऐसी बीते तो बाप का घर छोड़ कर चला जाता है, मित्रों में वहम पड़ जाय तो मित्रता टूट जाती है, पत्नी को यदि पति पर शक हो तो बेचारी मन मसोस कर रह जाती है; पर यदि पति के मन में पत्नी के लिए शक पड़ जाय तो बेचारी को भोग भोगे ही छुटकारा। वह कहाँ जाय? उच्च वर्ण की हिन्दू स्त्री अदालत में जा कर तलाक भी नहीं दे सकती। ऐसा एक-पक्षी न्याय उसके लिए रक्खा गया है। यही न्याय मैंने उसके साथ बरता, इस दुःख को मैं कभी नहीं भूल सकता। इस वहम का सर्वथा नाश तो तभी हुआ जब

मुझे अहिंसा का सूक्ष्म ज्ञान हुआ। अर्थात् जब मैं ब्रह्मचर्य की महिमा को समझा और समझा कि पत्नी पति की दासी नहीं, वरन् सहचारिणी है, सहधर्मिणी है, दोनों एक दूसरे के सुख-दुःख के समान भागी हैं और और पति को अच्छा-बुरा करने की जितनी स्वतन्त्रता है उतनी ही पत्नी को भी है। इस वहम के समय की जब याद आती हैं तब मुझे अपनी मूर्खता और विषयांध निर्दयता पर क्रोध आता है, और मित्रता-विषयक अपनी मूर्च्छा-मूढ़ता पर दया उपजती है।

चोरी और प्रायश्चित्त

मांसाहार के समय के और उसके पहले के कुछ दूषणों का वर्णन करना अभी बाकी है। वे या तो विवाह के पहले के हैं या तुरन्त उसके बाद के हैं।

अपने एक रिश्तेदार के साथ मुझे सिगरेट पीने का चस्का लग गया। पैसे तो हमारे पास थे नहीं। दो में से किसी को भी यह तो नहीं मालूम होता था कि सिगरेट पीने में कुछ फायदा है या उसकी गँध में कुछ स्वाद है; पर इतना जरूर मालूम हुआ कि केवल धुँआ फूँकने में ही कुछ आनन्द है। मेरे चचाजी को सिगरेट पीने की आदत थी। और उनको तथा औरों को धुंआ उड़ाते हुए देख कर हमें भी फूँक लगाने की इच्छा हुई। पैसे तो थे नहीं, इसलिए चचाजी की पी हुई सिगरेटों की जूठन चुरा चुरा कर पीने लगे।

परन्तु यह जूठन भी हर वक्त नहीं मिल सकती थी, और उस में बहुत धुंआ भी नहीं निकलता था। इसलिए हम नौकर के पैसों में से एक-एक दो-दो पैसे चुराने और सिगरेट खरीदने लगे। पर यह दिक्कत थी कि उन्हें रक्खें कहाँ ? यह तो जानते थे कि बड़े-

बूढ़ों के सामने सिगरेट नहीं पी सकते। ज्यों त्यों करके दो चार पैसे चुरा कर कुछ सप्ताह काम चलाया। इसी बीच सुना कि एक किस्म के पौधे (उसका नाम भूल गया) की टहनी बीड़ी की तरह सुलगती है, और उसे पी सकते हैं। हम उसे ला ला कर पीने लगे।

पर हमें सन्तोष न हुआ। यह पराधीनता हमें खलने लगी। बड़े-बूढ़ों की आज्ञा के बिना कुछ भी नहीं कर सकते, यह दिन दिन नागवार होने लगा। अन्त को उकता कर, हमने आत्म-हत्या करने का निश्चय किया।

परन्तु आत्म-हत्या करें किस तरह? ज़हर लावें कहाँ से? हमने सुना था कि धतूरे के बीज खाने से आदमी मर जाता है। जंगल में घूम फिर कर बीज लाये। शाम का समय ठीक किया। केदारजी के मन्दिर में जा कर दीपक में घी डाला, दर्शन किया, और एकान्त ढूँढा। पर ज़हर खाने की हिम्मत न होती थी। 'तुरन्त ही मृत्यु न हो तो? मरने से आख़िर क्या लाभ? पराधीनता में ही क्यों न पड़े रहें?' फिर भी दो-चार बीज खा डाले। ज्यादह खाने की हिम्मत न चली। दोनों मौत से डर गये, और यह तय किया कि रामजी के मन्दिर में जा कर दर्शन करके खामोश हो रहें, और आत्म-हत्या के ख़याल को दिल से निकाल डालें।

मैं समझा कि आत्म-हत्या का विचार करना सहल है; पर आत्म-हत्या करना सहल नहीं। अतएव जब कोई आत्म-हत्या करने की धमकी देता है, तब मुझ पर उसका बहुत कम असर होता है, अथवा यह कहूँ कि बिल्कुल ही नहीं होता।

आत्म-हत्या के इस विचार का एक परिणाम यह निकला कि

हमारी सिगरेट की जूठन पीने की, नौकर के पैसे चुराने की और उसकी सिगरेट ला कर पीने की टेव छूट गई। बड़ा होने पर तो मुझे कभी सिगरेट पीने की इच्छा तक न हुई। और मैं सदा इस टेव को जंगली हानिकारक और गन्दी मानता आया हूँ। अब तक मैं यह न समझ पाया कि सिगरेट पीने का इतना जबरदस्त शौक दुनिया को क्यों है ? रेल के जिस डिब्बे में बहुतेरी बीड़ियाँ फूँकी जाती हों, वहाँ बैठना मेरे लिए मुश्किल हो पडता है और उसके धूँए से दम घुटने लगता है।

सिगरेट की जूठन चुराने तथा उसके लिए नौकर के पैसे चुराने से बढ़ कर एक दोष चोरी का मुझ से हुआ है, और उसे मैं इससे बहुत बुरा समझता हूँ। सिगरेट का चस्का जब लगा तब मेरी उम्र १२-१३ साल की होगी। शायद इससे भी कम हो। दूसरी चोरी के समय १५ वर्ष की रही होगी। यह चोरी भी मेरे मांसाहारी भाई के सोने के कड़े के टुकड़े की। उन्होंने २५) के लगभग कर्ज़ कर रक्खा था। हम दोनों भाई इस सोच में पड़े कि यह चुकावें किस तरह। मेरे भाई के हाथ में सोने का ठोंस कड़ा था। उसमें से एक तोला सोना काटना कठिन न था।

कड़ा कटा। कर्ज़ चुका। पर मेरे लिए यह घटना असह्य हो गई। आगे से चोरी न करने का मैंने निश्चय किया। मन में लगा कि पिताजी के सामने जा कर चोरी कुबूल कर लूँ। पर उनके सामने मुँह खुलना मुश्किल था। यह डर तो न था कि पिताजी खुद मुझे पीटने लगेंगे। मुझे नहीं याद पड़ता कि उन्होंने हम भाइयों में से कभी किसी को पीटा हो। पर यह खटका जरूर था, कि वे खुद बड़ा सन्ताप करेंगे, शायद अपना सिर पीट लें। मैंने मन

में कहा—यह जोखिम उठा कर भी अपनी बुराई कुबूल कर लेना चाहिए—इसके बिना शुद्धि नहीं हो सकती।

अन्त को यह निश्चय किया कि चिट्ठी लिख कर अपना दोष स्वीकार कर लूँ। मैंने चिट्ठी लिख कर खुद ही उन्हें दी। चिट्ठी में सारा दोष कुबूल किया था और सज़ा चाही थी। आजिजी के साथ यह प्रार्थना की थी कि आप किसी तरह अपने को दुःखी न बनावें और प्रतिज्ञा की थी कि आगे मैं कभी ऐसा न करूंगा।

पिताजी को चिट्ठी देते हुए मेरे हाथ-पाँव कँप रहे थे। उस समय वे भगंदर की बीमारी से पीड़ित थे। लकड़ी के तख़्तों पर उनका बिछौना रहता था। मैं उनके सामने बैठ गया।

उन्होंने चिट्ठी पढ़ी। आँखों से मोती के बूँद टपकने लगे। चिट्ठी भीग गई। थोड़ी देर के लिए आँखें मूंद लीं। चिट्ठी फाड डाली। चिट्ठी पढ़ने को वे उठ बैठे थे फिर लेट गये।

मैं भी रोया। पिताजी के दुःख को अनुभव किया। यदि मैं चितेरा होता तो आज भी उस चित्र को हूबहू खींच सकता। मेरी आंखों के सामने आज भी वह दृश्य ज्यों का त्यों दिखाई दे रहा है।

इस मोती-बिन्दु के प्रेम-बाण ने मुझे बींध डाला। मैं शुद्ध हो गया। इस प्रेम को तो वही जान सकता है जिसे अनुभव हुआ है—

राम-बाण वाग्यां रे होय ते जाणे *

मेरे लिए यह अहिंसा का पदार्थ-पाठ था। उस समय तो मुझे इसमें पितृ-वात्सल्य से अधिक कुछ न दिखाई दिया पर

---

* प्रेम-बाण से जो विंधा हो वही उसके बलको जानता है। —अनु०

आज मैं इसे शुद्ध अहिंसा के नाम से पहचानता हूँ। ऐसी अहिंसा जब व्यापक रूप ग्रहण करती है तब उसके स्पर्श से कौन अलिप्त रह सकता है? ऐसी व्यापक अहिंसा के बल को नापना असम्भव है।

ऐसी शांतिमय क्षमा पिताजी के स्वभाव के प्रतिकूल थी। मैंने तो यह अन्दाज़ किया था कि वे गुस्सा होंगे, सख्तसुस्त कहेंगे, शायद अपना सिर पीट लें। पर उन्होंने तो असीम शांति का परिचय दिया। मैं मानता हूँ कि यह दोप की शुद्ध हृदय से की गई स्वीकृति का परिणाम था। जो मनुष्य अधिकारी व्यक्ति के सामने स्वेच्छापूर्वक अपने दोप शुद्ध हृदय से कह देता है और फिर कभी न करने की प्रतिज्ञा करता है, वह शुद्धतम प्रायश्चित करता है। मैं जानता हूँ कि मेरे इस दोष-स्वीकार से पिताजी मेरे संबंध में निःशंक हो गये और उनका महाप्रेम और भी बढ़ गया।

---

(९)

पिताजी की मृत्यु और मेरी शर्म

यह जिक्र मेरे सोलहवें साल का है । पाठक जानते ही हैं, कि पिताजी भगंदर की बीमारी से बिलकुल बिछौने पर ही लेटे रहते । उनकी सेवा-शुश्रूषा अधिकांश में माताजी, एक पुराना नौकर और मेरे जिम्मे थी । मैं 'नर्स'—परिचारक—का काम करता था । घाव को धोना, उसमें दवा डालना, जरूरत हो तब मरहम लगाना, दवा पिलाना, और जरूरत हो तब घर पर दवा तैयार करना, यह मेरा खास काम था। रात को हमेशा उनके पैर दबाना और जब वे कहें तब, अथवा उनके सो जाने के बाद, जा कर सोना मेरा नियम था । यह सेवा मुझे अतिशय प्रिय थी । मुझे नहीं याद पड़ता कि किसी दिन मैंने इसमें ग़फलत की । ये दिन मेरे हाईस्कूल के थे । इस कारण भोजन-पान से जो समय बचता वह या तो स्कूल में या पिताजी की सेवा-शुश्रूषा में जाता ? जब वे कहते, अथवा उनकी तबीयत के अनुकूल होता, तब शाम को घूमने चला जाता । इसी वर्ष पत्नी गर्भवती हुई। आज इसमें मुझे दुहेरी शर्म मालूम होती है । एक तो यह कि विद्यार्थी-जीवन होते हुए मैं संयम न

रख सका, और दूसरे यह कि यद्यपि मैं स्कूल की पढ़ाई पढ़ने को और इससे भी बढ़कर माता—पिता की भक्ति को धर्म मानता था—यहां तक कि इस संबंध में बाल्यावस्था से ही श्रवण मेरा आदर्श रहा था—तथापि विषय-लालसा मुझ पर हावी हो सकी थी। यद्यपि मैं रात को पिताजी के पांव दबाया करता, तथापि मन शयन-गृह की तरफ दौड़ा करता और वह भी ऐसे समय कि जब स्त्री-संग धर्म-शास्त्र, वैद्यक-शास्त्र और व्यवहार-शास्त्र तीनों के अनुसार त्याज्य था। जब उनकी सेवा-शुश्रूषा से मुझे छुट्टी मिलती तब मुझे खुशी होती और पिताजी को पालागन कर के मैं सीधा शयन-गृह में चला जाता। पिताजी की बीमारी बढ़ती जाती थी। वैद्यों ने अपने अपने लेप आज़माये, हकीमों ने मरहम पट्टियां आजमाईं, मामूली हाज़मे आदि की घरेलू दवायें कीं, अंग्रेज़ डाक्टर ने भी अपनी अकल आज़मा देखी। अंगरेज़-डाक्टर ने कहा—नश्तर लगाने के सिवा दूसरा रास्ता नहीं। हमारे कुटुम्ब के मित्र-वैद्य बीच में पड़े और ढलती उम्र में ऐसा नश्तर लगवाने की सलाह उन्होंने नहीं दी। दवाओं की बीसों बोतलें खपीं, पर व्यर्थ गईं और नश्तर भी नहीं लगाया गया। वैद्यराज काबिल और नामांकित थे। मेरा ख्याल है कि यदि उन्होंने नश्तर लगाने दिया होता तो घाव के अच्छा होने में कोई दिक्कत न आती। ऑपरेशन बम्बई के तत्कालीन प्रसिद्ध सर्जन के मारफत होने वाला था। पर अन्त नज़दीक आ गया था, इसलिए ठीक बात उस समय कैसे सूझ सकती थी? पिताजी बम्बई से बिना नश्तर लगाये वापिस लौटे। और नश्तर-सम्बन्धी ख़रीदा हुआ सामान साथ लेते आये। उन्होंने अधिक जीने की

आशा छोड़ दी थी। कमजोरी बढ़ती गई और हर क्रिया बिछौने में ही करने की नौबत आ गई। परन्तु उन्होंने इसे स्वीकार न किया और उठने-बैठने का कष्ट उठाना मंजूर किया। वैष्णव धर्म का यह कठिन शासन है। बाह्य-शुद्धि अति आवश्यक है। परन्तु पाश्चात्य वैद्यक-शास्त्र हमें सिखाता है कि मल-त्याग तथा स्नान आदि की समस्त क्रियायें पूरी पूरी स्वच्छता के साथ बिछौने में हो सकती हैं और फिर भी रोगी को कष्ट नहीं उठाना पड़ता। जब देखिये तब बिछौना स्वच्छ ही रहता है। ऐसी स्वच्छता को मैं तो वैष्णव धर्म के अन्तर्गत ही मानता हूँ। परन्तु इस समय पिताजी का स्नानादि के लिए बिछौने को छोड़ने का आग्रह देख कर मैं तो आश्चर्य चकित रहता और मन में उनकी स्तुति किया करता।

अवसान की घोर रात्रि नजदीक आई। इस समय मेरे चचाजी राजकोट में थे। मुझे कुछ ऐसा याद पड़ता है कि पिताजी की बीमारी के बढ़ने के समाचार सुनकर वे आये थे। दोनों भाइयों में प्रगाढ प्रेम-भाव था। चचाजी दिन भर पिताजी के बिछौने के पास ही बैठे रहते और हम सब को सोने के लिए रवाना करके खुद पिताजी के बिछौने के पास सोते। किसी को यह ख़याल न था कि यह रात आख़िरी साबित होगी। भय तो सदा रहा करता था। रात के साढे दस या ग्यारह बजे होंगे। मैं पैर दबा रहा था। चचाजी ने मुझ से कहा—'अब तुम जा कर सोओ, मैं बैठूंगा।' मैं खुश हुआ और शयन-गृह में चला गया। पत्नी बेचारी भर नींद में थी, पर मैं उसे क्यों सोने देने लगा? जगाया। पाँच-सात ही मिनिट हुए होंगे कि नौकर ने दरवाज़ा खटखटाया।

मैं चौंका! उसने कहा—'उठो, पिताजी बहुत बीमार हैं'। बहुत बीमार हैं, यह तो मैं जानता ही था, इसलिए, 'बहुत बीमार' का विशेष अर्थ मैं समझ गया। एक बारगी बिछौने से छटक कर पूछा—

'कहो तो, बात क्या है?'

'पिताजी गुजर गये'!—उत्तर मिला।

अब पश्चात्ताप किस काम का? मैं बहुत शर्मिंदा हुआ, बडा खेद हुआ। पिताजी के कमरे में दौडा गया। मैं समझा कि यदि मैं विषयान्ध न होता, तो अन्त समय तक पिताजी के पैर दबाता रहता। अब तो चचाजी के मुंह से ही सुना। "बापू* तो हमें छोड-कर चले गये।" अपने जेठे भाई के परम भक्त, चचाजी, उनकी अन्तिम सेवा के सौभाग्य के भागी हुए, पिताजी को अपने अव-सान का खयाल पहले से हो चुका था। उन्होंने इशारे से लिखने की सामग्री मांगी, कागज़ पर उन्होंने लिखा 'तैयारी करो'। इतना लिख कर अपने हाथ में बंधा तावीज़ तोड फेंका। सोने की कण्ठी पहने हुए थे। उसे भी तोड फेंकी, एक क्षण में आत्मा उड गई।

पिछले प्रकरण में मैंने अपनी जिस शर्म की ओर संकेत किया था, वह यही शर्म थी। सेवा के समय में भी विषयेच्छा! इस काले धब्बे को मैं आज तक न पोंछ सका, न भूल सका। और मैंने हमेशा माना है कि यद्यपि माता-पिता के प्रति मेरी भक्ति अपार थी, उसके लिए मैं सब कुछ छोड सकता था, परन्तु उस सेवा के समय भी मेरा मन विषय को न छोड सका था, यह उस

---

*काठियावाड में पिता को 'बापू' कहते हैं। —अनु०

सेवा में अक्षम्य कमी थी। इसीलिए मैंने अपने को एकपत्नी व्रत का पालन करने वाला मानते हुए भी विषयांध मानो है। इससे छूटने में मुझे बहुत समय लगा है और छूटने के पहले बहुत धर्म संकट सहना पड़ा है।

अपनी इस दुहेरी शर्म का प्रकरण पूरा करने के पहले यह भी कह देता हूँ कि पत्नी ने जिस बालक को जन्म दिया वह दो चार दिन सांस ले कर चलता हुआ। दूसरा क्या परिणाम हो सकता था ? इस उदाहरण को देख कर जो माँ-बाप अथवा जो दम्पती चेतना चाहें वे चेतें।

---

(१०)

धर्म की झलक

छः सात साल की उम्र से ले कर १६ वर्ष तक विद्याध्ययन किया; परन्तु स्कूल में कहीं धर्म-शिक्षा न मिली। जो चीज़ शिक्षकों के पास से सहज ही मिलनी चाहिए वह न मिली। फिर भी वायु-मंडल में से तो कुछ न कुछ धर्म-प्रेरणा मिला करती थी। यहाँ धर्म का व्यापक अर्थ करना चाहिए। धर्म से मेरा अभिप्राय है आत्म-साक्षात्कार से, आत्म-ज्ञान से।

वैष्णव-सम्प्रदाय में जन्म होने के कारण वार वार हवेली जाना होता था। परन्तु उसके प्रति श्रद्धा न उत्पन्न हुई। हवेली का वैभव मुझे पसन्द न आया! हवेलियों में होने वाले अनाचारों की वातें सुन सुन कर मेरा मन उनके सम्वन्ध में उदासीन हो गया। वहां से मुझे कुछ न मिला।

परन्तु जो चीज़ मुझे हवेली से न मिली, वह अपनी दाई के पास से मिली। वह हमारे कुटुम्ब में पुरानी नौकरानी थी। उसका प्रेम मुझे आज भी याद आता है। मैं पहले कह चुका हूं कि मैं भूत-प्रेत आदि से डरा करता था। रम्भा ने मुझे वताया कि इसकी दवा राम-नाम है। राम-नाम की अपेक्षा रम्भा पर मेरी अधिक

श्रद्धा थी। इसलिए बचपन में मैंने भूत-प्रेतादि से बचने के लिए राम-नाम का जप शुरू किया। यह सिलसिला बहुत दिन तक जारी न रहा। परन्तु बचपन में जो बीजारोपण हुआ वह व्यर्थ न गया। राम-नाम जो आज मेरे लिए अमोघ शक्ति हो गया है, उसका कारण वह रम्भा बाई का बोया हुआ बीज है।

मेरे चचेरे भाई रामायण के भक्त थे। इसी अर्से में उन्होंने हम दो भाइयों को 'राम-रक्षा' का पाठ सिखाने का प्रबन्ध किया। हमने उसे मुखाग्र करके प्रातःकाल स्नान के बाद पाठ करने का नियम बनाया। जब तक पोरबन्दर में रहे, तब तक तो यह निभता रहा। राजकोट के वातावरण में उसमें शिथिलता आ गई। इस क्रिया पर भी कोई ख़ास श्रद्धा न थी। दो कारणों से 'राम-रक्षा' का पाठ मैं करता था। एक तो बड़े भाई को मैं आदर की दृष्टि से देखता था, और दूसरे मुझे गर्व था कि मैं 'राम-रक्षा' का पाठ शुद्ध उच्चार सहित करता हूँ।

परन्तु जिस चीज़ ने मेरे दिल पर गहरा असर डाला, वह तो थी रामायण का पारायण। पिताजी की बीमारी का बहुतेरा समय पोरबंदर में गया। वहाँ वे रामजी के मंदिर में रोज़ रात को रामायण सुनते। कथा कहने वाले थे रामचन्द्रजी के एक परम भक्त–बीलेश्वर के लाधा महाराज। उनके सम्बन्ध में यह आख्यायिका प्रसिद्ध थी कि उन्हें कोढ़ हो गई थी। उन्होंने कुछ दवा न की—सिर्फ बीलेश्वर महादेव पर चढ़े हुए बिल्व-पत्रों को कोढ़ वाले अंगों पर बांधते रहे, और राम-नाम का जप करते रहे। अन्त में उनका कोढ़ समूल नष्ट हो गया। यह बात चाहे सच हो या झूठ, हम सुननेवालों ने तो सच ही मानी। यह बात ज़रूर सच है

कि लाधा महाराज ने जब कथा आरम्भ की थी तब उनका शरीर बिल्कुल नीरोग था। लाधा महाराज का स्वर मधुर था। वे दोहा चौपाई गाते और अर्थ समझाते। खुद उसमें लीन हो जाते और श्रोताओं को भी लीन कर देते। मेरी अवस्था इस समय कोई १३ साल की होगी; पर मुझे याद है कि उनकी कथा में मेरा बड़ा मन लगता था। रामायण पर जो मेरा अत्यन्त प्रेम है, उसका पाया यहां रामायण-श्रवण है। आज मैं तुलसीदास की रामायण को भक्ति-मार्ग का सर्वोत्तम ग्रंथ मानता हूँ।

कुछ महीने बाद हम राजकोट आये। वहाँ ऐसी कथा न थी। हाँ, एकादशी को भागवत अलबत्ते पढ़ी जाती थी। कभी कभी मैं वहाँ जा कर बैठता; परन्तु कथा-पण्डित उसे रोचक न बना पाते थे। आज मैं समझता हूँ कि भागवत ऐसा ग्रंथ है कि जिसे पढ़ कर धर्म-रस उत्पन्न किया जा सकता है; मैंने तो उसका गुजराती अनुवाद बड़े चाव भाव से पढ़ा है। परन्तु मेरे इक्कीस दिन के उपवास में जब भारत-भूषण पण्डित मदन-मोहन मालवीयजी के श्रीमुख से मूल संस्कृत के कितने ही अंश सुने, तब मुझे ऐसा लगा कि बचपन में यदि उनके सदृश भगवद्-भक्त के मुँह से भागवत सुनी होती, तो बचपन में ही मेरी गाढ़ प्रीति उस पर जम जाती। मैं अच्छी तरह इस बात को अनुभव कर रहा हूँ कि बचपन में पड़े शुभ-अशुभ संस्कार बड़े गहरे हो जाते हैं और इसलिए यह बात अब मुझे बहुत खल रही है कि लड़कपन में ही कितने ही अच्छे ग्रंथों का श्रवण पठन न हो पाया।

राजकोट में मुझे सब सम्प्रदायों के प्रति समान भाव रखने की शिक्षा अनायास मिली। हिंदू-धर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रति

आदर-भाव रखना सीखा, क्योंकि माता-पिता हवेली भी जाते और राम-मंदिर भी जाते और हम भाइयों को भी ले जाते अथवा भेजते।

फिर पिताजी के पास कोई न कोई जैन धर्माचार्य अवश्य आया करते। पिताजी भिक्षा दे कर उनका आदर-सत्कार भी करते। वे पिताजी के साथ धर्म तथा व्यवहार-चर्चा करते। इसके सिवा पिताजी के मुसलमान तथा फारसी मित्र भी थे। बहुत बार वे अपने अपने धर्म की बातें किया करते और पिताजी आदर और भाव के साथ उनकी बातें सुनते। मैं पिताजी का 'नर्स' था, इसलिए ऐसी चर्चा के समय मैं भी प्रायः उपस्थित रहता। इस सारे वायुमण्डल का यह असर हुआ, कि मेरे मन में सब धर्मों के प्रति समान-भाव पैदा हुआ।

हाँ ईसाई-धर्म इसमें अपवाद था। उसके प्रति तो ज़रा अरुचि सी उत्पन्न हो गई। उस समय हाईस्कूल के एक कोने में एक ईसाई व्याख्यान दिया करते। वे हिंदू देवताओं और हिंदू-धर्म वालों की निंदा किया करते। यह मुझे सहन न होता। मैं एकाध ही बार इन व्याख्यानों को सुनने के लिए खड़ा रहा हूंगा। पर फिर वहाँ खड़ा होने को जी न चाहा। इसी समय सुना कि एक प्रसिद्ध हिंदू ईसाई हो गये हैं। गांव में यह चर्चा फैली हुई थी कि उन्हें जब ईसाई बनाया गया तब गो-मांस खिलाया गया, और शराब पिलाई गई। उनका लिवास भी बदल दिया गया और ईसाई होने के बाद वे कोट-पतलून और हैट लगाने लगे। यह देख कर मुझे बड़ी व्यथा पहुंची। जिस धर्म में जाने के लिए गो-मांस खाना पड़ता हो, शराब पीनी पड़ती हो और अपना पहनावा

बदलना पड़ता हो, उसे क्या धर्म कहना चाहिए? मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ। फिर तो यह भी सुना कि ईसाई हो जाने पर वे महाशय अपने पूर्वजों के धर्म की, रीति-रिवाज की, और देश की भरपेट निन्दा करते फिरते हैं। इन सब बातों से मेरे मन में ईसाई-धर्म के प्रति अरुचि उत्पन्न हुई।

इस प्रकार यद्यपि दूसरे धर्मों के प्रति समभाव उत्पन्न हुआ, तो भी यह नहीं कह सकते कि ईश्वर के प्रति मेरे मन में श्रद्धा थी। इस समय पिताजी के पुस्तक-संग्रह में से मनुस्मृति का भाषान्तर मेरे हाथ पड़ा। उसमें सृष्टि की उत्पत्ति आदि, का वर्णन पढ़ा। उस पर श्रद्धा न जमी। उलटे कुछ नास्तिकता आ गई। मेरे दूसरे चचेरे भाई, जो अभी मौजूद हैं, उनकी बुद्धि पर मुझे विश्वास था। उनके सामने मैंने अपनी शंकायें रक्खीं। परन्तु वे मेरा समाधान न कर सके। उन्होंने उत्तर दिया—'बड़ा होने पर इन प्रश्नों का उत्तर तुम्हारी बुद्धि अपने आप देने लगेगी। ऐसे ऐसे सवाल बच्चों को न पूछना चाहिए।' मैं चुप हो रहा, पर मन को शान्ति न मिली। मनुस्मृति के खाद्याखाद्य प्रकरण में तथा दूसरे प्रकरणों में भी प्रचलित प्रथा का विरोध दिखाई दिया। इस शंका का उत्तर भी मुझे प्रायः ऊपर लिखे अनुसार ही मिला। तब सोच कर मन को समझा लिया कि किसी दिन बुद्धि की शक्ति बढ़ेगी, तब अधिक पठन और मनन करूँगा और समझूँगा।

मनुस्मृति को पढ़कर मैं उस समय तो उससे अहिंसा की प्रेरणा न पा सका। मांसाहार की बात ऊपर आ ही चुकी है। उसे तो मनुस्मृति का भी सहारा मिल गया। यह भी जँचता था कि सांप, खटमल आदि को मारना नीति-विहित है। इस समय,

मुझे याद है कि मैंने धर्म समझ कर खटमल इत्यादि को मारा है।

पर एक बात ने मेरे दिल में जड़ जमा ली। सृष्टि नीति के पाये पर खड़ी है, नीति-मात्र का समावेश सत्य में होता है। पर सत्य की खोज तो अभी बाकी है। दिन दिन सत्य की महिमा मेरी दृष्टि में बढ़ती गई, सत्य की व्याख्या विस्तार पाती गई और अब भी पाती जा रही है।

फिर एक नीति-विषयक छप्पय तो हृदय में अंकित ही हो गया। अपकार का बदला अपकार नहीं, बल्कि उपकार ही हो सकता है, यह बात जीवन-सूत्र बन बैठी। उसने मुझ पर अपनी सत्ता जमाना शुरू किया। अपकार करने वाले का भला चाहना और करना मेरे अनुराग का विषय हो चला। उसके अगणित प्रयोग किये। वह चमत्कारी छप्पय यह है—

पाणी आपने पाय, भलुं भोजन तो दीजे,
आवी नमावे शीश, दण्डवत कोडे कीजे।
आपण घासे दाम, काम महोरो नुँ करीए,
आप उगारे प्राण, ते तणा दुःख मां मरीए।
गुण केडे तो गुण दश गणो, मन वाचा कर्मे करी,
अवगुण केडे जे गुण करे, ते जगमां जीत्यो सही। *

---

* जल–फल का उपहार, पेट भर भोजन दीजे।
समुद नमन के लिए, दण्डवत् प्यार कीजे॥
कौडी पा कर मित्र, मुहर बदले में देना।
होवे कष्ट–सहाय, प्राण उसके हित देना॥
गुण के बदले दस गुना, गुण करना यह धर्म है।
अवगुण–बदले गुण करे, सत्य-धर्म का मर्म है॥

(११)

विलायत की तैयारी

१८८७ ईसवी में मैट्रिक की परीक्षा पास की। बम्बई और अहमदाबाद दो परीक्षा-केन्द्र थे। देश की दरिद्रता और कुटुम्ब की आर्थिक अवस्था के बहुत मामूली होने के कारण मेरी स्थिति के काठियावाड़ निवासी के लिए नजदीकी और सस्ते अहमदाबाद को पसन्द करना स्वाभाविक था। राजकोट से अहमदाबाद मैंने पहली ही बार अकेले यात्रा की।

घर के बड़े-बूढ़ों की यह इच्छा थी कि अब आगे कॉलेज की पढ़ाई पढ़ूँ। कॉलेज तो बम्बई में भी था और भावनगर में भी। भावनगर में खर्च कम पड़ता था, इसलिए वहीं शामलदास कॉलेज में पढ़ने का निश्चय हुआ। वहाँ सब कुछ मुझे मुश्किल दिखने लगा। अध्यापकों के व्याख्यानों में न मन लगता, न समझ ही पड़ती। उसमें अध्यापकों का दोष न था। मेरी पढ़ाई ही कच्ची थी। उस समय के शामलदास कॉलेज के अध्यापक तो प्रथम पंक्ति के माने जाते थे। पहला सत्र पूरा कर के घर आया।

हमारे कुटुम्ब के पुराने मित्र और सलाहकार एक विद्वान् व्यवहार-कुशल ब्राह्मण—मावजी दवे—थे। पिताजी के स्वर्गवास के

बाद भी उन्होंने हमारे कुटुम्ब के साथ सम्बन्ध कायम रक्खा था। छुट्टियों के दिनों में वे घर आये। माताजी और बड़े भाई के साथ बातें करते हुए मेरी पढ़ाई के विषय में पूछताछ की। यह सुन कर कि मैं शामलदास कॉलेज में पढ़ता हूँ, उन्होंने कहा—"अब ज़माना बदल गया है। तुम भाइयों में से यदि कोई कबा गांधी की गद्दी कायम रखना चाहो तो यह बिना पढ़ाई के नहीं हो सकता। यह अभी पढ़ रहा है। इसलिए उस गद्दी को कायम रखने का भार इस पर डालना चाहिए। इसे अभी ४–५ साल बी० ए० होने में लगेंगे। इसके बाद भी ५०)–६०) की नौकरी भले ही मिले; दीवान-पद नहीं मिल सकता। फिर अगर उसके बाद, मेरे लड़के की तरह, वकील बनाओगे तो कुछ और साल लगेंगे, और तब तक तो दीवानगिरी के लिए कितने ही वकील तैयार हो जायँगे। आपको चाहिए कि इसे विलायत पढ़ने भेजें। केवलराम (मावजी दवे का पुत्र) कहता है कि वहाँ पढ़ाई आसान है। तीन साल में पढ़ कर लौट आवेगा। खर्च भी ४–५ हज़ार से ज्यादह न लगेगा। देखो न, वह नया बैरिस्टर आया है। कैसे ठाट-बाट से रहता है! वह यदि चाहे तो आज दीवान बन सकता है। मेरी सलाह तो यह है कि मोहनदास को आप इसी साल विलायत भेज दें। विलायत में केवलराम के बहुतेरे मित्र हैं। वह परिचय-पत्र दे देगा। तो इसे वहाँ कोई कठिनाई न होगी।

जोशीजी ने (मावजी दवे को हम इसी नाम से पुकारा करते थे) मानों उन्हें अपनी सलाह के मंजूर हो जाने का कुछ भी सन्देह न हो, मेरी ओर मुख़ातिब हो कर पूछा:—

"क्यों, तुम्हें विलायत जाना पसन्द है या यहीं पढ़ना ?" मेरे

लिए यह 'नेकी और पूछ पूछ' वाली मसल हो गई। मैं कॉलेज की कठिनाइयों से तंग तो आ ही गया था। मैंने कहा—"विलायत भेजें तो बहुत ही अच्छा। कॉलेज में जल्दी जल्दी पास हो जाने की आशा नहीं मालूम होती। पर मुझे डाक्टरी के लिए क्यों नहीं भेजते ?"

मेरे भाई बीच में बोले—"बापू को यह पसन्द न था। तुम्हारी बात जब निकलती तो कहते, हम तो वैष्णव हैं। हाड़-मांस नोंचने का काम हम कैसे करें ? बापू तो तुम को वकील ही बनाना चाहते थे।

जोशीजी ने बीच ही में हाँ में हाँ मिलाई—"मुझे गांधीजी की तरह डाक्टरी से नफरत नहीं। हमारे शास्त्रों ने इसका तिरस्कार नहीं किया। परन्तु डाक्टरी पास करके तुम दीवान नहीं बन सकते। मैं तो तुमको दीवान, और इससे बढ़ कर, देखना चाहता हूँ। तभी तुम्हारे विशाल कुटुम्ब का काम चल सकता है। ज़माना दिन दिन बदलता जाता है और मुश्किल होता जाता है। इसलिए बैरिस्टर बनना ही बुद्धिमानी है।

माताजी की ओर देख कर कहा—"आज तो मैं जाता हूँ। मेरी बात पर विचार कीजिएगा। वापस आने पर मैं विलायत जाने की तैयारी के समाचार सुनने की आशा रक्खूंगा। कोई दिक़्क़त हो तो मुझे ख़बर कीजिएगा।"

जोशीजी गये। इधर मैंने हवाई क़िले बांधना शुरू किये।

बड़े भाई शशोपंज में पड़ गये। रुपये का क्या इन्तजाम करें ? फिर इस उम्र में इतनी दूर कैसे भेज दें ?

माताजी बड़ी दुविधा में पड़ गई। दूर भेजने की बात ही

उसे अच्छी न लगी। परन्तु शुरू में तो उन्होंने यही कहा—"हमारे कुटुम्ब में तो अब चचाजी ही बड़े-बूढ़े हैं। इसलिए पहले तो उन्हींकी सलाह लेनी चाहिए। यदि वे इजाजत दे दें तो हम सोचेंगे।"

बड़े भाई को एक और बिचार सूझा—'पोरबंदर राज्य पर हमारा हक़ है। लेली साहब एडमिनिस्ट्रेटर हैं। हमारे परिवार के संबन्ध में उनका अच्छा मत है। चचाजी पर उनकी खास मिहरबानी है। शायद वे राज्य की ओर से तुम्हारी थोड़ी-बहुत मदद भी करें।'

मुझे यह सब पसंद आया। मैं पोरबंदर जाने के लिए तैयार हुआ। उस समय रेल न थी। बैलगाड़ियां चलती थीं। ५ दिन का रास्ता था। मैं डरपोक था यह तो ऊपर कही गया हूँ। पर इस समय मेरा डर न जाने कहाँ चला गया। विलायत जाने की धुन सवार हुई। मैंने धोराजी तक की गाड़ी की। धोराजी से एक दिन पहले पहुँचने के इरादे से ऊंट किया। ऊंट की सवारी का यह पहला अनुभव था।

पोरबंदर पहुंचा। चाचाजी को साष्टाङ्ग प्रणाम किया। सारा किस्सा उनसे कहा। उन्होंने बिचार करके उत्तर दिया—

"विलायत जा कर अपना धर्म कायम रख सकोगे कि नहीं, यह मैं नहीं जानता। सारी बातें सुन कर तो मुझे संदेह ही होता है। देखो न, बड़े बड़े बैरिस्टरों से मिलने का मुझे मौक़ा मिलता है। मैं देखता हूं कि उनकी और साहब लोगों की रहन-सहन में कोई फर्क नहीं। उन्हें खान-पान का कोई परहेज़ नहीं होता। सिगार तो मुंह से अलग ही नहीं होती। पहनाव भी देखो तो नंगा।

यह सब अपने कुटुम्ब को शोभा नहीं देगा। पर मैं तुम्हारे साहस में विघ्न डालना नहीं चाहता। मैं थोड़े दिन में तीर्थ-यात्रा को जाने वाला हूं। मेरी ज़िंदगी के अब थोड़े ही दिन बाक़ी हैं। सो मैं, जो कि ज़िन्दगी के किनारे तक पहुंच गया हूँ, तुमको विलायत जाने की—समुद्र-यात्रा करने की इजाज़त—कैसे दूं? पर मैं तुम्हारा रास्ता न रोकूंगा। असली इजाज़त तो तुम्हारी माताजी की है। अगर वह तुम्हें इजाज़त दे दें तो तुम शौक़ से जाओ। उनसे कहना कि मैं तुम्हें न रोकूंगा। मेरी आशीष तो तुम्हें हुई है।

"इससे ज्यादह की आशा मैं आप से नहीं कर सकता। अब मुझे माताजी को राज़ी कर लेना है। परन्तु लेली साहब के नाम आप चिट्ठी तो देदेंगे न?" मैंने कहा।

चाचाजी बोले "यह तो मुझ से कैसे हो सकता है? पर साहब भले आदमी हैं। तुम चिट्ठी लिखो। अपने कुटुम्ब की याद दिलाना तो वे जरूर मिलने का समय देंगे। और उन्हें जँचा तो मदद भी करेंगे।"

मुझे ख्याल नहीं आता कि चचाजी ने साहब के नाम चिट्ठी क्यों न दी? पर कुछ कुछ ऐसा ख्याल पड़ता है कि विलायत जाने के धर्म-विरुद्ध कार्य में इतनी सीधी मदद देते हुए उन्हें संकोच हुआ।

मैंने लेली साहब को चिट्ठी लिखी। उन्होंने अपने रहने के बंगले पर मुझे बुलाया। बंगले के ज़ीने पर चढ़ते चढ़ते साहब मुझ से मिले और यह कहते हुए ऊपर चढ़ गये कि—"पहले बी. ए. हो लो और फिर मुझ से मिलो। अभी कुछ मदद नहीं हो सकती।" मैं बहुत तैयारी करके, बहुतेरे वाक्यों को रट कर,

गया था। बहुत झुककर दोनों हाथों से सलाम किया था, पर मेरी सारी मिहनत फिजूल गई !

अब मेरी नज़र पत्नी के गहनों पर गई। बड़े भाई पर अपार श्रद्धा थी। उनकी उदारता के सीमा न थी। उनका प्रेम पिता की तरह था।

मैं पोरबंदर से बिदा हुआ। राजकोट आ कर सब बातें सुनाईं। जोशीजी से सलाह मशवरा किया। उन्होंने कर्ज़ करके भी विलायत भेजने की सलाह दी। मैंने सुझाया कि धर्म-पत्नी के गहने बेंच डाले जांय। गहनों से २।३ हज़ार से ज्यादह रकम मिलने की आशा न थी। भाई ने, जिस तरह हो, रुपये का इन्तज़ाम करने का बीड़ा उठाया।

पर माताजी क्यों कर मानतीं ? उन्होंने विलायत के जीवन की पूछ-ताछ शुरू की। किसीने कहा नवयुवक विलायत जा कर बिगड़ जाते हैं। कोई कहता था वे मांस खाने लगते हैं। किसीने कहा वहां शराब पिये बिना नहीं चलता। माताजी ने यह सब मुझसे कहा। मैंने समझाया कि तुम मुझपर विश्वास रक्खो, मैं विश्वासघात न करूंगा। मैं कसम खा कर कहता हूं कि मैं इन तीनों बातों से बचूंगा। अगर ऐसी जोखिम की बात हो तो जोशीजी क्यों जाने की सलाह देंगे ?

माता बोलीं-"मुझे तेरा विश्वास है। पर दूर विदेश में कैसे होगा ? मेरी तो अकल काम नहीं करती। मैं बेचरजी स्वामी से पूछूंगी।" बेचरजी स्वामी मोढ़ बनिये से जैन साधु हुए थे। जोशी जी की तरह सलाहकार भी थे। उन्होंने मेरी मदद की। उन्होंने कहा कि मैं इससे तीनों बातों की प्रतिज्ञा लिवा लूंगा। फिर जाने

देने में कोई हर्ज नहीं। तदनुसार मैंने मांस, मदिरा और स्त्री संग से दूर रहने की प्रतिज्ञा ली। माताजी ने इजाज़त दे दी।

हाई स्कूल में सम्मेलन हुआ। राजकोट का एक युवक विलायत जा रहा है, इस पर सब को आश्चर्य हो रहा था। जवाब में मैं कुछ लिख ले गया था। पर मैं उसे मुश्किल से पढ़ सका। सिर घूम रहा था। बदन कांप रहा था। इतना मुझे याद है।

बड़े-बूढ़ों के आशीर्वाद प्राप्त कर मैं बंबई रवाना हुआ। बंबई की यह पहली यात्रा थी। बड़े भाई साथ आये।

परंतु अच्छे काम में सैकड़ों विघ्न आते हैं। बंबई का बंदर छूटना आसान न था।

---

(१२)

जाति-बहिष्कार

माता की आज्ञा और आशीर्वाद प्राप्त कर, कुछ महीने का बच्चा पत्नी के साथ छोड़ कर, मैं उमंग और उत्कण्ठा के साथ बम्बई पहुँचा। पहुँच तो गया, पर वहां मित्रों ने भाई से कहा कि जून–जुलाई में हिन्द महासागर में तूफान रहता है। यह पहली बार समुद्र-यात्रा कर रहे हैं, इसलिए दिवाली बाद अर्थात् नवम्बर में इनको भेजना चाहिए। इतने ही में किसी ने तूफान में किसी जहाज़ के डूब जाने की बात भी कह डाली। इससे बड़े भाई—सचिन्त हो गये। उन्होंने मुझे ऐसी जोखिम उठा कर उसी समय भेजने से इन्कार कर दिया, और वहीं अपने एक मित्र के यहां छोड़ कर खुद अपनी नौकरी पर राजकोट चले गये। एक बहनोई के पास रुपये पैसे रख गये और कुछ मित्रों से मेरी मदद करने को कहते गये।

बम्बई में मेरे दिन मुश्किल से कटने लगे। मुझे दिन-रात विलायत के ही सपने आते।

इसी बीच हमारी जाति में खलबली मची। पंचायत इकट्ठी हुई। मोढ़ बनियों में अब तक कोई विलायत नहीं गया था और

यदि मैं ऐसा साहस करता हूँ, तो मुझसे जवाब तलब होना चाहिए। मुझे जाति की पंचायत में हाज़िर होने का हुक्म हुआ। मैं गया। ईश्वर जाने मुझे एका एक यह हिम्मत कहाँ से आ गई। वहाँ जाते हुए न संकोच हुआ, न डर। जाति के मुखिया के साथ दूर का कुछ रिश्ता भी था। पिताजी के साथ उनका अच्छा सम्बन्ध भी था। उन्होंने मुझ से कहा:—

'जाति का यह मत है कि तुम्हारा विलायत जाने का विचार ठीक नहीं है। अपने धर्म में समुद्र-यात्रा मना है। फिर, हमने सुना है कि विलायत में धर्म का पालन नहीं हो सकता। वहाँ अंगरेज़ों के साथ खाना-पीना पड़ता है।"

मैंने उत्तर दिया 'मैं तो समझता हूँ, विलायत जाना किसी तरह अधर्म नहीं। मुझे तो वहाँ जा कर सिर्फ विद्याध्ययन ही करना है। फिर जिन बातों का भय आपको है उनसे दूर रहने की प्रतिज्ञा मैंने माताजी के सामने, ले ली है। सो मैं उनसे दूर रह सकूंगा।

'पर हम तुमसे कहते हैं कि वहाँ धर्म कायम नहीं रह सकता। तुम जानते हो कि तुम्हारे पिताजी के साथ मेरा कैसा सम्बन्ध था, तुम्हें मेरा कहना मान लेना चाहिए।' मुखिया बोले।

'जी, आपका सम्बन्ध मुझे मालूम है। आप मेरे लिए, पिता के समान हैं। परंतु इस बात में मैं लाचार हूँ। विलायत जाने का निश्चय मैं नहीं पलट सकता। मेरे पिताजी के मित्र और सलाह-कार, जो कि एक विद्वान् ब्राह्मण हैं, मानते हैं कि मेरे विलायत जाने में कोई बुराई नहीं। माताजी और भाई साहब ने भी इजाज़त दे दी है' मैंने उत्तर दिया।

'पर जाति का हुक्म तुम नहीं मानोगे' ?

'मैं लाचार हूँ । मैं समझता हूँ, जाति को इस मामले में न पड़ना चाहिए' ।

इस जवाब से उन मुखिया को गुस्सा आ गया। मुझे दो चार भली-बुरी सुनाई । मैं चुप बैठ रहा । उन्होंने हुक्म दिया:—

'ये आज से जाति बाहर समझे जावें, जो इनकी मदद करेगा अथवा पहुँचाने जायगा वह जाति का गुनहगार होगा और उससे सव्वा रुपया जुर्माना लिया जावेगा' ।

इस प्रस्ताव का मेरे दिल पर कुछ असर न हुआ। मैंने मुखिया से विदा मांगी । अब मुझे यह सोचना था कि इस प्रस्ताव का असर भाई साहब पर क्या होगा ? वे कहीं डगमगा तो नहीं जाँयगे ? पर सौभाग्य से वे अटल रहे और मुझे उत्तर में लिखा कि जाति के इस प्रस्ताव के होते हुए भी मैं तुमको विलायत जाने से नहीं रोकूंगा ।

इस घटना के बाद मैं अधिक चिन्तातुर हुआ । भाई साहब पर दबाव डाला गया तो ? कोई और विघ्न खड़ा हो गया तो ? इस तरह चिन्ता में मैं दिन बिता रहा था कि इतने में खबर मिली कि ४ सितम्बर को छूटने वाले जहाज़ में जूनागढ़ के एक वकील—बैरिस्टर बनने के लिए विलायत जाने वाले हैं । मैं भाई साहब के उन मित्रों से मिला जिनसे वे मेरे लिए कह गये थे । उन्होने सलाह दी कि इस साथ को न छोड़ना चाहिए । समय बहुत थोड़ा था । भाई साहब से तार से इजाज़त मांगी । उन्होंने दे दी । मैंने बहनोई साहब से रुपये मांगे । उन्होंने जाति की आज्ञा का ज़िकर किया । जाति बाहर रहना उन्हें मंजूर न हो सकता था ।

हमारे कुटुम्ब के एक मित्र के पास मैं पहुँचा, और किराये वगैरह के लिए आवश्यक रक़म मुझे देने और फिर भाई साहब से वसूल कर लेने का अनुरोध मैंने किया। उन्होंने न केवल स्वीकार किया, बल्कि मुझे और हिम्मत बँधाई। मैंने उनका अहसान माना। रुपये लिये और टिकट खरीदा।

विलायत-यात्रा का सारा सामान तैयार कराना था। एक दूसरे अनुभवी मित्र ने साज-सामान तैयार करवाया। मुझे वह सब बड़ा विचित्र मालूम हुआ। कुछ बातें अच्छी लगीं, कुछ न लगीं। नेकटाइ तो बिलकुल अच्छी न लगी—हालांकि आगे जा कर मैं उसे बड़े शौक से पहनने लगा था। छोटासा जाकेट नंगा पहिनावा मालूम हुआ। परन्तु विलायत जाने की धुन में इस नापसन्दी के लिए कोई जगह नहीं थी। साथ में खाने का सामान भी काफी बांध लिया था।

मेरे लिए स्थान भी मित्रों ने त्र्यम्बक राय मजमुदार (जूनागढ़ वाले वकील) की कैबिन में रिज़र्व कराया। उनसे मेरे लिए उन्होंने कह भी दिया। वे तो थे अधेड़, अनुभवी आदमी। मैं ठहरा अठारह वर्ष का नौजवान, दुनिया के अनुभवों से बेख़बर। मजमुदार ने मित्रों को मेरे तरफ से निश्चिन्त रहने को कहा।

इस तरह ४ सितम्बर १८८८ ई० को मैंने बम्बई बंदर छोड़ा।

---

(१२)

आखिर विलायत में

जहाज़ में समुद्र से मुझे कुछ तकलीफ न हुई। पर ज्यों ज्यों दिन जाते मैं असमंजस में पड़ता चला। स्टुअर्ड के साथ बोलते झेंपता। अंगरेज़ी में बातचीत करने की आदत न थी। मजमुदार को छोड़ कर बाकी सब यात्री अंगरेज़ थे। उनके सामने बोलते न बनता था। वे मुझ से बोलने की चेष्टा करते तो मेरी समझ में नहीं आता। और यदि समझ भी लूं तो यह औसान नहीं रहता कि जवाब क्या दूँ, हर वाक्य बोलने के पहले मन में जमाना पड़ता था। छुरी-कांटे से खाना न जानता था। और यह पूछने की भी जुरत न होती कि इसमें बिना मांस की चीजें क्या क्या हैं। इस कारण मैं भोजन की मेज़ पर तो कभी गया ही नहीं। कैबिन—कमरे—में ही खाता। अपने साथ मिठाइयां वगैरह ले रक्खी थीं—प्रधानतः उन्हीं पर गुज़र करता रहा। मजमुदार को तो किसी प्रकार का संकोच न था। वे सब के साथ हिल-मिल गये। डेक पर भी जहाँ जी चाहे घूमते फिरते। मैं सारा दिन कैबिन में घुसा रहता। डेक पर जब लोगों की भीड़ कम देखता, तब कहीं जा कर वहाँ बैठ जाता।

मजमुदार मुझे समझाते कि सब के साथ मिला-जुला करो, आजादी से बातें किया करो। कहते—वकील जबाँदराज होना चाहिए। वकील की हैसियत से अपना अनुभव भी बताते। अंगरेजी हमारी मातृ-भाषा नहीं। इसलिए बोलने में भूलें होना स्वाभाविक है। फिर भी बोलने का रफ्त तो करना ही चाहिए— आदि कहते। परन्तु मेरे लिए अपना दब्बूपन छोड़ना भारी पड़ता था।

मुझ पर तरस खा कर एक भले अंगरेज ने मुझ से बातचीत करना शुरू किया। उम्र में मुझ से बड़े थे। मैं क्या खाता हूँ, कौन हूँ, कहाँ जा रहा हूँ, क्यों किसी के साथ बात चीत नहीं करता, इत्यादि सवाल पूछते। मुझे खाने के मेज पर जाने की प्रेरणा करते। मांस न खाने के मेरे आग्रह की बात सुन कर हँसे और मुझ पर दया प्रदर्शित करते हुए बोले—'यहाँ तो (पोर्ट सईद पहुँचने तक) ठीक ठाक है; परन्तु बिस्के के उपसागर में पहुँचने पर तुम्हें अपने विचार बदलने पड़ेंगे। इंग्लैंड में तो इतना जाड़ा पड़ता है कि मांस बिना काम चल ही नहीं सकता।'

मैंने कहा—"मैंने तो सुना है कि वहाँ लोग बिना मांसाहार किये रह सकते हैं।"

उन्होंने कहा—"यह झूठ है। मेरी जान-पहचान वालों में कोई आदमी ऐसा नहीं है, जो मांस न खाता हो। मैं शराब पीने के लिए तुम से नहीं कहता; पर मैं समझता हूँ, मांस तो तुम्हें अवश्य खाना चाहिए।"

मैंने कहा—"आपकी सलाह के लिए मैं आपका आभारी हूँ। पर मैंने अपनी माताजी को अभिवचन दिया है कि मैं मांस

न खाऊँगा। यदि उसके विना न रह सकते हों तो मैं फिर हिन्दुस्तान को लौट जाऊँगा—पर मांस हरगिज़ न खाऊँगा।"

बिस्के का उपसागर आया। वहाँ भी मुझे न तो मांस की आवश्यकता मालूम हुई, न मदिरा की। मुझ से कहा गया था कि मांस न खाने के प्रमाण-पत्र संग्रह करते रहना। सो मैंने इन अंगरेज मित्र से प्रमाण-पत्र मांगा। उन्होंने खुशी से दिया। बहुत समय तक मैंने उसे धन की तरह संभाल रक्खा। पीछे जा कर मुझे पता चला कि प्रमाण-पत्र तो मांस खा कर भी प्राप्त किये जा सकते हैं। तब उससे मेरा दिल हट गया। मैंने कहा—यदि मेरी बात पर किसी को विश्वास न हो तो ऐसे मामलों में प्रमाण-पत्र दिखाने से भी मुझे क्या लाभ हो सकता है ?

किसी तरह दुःख-सुख उठा हमारी यात्रा पूरी हुई और साउदेम्पटन बन्दर पर हमारे जहाज़ ने लङ्गर डाला। मुझे याद पड़ता है, उस दिन शनिवार था। मैं जहाज़ पर काले कपड़े पहनता था। मित्रों ने मेरे सफेद फलालैन के कोट-पतलून भी बना दिये थे। विलायत में उतरने के पहले मैंने उसे धारण किया—यह समझ कर कि सफेद कपड़े ज्यादह अच्छे मालूम होते हैं। इस लिबास में मैं जहाज से उतरा। सितम्बर के अन्तिम दिन थे। ऐसे लिबास में मैंने अपने ही को वहाँ पाया। मेरे सन्दूक और उनकी तालियाँ ले गये थे ग्रिन्डले कम्पनी के गुमाश्ते लोग। जैसा और लोग करते हैं, ऐसा ही मुझे भी करना चाहिए, यह समझ कर मैंने तो अपनी तालियां भी उन्हें दे दीं—!

मेरे पास चार परिचय-पत्र थे—एक डाक्टर प्राणजीवन मेहता के नाम, दूसरा दलपतराम शुक्ल के नाम, तीसरा प्रिन्स रणजीत

सिंहजी के नाम, और चौथा दादाभाई नवरोजी के नाम। मैंने साउदम्पटन से डाक्टर महेता को तार कर दिया था। जहाज में किसी ने सलाह दी थी कि विक्टोरिया होटल में ठहरना ठीक होगा। इसलिए मजमुदार और मैं वहाँ गये। मैं तो अपने सफेद कपड़ों की शर्म में ही बुरी तरह झेंप रहा था। फिर होटल में जा कर ख़बर पड़ी कि कल रविवार होने के कारण सोमवार तक ग्रिन्डले के यहाँ से सामान न आ पावेगा। मैं बड़ी दुविधा में पड़ गया।

सात-आठ बजे डाक्टर मेहता आये। उन्होंने प्रेम में मेरा मज़ाक उड़ाया। मैंने अनजान में उनकी रेशमी रूंए वाली टोपी देखने के लिए उठाई और उस पर उलटी तरह हाथ फेरने लगा। टोपी के रूंए उठ खड़े हुए। डाक्टर मेहता ने देखा। मुझे तुरन्त रोका। पर कुसूर तो हो चुका था। उनकी रोक का फल इतना ही हो पाया कि आगे फिर ऐसी हरकत न हो।

यहाँ से युरोपियन रस्म-रवाज का पहला पाठ पढ़ना मैंने शुरू किया। डाक्टर मेहता हँसते जाते और बहुतेरी बातें समझाते जाते। 'किसी की चीज को यहाँ छूना न चाहिए, हिंदुस्तान में परिचय होते ही जो बातें सहज पूछी जा सकती हैं, वे यहाँ न पूछनी चाहिए। बातें जोर जोर से न करनी चाहिए। हिंदुस्तान में साहबों के साथ बातें करते हुए 'सर' कहने का जो रिवाज है वह यहाँ अनावश्यक है, 'सर' तो नौकर अपने मालिक को, अथवा अपने अफसर को कहता है। फिर उन्होंने यह भी कहा कि होटल में तो खर्चा ज्यादह पड़ेगा और किसी कुटुम्ब के साथ रहना ठीक होगा। इस सम्बन्ध में अधिक विचार सोमवार तक मुल्तवी रहा। और कितनी ही बातें बता कर डाक्टर मेहता विदा हुए।

होटल में तो हम दोनों को ऐसा मालूम हुआ मानों कहीं से आ घुसे हों। खर्च भी बहुत पड़ता था। माल्टा से एक सिंधी यात्री सवार हुए थे। मजमुदार की ठीक जान-पहचान उनके साथ हो गई थी। ये सिंधी यात्री लन्दन के जानकार थे। उन्होंने हमारे लिए दो कमरे ले लेने का जिम्मा अपनी तरफ लिया। हम दोनों रजामन्द हुए और सोमवार को ज्यों ही सामान मिला, होटल का विल चुका कर उन कमरों में दाखिल हुए। मुझे याद है कि होटल का खर्चा लगभग ३ पौंड मेरे हिस्से में आया था। मैं तो भौंचक रह गया। तीन पौंड देकर भी भूखा ही रहा। वहाँ की कोई चीच अच्छी नहीं लगती। एक चीज उठाई, वह न भाई। तब दूसरी ली। पर दाम तो दोनों का देना पड़ता था। मैं अभी तक प्रायः बम्बई से लाये खाद्य-पदार्थों पर ही गुजरान करता रहा।

उस कमरे में तो मैं बड़ा दुखी हुआ। देश खूब याद आने लगा। माता का प्रेम साक्षात् सामने दिखाई पड़ता, रात होते ही रुलाई शुरू होती। घर की तरह तरह की बातें याद आतीं। उनकी चढाई से नींद भला क्यों आने लगी? फिर उस दुःख की बात किसीसे कह भी तो नहीं सकता था। कहने से लाभ भी क्या था? मैं खुद न जानता था कि मुझे किस इलाज से राहत मिलेगी। लोग निराले, रहन-सहन निराली, और मकान भी निराले, घरों में रहने का तौर-तरीका भी निराला, फिर यह भी अच्छी तरह नहीं मालूम कि किस बात के बोल देने से अथवा क्या करने से यहाँ के शिष्टाचार का अथवा नियम का भंग होता है। इसके अलावा खान-पान का परहेज अलग; और जिन चीजों को मैं खा सकता था, वे रूखी और सूखी मालूम होतीं। इस कारण मेरी हालत सांप-

छछूंदर जैसी हो गई। विलायत में अच्छा नहीं लगता था और देश को भी वापस नहीं लौट सकता था। और विलायत आ जाने के बाद तो फिर तीन साल पूरा कर के ही लौटने का निश्चय था।

---

(१४)

मेरी पसंदगी

डाक्टर मेहता सोमवार को विक्टोरिया होटल में मुझसे मिलने गये। वहाँ उन्हें हमारे नये मकान का पता लगा। वे वहाँ आये। मेरी बेवकूफी से जहाज़ में मुझे दाद हो गई थी। जहाज़ में खारी पानी से नहाना पड़ता। उसमें साबुन घुलता नहीं। इधर मैं साबुन से नहाने में सभ्यता समझता था। इसलिए शरीर साफ होने के बदले उलटा चिकना हो गया और मुझे दाद पैदा हो गई। डाक्टर ने तेजाब सा एसिटिक एसिड दिया, दवा ने मुझे खूब सताया। डाक्टर मेहता हमारे कमरे आदि को देख कर सिर धुनने लगे—'यह मकान काम का नहीं। इस देश में आ कर पढ़ने की अपेक्षा यहाँ का अनुभव प्राप्त करना ज्यादह जरूरी है। इसके लिए किसी कुटुम्ब में रहने की ज़रूरत है। पर फिलहाल कुछ बातें सीखने के लिए बतौर उम्मीदवार के—यहाँ रहना ठीक होगा। मैं तुमको उनके यहाँ ले चलूंगा।'

मैंने स-धन्यवाद उनकी बात मान ली, उन मित्र के यहाँ गया। उन्होंने मेरी खातिर-तवाजो में किसी बात की कसर न रक्खी। मुझे अपने भाई की तरह रक्खा, अंगरेजी रस्म-रवाज सिखाये।

अंगरेजी में कुछ बातचीत करने की टेव उन्होंने मुझे डाली।

मेरे भोजन का सवाल बड़ा विकट हो पड़ा। विना नमक, मिर्च; मसाले के साग भाता नहीं। मालकिन बेचारी मेरे लिए पकाती भी क्या? सुबह ओट-मील की एक किस्म की लपसी बनती, उससे कुछ पेट भर जाता। पर दो पहर को और शाम को हमेशा भूखा रहता। मित्र मांसाहार करने के लिए रोज़ समझाते। मैं प्रतिज्ञा का नाम ले कर चुप हो रहता। उनकी दलीलों का मुकाबला न कर सकता। दो पहर को सिर्फ रोटी और साग तथा मुरब्बे पर गुजर करता। यही खाना शाम को भी। मैं देखता कि रोटी के तो दो तीन ही टुकडे ले सकते हैं, ज्यादह मांगते हुए झेंप लगती। मेरा आहार काफी था। जठराग्नि तेज थी, और काफी आहार चाहती। दो पहर को या शाम को दूध मुत्लक नहीं मिलता था। मेरी यह हालत देख कर वे मित्र एक दिन झल्लाये और बोले—'देखो यदि तुम मेरे सगे भाई होते तो मैं जरूर तुमको वापस लौटा देता। निरक्षर माँ को यहाँ की हालत जाने बगैर, दिये गये वचन का क्या मूल्य? इसे प्रतिज्ञा ही नहीं कह सकते। मैं तुमसे कहता हूँ कि कानून के अनुसार भी यह प्रतिज्ञा नहीं है। ऐसी प्रतिज्ञा को लिये बैठे रहना अन्ध-विश्वास के सिवा कुछ नहीं। और ऐसे अन्ध-विश्वासों का शिकार बने रहकर तुम इस देश से अपने देश को कुछ नहीं ले जा सकते। तुम तो कहते हो कि मैंने मांस खाया है। तुम्हें तो वह भाया भी था। जहाँ खाने की कोई जरूरत न थी वहाँ तो खा लिया। जहाँ खास तौर पर जरूरत है, वहाँ उसका त्याग! कितने ताज्जुब की बात है।'

मैं टस से मस न हुआ।

ऐसी दलीलें रोज हुआ करतीं। छत्तीस रोगों की एक दवा 'नन्ना' ही मेरे पास थी। मित्र ज्यों ज्यों मुझे समझाते त्यों त्यों मेरी दृढता बढती। रोज मैं ईश्वर से रक्षा की याचना करता और रोज वह मिलती। मैं यह तो नहीं जानता था कि ईश्वर क्या चीज है, पर उस रंभा की दी हुई श्रद्धा अपना काम कर रही थी।

एक दिन मित्र ने मेरे सामने बेंथम की पुस्तक पढ़ना शुरू की। उपयोगिता वाद का विषय पढ़ा। मैं चौंका! भाषा क्लिष्ट। मैं थोड़ा—बहुत समझा। इन्होंने विवेचन किया। मैंने उत्तर दिया—

'मुझे इससे माफी दीजिये। मैं इतनी सूक्ष्म बातें नहीं समझता। मैं मानता हूँ कि मांस खाना उचित है। परन्तु प्रतिज्ञा के बंधन को मैं नहीं तोड़ सकता। इसके संबंध में मैं वादविवाद नहीं करना चाहता। मैं जानता हूँ कि बहस में मैं आपसे नहीं जीत सकता। पर मुझे मूर्ख समझ कर अथवा जिद्दी समज कर इस बात में मेरा नाम छोड़ दीजिए। आप के प्रेम को मैं पहचानता हूँ। आपके हेतु को भी मैं समझता हूँ। आपको मैं अपना परम हितैषी मानता हूँ। मैं यह भी देखता हूँ कि आप इसीलिए आग्रह करते हैं कि आपको मेरी हालत पर दुःख होता है। पर मैं लाचार हूँ। प्रतिज्ञा नहीं टूट सकती।

मित्र देखते रह गये। उन्होंने पुस्तक बंद कर दी। 'बस अब मैं तुमसे इस बात पर बहस न करूंगा।' कह कर चुप हो रहे। मैं खुश हुआ। इसके बाद उन्होंने बहस करना छोड़ दिया।

पर मेरी तरफ से उनकी चिंता दूर न हुई। वे सिगरेट पीते, शराब पीते। इनमें से एक भी बात के लिए मुझे कभी नहीं ललचाया। उलटे मना करते। पर उनकी सारी चिंता तो यह

थीं कि मांसाहार के बिना मैं कमज़ोर हो जाऊंगा और इंग्लैण्ड में आज़ादी से न रह सकूँगा।

इस तरह एक मास तक मैंने नौसिखिया के रूप में उम्मीद-वारी की। मित्र का स्थान रिचमंड में था, इससे लन्दन सप्ताह में एक दो बार ही जाया जाता। अब डाक्टर मेहता तथा श्री दलपतराम शुक्ल ने यह विचार किया कि मुझे किसी कुटुंब में रखना चाहिए। श्री शुक्ल ने वेस्ट केन्सिंगटन में एक एँग्लो इंडियन का घर खोजा और वहाँ मेरा डेरा लगा। मालकिन विधवा बाई थी। उससे मैंने अपने मांस-त्याग की कही। बुढ़िया ने मेरा प्रबंध करना स्वीकार किया। मैं वहाँ रहा। वहाँ भी भूखे ही दिन बीतते। घर से मैंने मिठाइयां आदि मंगाई थीं। सब बे-स्वाद लगता। बुढ़िया बार बार पूछती, पर बेचारी करती क्या? फिर मैं तो अभी तक ज्यों का त्यों झेंपू बना हुआ था ही। इससे ज्यादह मांगते हुए शर्माता। बुढ़िया के दो लड़कियां थीं। वे आग्रह करके कुछ रोटी ज्यादह देतीं। पर वे बेचारी क्या जानती थीं कि मेरा पेट तो तभी भर सकता था, जब उनकी सारी रोटी सफा कर जाता?

पर अब पंख फूटने लगे थे। अभी पढ़ाई तो शुरू हुई भी नहीं। यों ही अखबार वगैरह पढ़ने लगा था। यह हुआ शुक्ल जी के बदौलत। हिंदुस्तान में मैंने कभी अखबार नहीं पढ़ा। परन्तु निरंतर पढ़ने के अभ्यास से उन्हें पढ़ने का शौक लग गया। 'डेलीन्यूज़', 'डेली टेलिग्राफ' और 'पेल मेल गैज़ट' इतने अख-बारों पर नजर डाल लिया करता। परन्तु शुरू शुरू में इसमें एक घण्टे से ज्यादह न लगता था।

मैंने घूमना शुरू कर दिया । मुझे निरामिष अर्थात् अन्न-भोजन वाले भोजन-गृह की तलाश थी । मकान-मालकिन ने भी कहा था कि लन्दन शहर में ऐसे गृह हैं अवश्य । मैं १०—१२ मील रोज घूमता । किसी मामूली भोजनालय में जा कर रोटी तो पेट भर खा लेता; पर दिल न भरता । इस तरह भटकते हुए एक दिन मैं फेरिंग्टन स्ट्रीट पहुँचा, और 'वेजिटेरियन रेस्टरां' (अन्न-भोजनालय) नाम पढ़ा । बच्चे को मनचाही चीज़ मिलने से जो आनन्द होता है, वही मुझे हुआ । हर्षोन्मत्त होकर मैं अन्दर पहुँचा ही नहीं कि दरवाजे के पास, कांच की खिड़की में, पुस्तकें बिकती हुई देखीं ! उनमें मैंने सॉल्ट की 'अन्नाहार की हिमायत' नामक पुस्तक देखी । एक शिलिंग दे कर खरीदी, और फिर भोजन करने बैठा । विलायत में आने के बाद यही पहला दिन था, जब मैंने पेट भर खाना खाया । ईश्वर ने मेरी भूख बुझाई ।

साल्ट की पुस्तक पढ़ी । मेरे दिल पर उसकी अच्छी छाप पड़ी । यह पुस्तक पढ़ने के दिन से मैं अपनी इच्छा से, अर्थात् सोच समझ कर, अन्नाहार का कायल हुआ । माता के सामने की हुई प्रतिज्ञा अब मुझे आनन्ददायक जान पड़ी । अब तक जो मैं यह मान रहा था कि सब लोग मांसाहारी हो जांय तो अच्छा, और पहले केवल सत्य की रक्षा के लिए और पीछे से प्रतिज्ञा पालन के लिए मांसाहर से परहेज़ करता रहा, और भविष्य में किसी दिन आज़ादी से खुले आम मांस खा कर दूसरों को मांस-भोजियों की टोली में शामिल करने का हौंसला रखता था, सो अब से, उसके बजाय, खुद अन्नाहारी रह कर औरों को भी ऐसा बनाने का प्रलोभन सवार हुआ ।

(१५)

सभ्य वेश में

अन्नाहार पर मेरी श्रद्धा दिन दिन बढ़ती गई। सॉल्ट की पुस्तक ने आहार-विषय पर अधिक पुस्तकें पढ़ने की उत्सुकता तीव्र कर दी। ऐसी जितनी पुस्तकें मुझे मिलीं, उतनी खरीदी और पढ़ीं। हॉवर्ड विलियम्स की 'आहार-नीति' नामक पुस्तक में भिन्न भिन्न युग के ज्ञानियों, अवतारों, पैगम्बरों के आहार का और उससे संबंध रखने वाले उनके विचारों का वर्णन किया गया है। पाइथागोरस, ईसा-मसीह इत्यादि को उसने सहज अन्नाहारी साबित करने की कोशिश की है। डाक्टर मिसेज़ ऐना किंग्सफर्ड की 'उत्तम आहार की रीति' नामक पुस्तक भी चित्ताकर्षक थी। फिर आरोग्य-संबन्धी डा० एलिन्सन के लेख भी ठीक मददगार साबित हुए। उनमें इस पद्धति का समर्थन किया गया था कि दवा देने के बजाय केवल भोजन में फेरफार करने से रोगी कैसे अच्छे हो जाते हैं। डाक्टर एलिन्सन खुद अन्नाहारी थे और रोगियों को केवल अन्नाहार ही बताते। इन तमाम पुस्तकों के पठन का यह परिणाम हुआ कि मेरी जिंदगी में भोजन के प्रयोगों ने महत्व का स्थान प्राप्त कर लिया। शुरू में, इन प्रयोगों

में, आरोग्य की दृष्टि को प्रधानता थी। पीछे चल कर धार्मिक दृष्टि सर्वोपरि हो गई।

अब तक मेरे उन मित्र की चिंता मेरी तरफ से दूर न हुई थी। प्रेम के वशवर्त्ती हो कर वे यह मान बैठे थे कि यदि मैं मांसाहार न करूंगा तो कमज़ोर हो जाऊंगा, यही नहीं, बल्कि बुद्धू बना रह जाऊंगा; क्योंकि अंगरेज़-समाज में मिल-जुल न सकूंगा। उन्हें मेरे अन्नाहार-सम्बन्धी पुस्तकों के पढ़ने की खबर थी। उन्हें यह भय हुआ कि ऐसी पुस्तकों के पढ़ने से मेरा दिमाग़ खराब हो जायगा, प्रयोगों में मेरी जिंदगी यों ही बरबाद हो जायगी, जो मुझे करना है वह एक तरफ रह जायगा और मैं सनकी बन कर बैठ जाऊंगा। इस कारण उन्होंने मुझे सुधारने का आखिरी प्रयत्न किया। मुझे एक नाटक में चलने को बुलाया। वहाँ जाने के पहले उनके साथ हॉबर्न भोजनालय में भोजन करना था। यह भोजनालय मेरे लिए खासा एक महल था! विक्टोरिया होटल को छोड़ने के बाद ऐसे भोजनालय में जाने का यह पहला अनुभव था। विक्टोरिया होटल का अनुभव यों ही था; क्योंकि उस समय तो मैं कर्तव्य-मूढ था। सैकड़ों लोगों के बीच हम दो मित्रों ने एक मेज पर आसन जमाया। मित्र ने पहला खाना मंगाया। वह 'सूप' या शोरबा होता है। मैं दुविधा में पड़ा। मित्र से क्या पूछता? मैंने परोसने वाले को नज़दीक बुलाया।

मित्र समझ गये। चिढ कर बोले—

'क्या मामला है?'

मैंने धीमे से संकोच के साथ कहा—

'मैं जानना चाहता हूँ कि इसमें मांस है या नहीं?'

'ऐसा जंगलीपन इस भोजनालय में नहीं चल सकता। यदि तुमको अब भी चख़ चख़ करना हो तो बाहर जा कर किसी ऐरे-गैरे भोजनालय में जाकर खा लो और बाहर मेरी राह देखो।'

मुझे इस प्रस्ताव से खुशी हुई, और दूसरे भोजनालय की खोज में चला। पास ही एक अन्नाहार वाला भोजनालय था तो; पर वह बंद हो गया था। तब क्या करना चाहिए? कुछ न सूझ पड़ा। भूखा रहा। हम नाटक देखने गये। मित्र ने उस घटना के बारे में एक शब्द तक न कहा। मुझे तो कुछ कहना ही क्या था?

परन्तु हमारे दरमियान यह आखिरी मित्र-युद्ध था। इससे हमारा संबंध न तो टूटा, न उसमें कटुता ही आ पाई। मैं उनके तमाम प्रयासों के मूल में उनके प्रेम को देख रहा था, इससे विचार और आचार की भिन्नता रहते हुए भी मेरा आदर उनके प्रति बढ़ा ही।

पर अब मेरे मन में यह आया कि मुझे उनकी भीति दूर कर देनी चाहिए। मैंने निश्चय किया कि मैं अपने को जंगली न कहलाने दूंगा, सभ्यों के लक्षण प्राप्त करूंगा और दूसरे उपायों से समाज में सम्मिलित होने के योग्य बन कर अपनी अन्नाहार की विचित्रता को ढांक लूंगा।

मैंने 'सभ्यता' सीखने का रास्ता अखतियार तो किया, पर वह था मेरी पहुँच के परे और बहुत सकड़ा। अस्तु।

मेरे कपड़े विलायती परन्तु बंबई के काट के थे। अतएव वे अच्छे अंगरेज समाज में न फबें, इस विचार से 'आर्मी और नेवी' स्टोर में दूसरे कपड़े बनवाये। उन्नीस शिलिंग की (यह दाम उस जमाने में बहुत था) 'चीमकी' टोपी लाया। इससे भी

संतोष न हुआ। बॉंड स्ट्रीट में शौकीन लोगों के कपड़े सिये जाते थे। वहाँ शाम के कपड़े, दस पौंड पर बत्ती रखकर बनवाये। भोले और दर्यादिल बड़े भाई से खास तौर पर सोने की चेन बनवा कर मंगवाई, जो दोनों जेबों में लटकाई जा सकती थी। बंधी बंधाई तैयार टाई पहनने का रिवाज न था। इसलिए टाई बांधने की कला हस्तगत की। देश में तो आईना सिर्फ बाल बनवाने के दिन देखते पर यहाँ तो बड़े आईने के सामने खड़े रह कर टाई ठीक ठीक बांधने में और बाल की पट्टियाँ और ठीक ठीक मांग निकालने में रोज दसेक मिनिट बरबाद होते। फिर बाल मुलायम न थे। उन्हें ठीक सँवारे रखने के लिए बुरुस (यानी झाडू ही न ?) के साथ रोज लड़ाई होती। और टोपी देते और उतारते हाथ तो मानों माँग सँवारने के लिए शिर पर चढे ही रहते। और बीच बीच में जब कभी समाज में बैठे हों तब मांग पर हाथ फेर कर बालों को सँवारते रहने की एक और सभ्य क्रिया तो होती ही रहती थी!

परन्तु इतनी तडक-भडक काफी न थी। अकेले सभ्य लिवास पहन लेने से थोड़े ही कोई सभ्य हो जाता है? सभ्यता की और भी कितनी ही ऊपरी बातें मालूम कर ली थीं। अब उनके अनुसार करना बाकी था। सभ्य पुरुष को नाचना आना चाहिए, उसे फ्रेंच भाषा ठीक ठीक जानना चाहिए। क्योंकि फ्रेञ्च इङ्गलैण्ड के पडौसी फ्रान्स की भाषा थी और सारे योरप की राष्ट्र भाषा भी थी। मुझे योरप में भ्रमण करने की इच्छा भी थी। फिर सभ्य पुरुष को व्याख्यान देने की कला में निपुण होना चाहिए। मैंने नाचना सीख लेने का निश्चय किया। नाचने की एक कक्षा में

भरती हुआ। एक सत्र की फीस तीनेक पौंड दी। कोई तीन सप्ताह में पांच-छः पाठ पढ़े होंगे। ठीक ठीक ताल पर पाँव नहीं पडता था। पियानो तो वजता था, पर यह न जान पडता था कि वह क्या कह रहा है। 'एक दो, तीन का क्रम चलता, परन्तु इनके वीच का अन्तर तो वह वाजा ही दिखाता था—सो कुछ समझ न पडता। तो अब? अब तो वावाजी की लँगोटी वाला किस्सा हुआ। लँगोटी को चूहों से बचाने के लिए विल्ली, और विल्ली के लिए वकरी—इस तरह वावाजी का परिवार बढ़ा। सोचा, वायोलिन वजाना सीख लूँ—तो सुर और ताल का ज्ञान हो जायगा। तीन पौंड वायोलिन खरीदने में विगाड़े और उसे सिखाने के लिए भी कुछ दक्षिणा दी! व्याख्यान-कला सीखने के लिए एक और शिक्षक का घर खोजा। उसे भी एक गिनी भेट की। उसकी प्रेरणा से स्टैंडर्ड एलोक्युशनिस्ट' खरीदा। पिट के भाषण से श्रीगणेश हुआ।

पर इन वेल साहव ने मेरे कान में घण्ट वजाया। मैं जगा, सचेत हुआ।

मैंने कहा—"मुझे सारी जिन्दगी तो इंगलैंड में विताना है नहीं। मैं लच्छेदार व्याख्यान देना सीख कर भी क्या करूँगा? नाच नच कर मैं सभ्य कैसे वनूँगा? वायोलिन तो देश में भी सीख सकता हूँ। फिर मैं तो ठहरा विद्यार्थी। मुझे तो विद्या-धन वढ़ाना चाहिए। मुझे अपने पेशे के लिए आवश्यक तैयारी करनी चाहिए। अपने सद्व्यवहार के द्वारा यदि मैं सभ्य समझा जाऊँ तो ठीक है, नहीं तो मुझे यह लोभ छोड़ देना चाहिए।"

इस विचार की धुन में पूर्वोक्त आशय का पत्र मैंने व्याख्यान शिक्षक को भेज दिया। उससे मैंने दो या तीन ही पाठ पढ़े थे।

नाच-शिक्षिका को भी ऐसा ही पत्र लिख दिया। वायोलिन शिक्षिका के यहाँ वायोलिन ले कर पहुँचा। उसे कह आया—जो दाम मिलें लेकर बेंच दो। उससे कुछ मित्रता सी हो गई थी। इसलिए उससे मैंने अपनी इस बेवकूफी का जिक्र किया। नाच इत्यादि के जंजाल से छूट जाने की बात उसे पसन्द हुई।

सभ्य बनने की मेरी यह सनक कोई तीन महीने चली होगी। कपड़ों की तड़क-भड़क बरसों तक चली। पर अब मैं विद्यार्थी बन गया था।

परिवर्त्तन

कोई यह न समझें कि नाच आदि के मेरे प्रयोग मेरी उच्छृङ्खलता के युग को सूचित करते हैं। पाठकों ने देखा ही होगा कि उसमें कुछ विचार था। इस मूर्छा के समय में भी कुछ अंश तक मैं सावधान था। एक एक पाई का हिसाब रखता। खर्च का अन्दाज़ था। यह निश्चय कर लिया था कि १५ पौंड प्रति मास से अधिक खर्च न हो। मोटर (buss) किराया और डाक खर्च भी हमेशा लिखता और सोने के पहले हमेशा हिसाव का मेल मिला लेता। यह टेव अन्त तक कायम रही; और मैंने देखा है कि उसके बदौलत सार्वजनिक कार्य्यों में जो मेरे हाथ से लाखों रुपये खर्च हुए, उसमें मैं किफायत से काम ले सका हूँ; और जितनी हल चलें मेरी देख-रेख में चली हैं, उनमें मुझे कर्ज नहीं करना पड़ा। उलटा हरेक में कुछ न कुछ बचत ही रही है। यदि हरेक नवयुवक अपने थोड़े रुपयों का भी हिसाव चिन्ता के साथ रक्खेगा, तो उसका लाभ उसे अवश्य मिलेगा जैसा कि आगे चल कर मुझे और समाज दोनों को मिला। अपनी रहन-सहन पर मेरी कड़ी नज़र थी। इसलिए मैं देख सकता था कि मुझे

कितना खर्च करना चाहिए। अब मैंने खर्च आधा कर डालने का विचार किया। हिसाब को ग़ौर से देखा तो मालूम हुआ कि गाड़ी-भाड़े का खर्च काफी बैठता था। फिर एक कुटुम्ब के साथ रहने के कारण कुछ न कुछ खर्च प्रति सप्ताह लग ही जाता। कुटुम्ब के लोगों को एक न एक दिन भोजन के लिए बाहर ले जाने के शिष्टाचार का पालन करना जरूरी था। फिर उनके साथ कई बार दावतों में जाना पड़ता और उसमें गाड़ी-भाड़ा लगता ही। मालकिन की लड़की यदि साथ हो तो उसको अपना खर्च न देने दे कर खुद ही देना उचित था। और बाहर जाने पर घर का खाना यों ही रक्खा रहता। उसके भी पैसे देने पड़ते और बाहर भी खर्च करना पड़ता। मैंने देखा कि यह खर्च बचाया जा सकता है और यह भी ध्यान में आया कि लोक-लाज से जो कितना ही खर्च करना पड़ता है वह भी बच सकता है।

अब कुटुम्ब के साथ रहना छोड़ कर अलग कमरा लेकर रहने का निश्चय किया, और यह भी तय किया कि काम के अनुसार तथा अनुभव प्राप्त करने के लिए अलग अलग मुहल्लों में घर लेने चाहिए। घर ऐसी जगह पसन्द किया कि जहां से काम के स्थान पर पैदल जा सकें और गाड़ी-भाड़ा बच जाय। इससे पहले जाने के लिए एक तो गाड़ी भाड़ा खर्चना पड़ता और दूसरे घूमने जाने के लिए अलग वक्त निकालना पड़ता। अब ऐसी तजवीज़ हो गई कि जिससे काम पर जाने के साथ ही घूमना भी हो जाया करता। आठ दस मील तो मैं सहज घूम फिर डालता। प्रधानतः इसी एक आदत के कारण विलायत में शायद ही बीमार पड़ा हूं। शरीर ठीक ठीक सुगठित हुआ। कुटुम्ब के साथ रहना छोड़ कर

दो कमरे किराये लिये, एक सोने के लिए और एक बैठने के लिए। इस परिवर्त्तन को दूसरा युग कह सकते हैं। तीसरा परिवर्त्तन अभी आगे आने वाला है।

इस तरह आधा खर्च बचा। पर समय ? मैं जानता था कि बैरिस्टरी की परिक्षा के लिए बहुत पढ़ने की जरूरत नहीं है। इसलिए मैं बेफिकर था। मेरी कच्ची अंगरेजी मुझे खला करती थी। लेली साहब के शब्द 'बी० ए० हो कर मेरे पास आना' मुझे चुभते थे। मैंने सोचा, बैरिस्टर होने के अतिरिक्त मुझे कुछ और अध्ययन भी करना चाहिए। आक्स-फर्ड-केम्ब्रिज में पता लगाया। कितने ही मित्रों से मिला। देखा, कि वहाँ जाने से खर्च बहुत पड़ेगा और पाठ्य-क्रम भी लम्बा है। मैं तीन वर्ष से ज्यादा वहाँ रह नहीं सकता था। किसी मित्र ने कहा—'यदि तुम कोई कठिन परीक्षा ही देना चाहते हो, तो लन्दन की प्रवेश परीक्षा पास करो। उसमें परिश्रम काफी करना पड़ेगा और सामान्य ज्ञान बढ़ जायगा। साथ ही खर्च बिलकुल नहीं बढ़ेगा'। यह बात मुझे पसन्द हुई। परीक्षा के विषय देख कर मेरे कान खड़े हुए। लैटिन और एक दूसरी भाषा अनिवार्य थी। अब लैटिन की तैयारी कैसे हो ? मित्र ने सुझाया—'वकील को लैटिन का बड़ा काम पड़ता है। लैटिन जानने वाले को कानून की पुस्तकें समझने में सहूलियत होती है। फिर रोमन लॉ की परीक्षा में एक प्रश्न-पत्र तो केवल लैटिन भाषा का ही होता है, और लैटिन जान लेने से अंगरेजी भाषा पर ज्यादा अधिकार हो जाता है'। इन बातों का असर मेरे दिल पर हुआ। मैंने निश्चय किया। एक खानगी मैट्रीक्यूलेशन क्लास खुला था, उसमें भर्ती हुआ। परीक्षा हर छः महीने होती।

मुझे मुश्किल से पाँच महीने का समय था। यह काम मेरे बूते के बाहर था। परिणाम यह हुआ कि सभ्य बनने की धुन से मैं अत्यन्त उद्यमी विद्यार्थी बन गया। टाइम-टेबिल बनाया। एक एक मिनिट बचाई। परन्तु मेरी बुद्धि और स्मरण-शक्ति ऐसी न थी कि दूसरे विषयों के उपरान्त लैटिन और फ्रैंच को भी संभाल सकता। परीक्षा दी। लैटिन में फेल हुआ। दुःख तो हुआ, पर हिम्मत न हारी। लैटिन का स्वाद लग गया था। सोचा कि फ्रैंच ज्यादा अच्छी हो जायगी और विज्ञान में नया विषय लेलूँगा। रसायन शास्त्र, जिसमें मैं अब देखता हूँ कि खूब मन लगना चाहिए, प्रयोगों के अभाव में, मुझे अच्छा ही न लगा। देश में यह विषय मेरे पाठ्य-क्रम में रहा ही था। इसलिए लन्दन-मैट्रिक के लिए भी पहली बार इसीको पसन्द किया। इस बार 'प्रकाश और उष्णता' को लिया। यह विषय आसान समझा जाता था। मुझे भी आसान मालूम हुआ।

फिर परीक्षा देने की तैयारी के साथ ही रहन-सहन में और भी सादगी दाखिल करने की कोशिशें कीं। मुझे लगा कि अभी मेरे जीवन में इतनी सादगी नहीं आ गई है जो मेरे खानदान की ग़रीबी को शोभा दे। भाई साहब की तंगदस्ती और उदारता का खयाल आते ही मुझे बड़ा दुःख होता। जो १५ पौंड और ७ पौंड प्रतिमास खर्चते थे उन्हें तो छात्र-वृत्तियाँ मिलती थीं। मुझ से अधिक सादगी से रहने वालों को भी मैं देखता था। ऐसे गरीब विद्यार्थी काफी तादाद में मेरे संपर्क में आते थे। एक विद्यार्थी लन्दन के ग़रीब मुहल्ले में प्रति सप्ताह दो शिलिंग दे कर एक कोठरी में रहता था, और लोकार्ट की सस्ती कोको की दुकान

में दो पेनी की कोको और रोटी खा कर गुजारा करता था। उसकी प्रति स्पर्धा करने की तो मेरी हिम्मत न थी; पर इतना जरूर समझा कि मैं दो की जगह एक ही कमरे से काम चला सकता हूँ और आधी रसोई हाथ से भी पका सकता हूँ। ऐसा करने से मैं ४ या ५ पौंड मासिक पर रह सकता था। सादा रहन-सहन-सम्बन्धी पुस्तकें भी पढ़ी थीं। दो कमरे छोड़ कर आठ शिलिंग प्रति सप्ताह का एक कमरा किराये लिया। एक स्टो खरीदा और सुबह हाथ से पकाने लगा। बीस मिनिट से अधिक पकाने में नहीं लगता था। ओट-मील की लपसी और कोको के लिए पानी उबालने में कितना समय जा सकता था? दोपहर को बाहर कहीं खा लेता इस तरह मैं रोज एक से सवा शिलिंग में भोजन करने लगा। यह मेरा समय अधिक से अधिक पढाई का था। जीवन सादा हो जाने से समय ज्यादह बचने लगा। दुबारा परीक्षा दी और उत्तीर्ण हुआ।

पाठक यह न समझें कि सादगी से जीवन नीरस हो गया हो। उलटा इन परिवर्त्तनों से मेरी आंतरिक और बाह्य स्थिति में एकता पैदा हुई। कौटुम्बिक स्थिति के साथ मेरी रहन-सहन का मेल मिला। ज़ीवन अधिक सत्यमय बना। मेरे आत्मानन्द का पार न रहा।

---

(१७)

भोजन के प्रयोग

जैसे जैसे मैं जीवन के विषय में गहरा विचार करता गया तैसे तैसे बाहरी और भीतरी आचार में परिवर्तन करने की आवश्यकता मालूम होती गई। जिस गति से रहन-सहन में अथवा खर्च में परिवर्तन हुआ उसी गति से अथवा उससे भी अधिक वेग से भोजन में परिवर्तन आरंभ हुआ। अन्नाहार-विषयक अंगरेजी पुस्तकों में मैंने देखा कि लेखकों ने बड़ी छान बीन के साथ विचार किया है। अन्नाहार पर उन्होंने धार्मिक वैज्ञानिक, व्यावहारिक और वैद्यक की दृष्टि से विचार किया था। नैतिक दृष्टि से उन्होंने यह दिखाया कि मनुष्य को जो सत्ता पशु-पक्षी पर प्राप्त हुई है, वह उनको मार खाने के लिए नहीं बल्कि उनकी रक्षा के लिए हैं; अथवा जिस प्रकार मनुष्य एक दूसरे का उपयोग करता है परन्तु एक दूसरे को खाता नहीं, उसी प्रकार पशु पक्षी भी उपयोग के लिए हैं, खा डालने के लिए नहीं। फिर उन्होंने यह भी दिखाया कि खाना भी भोग के लिए नहीं बल्कि जीने के लिए ही है। इस पर से कुछ लोगों ने भोजन में मांस तो ठीक, परन्तु अण्डे और दूध तक को निषिद्ध बताया। विज्ञान की तथा

मनुष्य की शरीर-रचना की दृष्टि से कुछ लोगों ने यह अनुमान निकाला कि मनुष्य को खाना पकाने की बिल्कुल आवश्यकता नहीं। उसकी सृष्टि तो सिर्फ पेड पर पके फलों को ही खाने के लिए हुई है। दूध वह सिर्फ माता का ही पी सकता है। दांत निकलने के बाद उसे ऐसा ही खाना खाना चाहिए जो चबाया जा सके। वैद्यक की दृष्टि से उन्होंने मिर्च-मसाले को त्याज्य ठहराया। और व्यावहारिक तथा आर्थिक दृष्टि से बताया कि सस्ते से सस्ता भोजन अन्न ही है। इन चारों दृष्टि-बिन्दुओं का असर मुझ पर हुआ और अन्नाहार वाले भोजनालयों में चारों दृष्टि-बिन्दु रखने वाले लोगों से मुलाकात बढाने लगा। विलायत में ऐसे विचार रखने वालों की एक संस्था थी। उसकी ओर से एक साप्ताहिक पत्र भी निकलता था। मैं उसका ग्राहक बना और संस्था का भी सभासद हुआ। थोडे ही समय में मैं उसकी कमिटी में ले लिया गया। यहाँ मेरा उन लोगों से परिचय हुआ जो अन्नाहारियों के स्तम्भ माने जाते थे। मैं प्रयोगों में उलझता गया।

घर से जो मिठाई, मसाले आदि मंगाये थे उन्हें मना कर दिया, और अब मन दूसरी ही तरफ दौड़ने लगा। इससे मिर्च-मसाले का शौक मंद पड़ता गया और जो साग रिचमंड में मसाले बिना फीका मालूम होता था, वह अब केवल उबाला हुआ होने पर भी स्वादिष्ट लगने लगा। ऐसे अनेक अनुभवों से मैंने जाना कि स्वाद का सच्चा स्थान जीभ नहीं, बल्कि मन है।

आर्थिक दृष्टि तो मेरे सामने थी ही। उस समय एक ऐसा दल भी था जो चाय-काफी को हानि कारक मानता और कोको का समर्थन करता। केवल शरीर व्यापार के लिए किसी चीज़ का

खाना-पीना आवश्यक है, यह मैं समझ चुका था। इसीलिए चाय-काफी मुख्यतः छोड़ दी और कोको को उनका स्थान दिया।

भोजनालय में दो विभाग थे। एक में जितनी चीज़ खाते उतने ही के दाम देने पड़ते। इसमें एक बार में एक दो शिलिंग भी ख़र्च हो जाते। इसमें अच्छी स्थिति के लोग आते। दूसरे विभाग में छः पेनी में तीन चीज़ें और रोटी का एक टुकड़ा मिलता जब मैंने ख़ूब किफायतशारी अख्तियार की तब ज्यादातर मैं छः पेनी वाले विभाग में भोजन करता।

इन प्रयोगों में उप-प्रयोग तो बहुतेरे हो गये। कभी स्टार्च वाली चीज़ें छोड़ देता, कभी सिर्फ रोटी और फल पर ही रहता, कभी पनीर, दूध और अंडे ही लेता।

यह आखिरी प्रयोग लिखने लायक है। यह पंद्रह दिन भी न चला। जो बिना स्टार्च की चीज़ें खाने का समर्थन करते थे, उन्होंने अंड़ों की तारीफ के खूब पुल बांधे थे और यह साबित किया था कि अंडे मांस नहीं हैं और तुर्रा यह कि उनको लेने से जीते प्राणी को कोई कष्ट नहीं। इस दलील के चक्कर में आ कर अपनी प्रतिज्ञा के रहते हुए भी मैंने अंडे खाये। पर मेरी यह मूर्छा थोड़ी ही देर ठहरी। प्रतिज्ञा का नया अर्थ करने का मुझे अधिकार न था। अर्थ तो वही ठीक है जो प्रतिज्ञा दिलाने वाला करे। मैं जानता था कि जिस समय माँ ने मांस न खाने की प्रतिज्ञा दिलाई थी, उस समय अंडे का ख्याल उसे नहीं हो सकता था। इसलिए ज्योंही प्रतिज्ञा का यह रहस्य मेरे ख्याल में आया, मैंने अंडे छोड़ दिये और वह प्रयोग भी बंद कर दिया।

यह रहस्य सूक्ष्म और ध्यान में रखने योग्य है। विलायत

में मैंने मांस की तीन व्याख्यायें पढ़ी थीं। एक में मांस का अर्थ था पशु-पक्षी का मांस। इसलिए इस व्याख्या के कायल लोग उसको तो न छूते परंतु मछली खाते और अंडे खाने में तो कोई बुराई ही न समझते थे। दूसरी व्याख्या के अनुसार जिसे आम तौर पर हम प्राणी या जीव कहते हैं उसका मांस वर्जित था। इस के अनुसार मछली त्याज्य थी, परन्तु अंडे ग्राह्य थे। तीसरी व्याख्या में आम तौर पर प्राणी-मात्र और उनमें से बनने वाली चीजें निषिद्ध मानी गई थीं। इस व्याख्या के अनुसार अंडे और दूध छोड़ देना लाजिमी था। इसमें यदि पहली व्याख्या को मैं मानता तो मछली भी खा सकता था। परन्तु मैंने अच्छी तरह समझ लिया था, कि मेरे लिए तो माताजी की व्याख्या ही ठीक थी। इसलिए अंडे छोड़ दिये। इससे मैं कठिनाई में पड़ गया। क्योंकि बारीकी से जब मैंने खोज की तो पता लगा कि अन्नाहार वाले भोजनालयों में भी बहुतसी चीजें ऐसी बना करती थीं जिनमें अंडे पड़ा करते थे। फलतः वहाँ भी परोसने वाले से पूछ ताछ करना मेरे नसीब में बदा रहा, जब तक कि मैं खूब वाकिफ न हो गया। क्योंकि बहुतेरे पुडिंग में और बहुतेरे केक में अंडे जरूर ही रहते हैं। इस कारण एक तरह से तो मैं जंजाल से छूट गया; क्योंकि फिर तो मैं बिलकुल सादी और मामूली चीजें ही ले सकता था। हाँ, दूसरी तरफ कुछ दिल को धक्का अलबत्ते पहुँचा; क्योंकि ऐसी कितनी ही वस्तुयें छोड़नी पड़ीं, जिनका स्वाद जीभ को लग गया था। पर यह धक्का क्षणिक था। प्रतिज्ञा-पालन का स्वच्छ, सूक्ष्म और स्थायी स्वाद मुझे उस क्षणिक स्वाद से अधिक प्रिय मालूम हुआ।

परन्तु सच्ची परीक्षा तो अभी आगे आने वाली थी। उसका सम्बन्ध था दूसरे व्रत से। परन्तु—

'जाको राखे साइयां मार न सक्के कोय।'

इस प्रकरण को पूरा करने के पहले प्रतिज्ञा के अर्थ के सम्बन्ध में कुछ कहना जरूरी है। मेरी प्रतिज्ञा माता से किया हुआ इकरार था। दुनियां में बहुतेरे झगड़े इकरारों के अर्थ की खींचा-तानी से पैदा होते हैं। आप चाहे कितनी ही स्पष्ट भाषा में इक-रार नामा लिखिए। फिर भी अर्थ—शास्त्री तोड़-मरोड़ कर अपने मतलब का अर्थ निकाल ही लेंगे। इसमें सभ्यासभ्य का भेद नहीं रहता। स्वार्थ सबको अन्धा बना डालता है। राजा से ले कर रंक तक इकरारों का अर्थ अपने मन के मुआफिक लगा कर दुनियां को, अपने को और ईश्वर को धोखा देते हैं। इस प्रकार जिस शब्द अथवा वाक्य का अर्थ लोग अपने मतलब का लगाते हैं उसे न्याय-शास्त्र दुमानी मध्यमपद कहता है। स्वर्ण-न्याय तो यह है कि प्रतिपक्षी ने हमारी बात का जो अर्थ—समझा हो वही ठीक समझना चाहिए। हमारे मन में जो अर्थ रहा हो वह झूठा और अधूरा समझना चाहिए। और ऐसा ही एक दूसरा स्वर्ण-न्याय यह है कि जहाँ दो अर्थ निकलते हों वहाँ वह अर्थ ठीक मानना चाहिए जिसे कमजोर पक्ष ठीक समझता हो। इन दो स्वर्ण-मार्गों पर न चलने के कारण ही बहुत-कुछ झगड़े होते हैं और अधर्म चला करता है। और इस अन्याय की जड़ है असत्य। जो सत्य के ही रास्ते चलना चाहता है, उसे स्वर्ण-मार्ग सहज ही प्राप्त हो जाता है। उसे शास्त्रों की पोथियां नहीं उलटनी पड़तीं। माता ने मांस शब्द का जो अर्थ माना था और जो मैं उस समय

समझा था वही मेरे लिए सच्चा अर्थ था। और जो अर्थ मैंने अपनी विद्वत्ता के मद में किया अथवा यह मान लिया कि अधिक अनुभव से सीखा वह सच्चा न था।

अब तक के मेरे प्रयोग आर्थिक और आरोग्य की दृष्टि से होते थे। विलायत में उन्हें धार्मिक स्वरूप प्राप्त नहीं हुआ था। धार्मिक दृष्टि से तो मेरे कठोर प्रयोग दक्षिण आफ्रिका में हुए, जिनका ज़िकर आगे आवेगा। पर हां, यह जरूर कह सकते हैं कि उनका बीजारोपण विलायत में हुआ।

मसल मशहूर है कि 'नया मुसलमान ज़ोर से बांग देता है।' अन्नाहार विलायत में एक नया धर्म ही था और मेरे लिए भी वह नया ही था। समझ बूझ कर अन्नाहार की नीति तो मैंने विलायत में ही ग्रहण की थी। इसलिए मेरी हालत 'नये मुसलमान' की सी थी। नवीन धर्म को ग्रहण करने वाले का उत्साह मुझ में आ गया था, अतएव जिस मुहल्ले में मैं रहता था, वहाँ अन्नाहारी मंडल स्थापित करने का प्रस्ताव किया। मुहल्ले का नाम था, 'वेज़ वाटर'। उसमें सर एडविन एर्नाल्ड रहते थे। उन्हें उपाध्यक्ष बनाने का यत्न किया। वे हो भी गये। डाक्टर ओल्डफील्ड अध्यक्ष बनाये गये। और मन्त्री बना मैं। थोड़े समय तो यह संस्था कुछ चली; परन्तु कुछ महीनों के बाद उसका अन्त आ गया क्योंकि अपने दस्तूर के मुताबिक उस मुहल्ले को कुछ समय के बाद मैंने छोड़ दिया। परन्तु इस छोटे और थोड़े समय के अनुभव से मुझे संस्थाओं की रचना और सञ्चालन का कुछ अनुभव प्राप्त हुआ।

---

(१८)

झेंप—मेरी ढाल

अन्नाहारी-मण्डल की कार्य-समिति में मैं चुना गया तो ज़रूर, उसमें हाजिर भी ज़रूर होता, परन्तु बोलने को मुंह ही न खुलता था। डाक्टर ओल्डफील्ड कहते—'तुम मेरे साथ तो अच्छी तरह बातें करते हो; परन्तु समिति की बैठक में कभी मुंह नहीं खोलते। तुम्हें नर-मक्खी क्यों न कहना चाहिए? मैं इस विनोद का भाव समझा। मक्खियाँ तो निरन्तर काम करती रहती हैं; परंतु नर-मक्खी कुछ काम नहीं करता—हाँ खाता-पीता अलबत्ते रहता है। समिति में और लोग तो अपने अपने मत प्रदर्शित करते; पर मैं मुंह सी कर चुपचाप बैठा रहूं—यह भौंड़ा मालूम होता था। यह बात नहीं, कि बोलने के लिए मेरा दिल न होता हो। पर समझ ही नहीं पड़ता कि बोलूं कैसे? सभी सभ्य मुझे अपने से अधिक जानने वाले दिखाई देते। फिर ऐसा भी होता कि कोई विषय मुझे बोलने-योग्य मालूम हुआ और मैं बोलने की हिम्मत करने लगता कि इतने ही में दूसरा विषय चल निकलता।

बहुत दिनों तक ऐसा चलता रहा। एक बार समिति में एक

गंभीर विषय निकला। उसमें योग न देना अनुचित या अन्याय था। चुपचाप मत दे कर खामोश हो रहना दब्बूपन था। मण्डल के अध्यक्ष 'टेम्स आयर्न वर्क्स' के मालिक मिस्टर हिल्स थे। वे कट्टर नीति-वादी थे। प्रायः उन्हींके द्रव्य पर मण्डल चल रहा था। समिति के बहुतेरे लोग उन्हींकी छत्र-छाया में निभ रहे थे। इस समिति में डाक्टर एलिन्सन भी थे। इन दिनों संतान-निग्रह के लिए कृत्रिम उपाय काम में लाने की हलचल चल रही थी। डा० एलिन्सन कृत्रिम उपायों के हामी थे और मजूरों में उसका प्रचार करते थे। मि० हिल्स को ये उपाय नीति-नाशक मालूम होते थे। उनके नजदीक अन्नाहारी-मण्डल केवल भोजन सुधार के ही लिए नहीं था, वल्कि एक नीति-वर्धक मण्डल भी था। और इस कारण उनकी यह राय थी कि डा० एलिन्सन जैसे समाज-घातक विचार रखने वाले लोग इस मण्डल में न होने चाहिए। इसलिए डा० एलिन्सन को समिति में से हटाने का प्रस्ताव पेश हुआ। मैं इस चर्चा में दिलचस्पी लेता था। डा० एलिसन के कृत्रिम उपायों वाले विचार मुझे भयंकर मालूम हुए। उनके मुक़ावले में मि० हिल्स के विरोध को मैं शुद्ध नीति मानता था। मि० हिल्स को मैं बहुत मानता था। उनकी उदारता को मैं आदर की दृष्टि से देखता था। परंतु एक अन्नाहार—वर्धक मण्डल में से एक ऐसे पुरुष का निकाला जाना जो कि शुद्ध नीति का कायल न हो, मुझे बिल्कुल अन्याय दिखाई पड़ा। मेरा मत हुआ कि अन्नाहारी मण्डल के स्त्री-पुरुष सम्बन्ध विषयक हिल्स साहब के विचारों से मण्डल के सिद्धांत का कोई सम्बंध न था, वे उनके अपने विचार थे। मण्डल का उद्देश तो था केवल अन्ना-

हार का प्रचार करना, किसी नीति-नियम का प्रचार नहीं। इसलिए, मेरा यह मत था कि, दूसरे कितने ही नीति-नियमों का अनादर करने वाले मनुष्य के लिए भी मण्डल में स्थान हो सकता है।

यद्यपि समिति में और लोग भी मुझ जैसे विचार रखते थे। परंतु इस बार मुझे अपने विचार प्रदर्शित करने की बड़ी प्रेरणा भीतर ही भीतर से हो रही थी। मगर सब से बड़ा प्रश्न यह था कि यह हो कैसे? बोलने की मेरी हिम्मत थी नहीं। इसलिए मैंने अपने विचार लिखकर अध्यक्ष को दे देने का निश्चय किया। मैं अपना वक्तव्य लिखकर ले गया। जहाँ तक मुझे याद है, उस समय लेख को पढ़ सुनाने का भी साहस मुझे न हुआ। अध्यक्ष ने दूसरे सदस्य से उसे पढवाया। डा० एलिन्सन का पक्ष हारा। अर्थात् इस तरह के इस पहले युद्ध में मैं हारनेवालों की तरफ था। परंतु मुझे निश्चय था कि सचाई इसी पक्ष में थी। इसलिए मुझे अपने दिल में पूरा संतोष था। मुझे कुछ ऐसा याद पड़ता है कि उसके बाद मैंने समिति से इस्तीफा दे दिया था।

मेरी यह झेंप विलायत में अंत तक कायम रही। किसी से यदि मिलने जाता और वहाँ पाँच-सात आदमी इकट्ठे हो जाते तो वहाँ मेरी जबान न खुलती।

एक बार मैं वेंटनर गया। मजमुदार भी साथ थे। यहाँ एक अन्नाहारी घर था। उसमें हम दोनों रहते। 'एथिक्स आफ डायट' के लेखक इसी बन्दर में रहते थे। हम उनसे मिले। यहाँ अन्नाहार को उत्तेजना देने के लिए एक सभा हुई। उसमें हम दोनों को बोलने के लिए कहा गया। दोनों ने 'हाँ' कर लिया। मैंने यह जान लिया था कि लिखा हुआ भाषण पढ़ने में वहाँ कोई

आपत्ति न थी। मैं देखता था कि अपने विचारों को सिलसिलेवार और थोड़े में प्रकट करने के लिए कितने ही लोग लिखित भाषण पढ़ते। मैंने अपना व्याख्यान लिख लिया। बोलने की तो हिम्मत थी नहीं। पर जब पढ़ने खड़ा हुआ तो पढ़ भी न सका। आँखों के सामने अँधेरा छा गया और हाथ-पैर काँपने लगे। भाषण मुश्किल से फुल्सकेप का एक पन्ना रहा होगा। उसे मजुमदार ने पढ़ सुनाया। मजमुदार का भाषण तो बढ़िया हुआ। श्रोता कर-तल-ध्वनि से उनके वचनों का स्वागत करते जाते थे। मुझे बड़ी झेंप मालूम हुई और अपनी बोलने की अक्षमता पर बड़ा दुःख हुआ।

विलायत में सार्वजनिक रूप में बोलने का अन्तिम प्रयत्न मुझे तब करना पड़ा जब कि विलायत छोड़ने का अवसर आया। परन्तु उसमें मेरी बुरी तरह फ़जीहत हुई। विलायत से विदा होने के पहले अपने अन्नाहारी मित्रों को हाबर्न भोजनालय में मैंने भोजन के लिए निमंत्रित किया था। मैंने विचार किया कि अन्नाहारी भोजनालयों में तो अन्नाहार दिया ही जाता है; परन्तु मांसाहार वाले भोजनालयों में अन्नाहार का प्रवेश हो तो अच्छा। यह सोच कर मैंने इस भोजनालय के व्यवस्थापक से खास तौर पर प्रबन्ध करके अन्नाहार की तजवीज़ की। यह नया प्रयोग अन्नाहारियों को बड़ा अच्छा मालूम हुआ। यों तो सभी भोज भोग के ही लिए होते हैं; परन्तु पश्चिम में उसे एक कला का रूप प्राप्त हो गया है। भोजन के समय खास सजावट और धूम-धाम होती है। बाजे बजते हैं और भाषण होते हैं सो अलग, इस छोटे से भोज में भी यह सारा आडम्बर था ही। मेरे भाषण करने का समय

आया। मैं खड़ा हुआ। खूब सोच सोच कर बोलने की तैयारी करके गया था। थोड़े ही वाक्य तैयार किये थे। परन्तु पहले ही वाक्य से आगे न बढ़ सका। एडिसन वाली गत हुई। उसके झेंपूपन का हाल पढ़ चुका था। हाउस आफ् कामन्स में वह व्याख्यान देने खड़ा हुआ। 'मेरी धारणा है' 'मेरी धारणा है,' 'मेरी धारणा है'—यह तीन बार कहा; परन्तु उसके आगे न बढ़ सका। अंगरेजी शब्द जिसका अर्थ 'धारण करना' है। 'गर्भ धारण' के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। इसलिए, जब एडिसन आगे न बोल सका तब एक मसखरा सभ्य बोल उठा—'इन साहब ने तीन बार गर्भ धारण किया। पर पैदा कुछ न किया' इस घटना को मैंने ध्यान में रख छोड़ा था, और एक छोटीसी विनोद युक्त वक्तृता देने का विचार किया था। मैंने अपने भाषण का श्रीगणेश इसी कहानी से किया। पर वहीं अटक रहा। जो सोचा था सब भूल गया। और विनोद तथा रहस्य युक्त भाषण करते हुए मैं खुद ही विनोद का पात्र बन गया। 'सज्जनो, आपने जो मेरा निमन्त्रण स्वीकार किया इसके लिए मैं आपका उपकार मानता हूँ।' कह कर मुझे बैठ जाना पड़ा।

यह झेंपूपन जा कर ठेठ दक्षिण आफ्रिका में छूटा। बिल्कुल छूट गया हो सो तो अब भी नहीं कह सकते। अब भी बोलते हुए बिचारना तो पड़ता ही है। नये समाज में बोलते हुए सकुचाता हूँ। बोलने से पीछा छूट सके तो जरूर छुड़ा लूँ। और यह हालत तो आज भी है कि यदि किसी समाज में बैठा होऊँ, तो बातें करके उनको सन्तुष्ट नहीं कर सकता, और न ऐसा करने की इच्छा ही होती है।

परन्तु इस झेंपू स्वभाव के कारण मेरी फ़जीहत होने के अलावा और कुछ नुकसान न हुआ—कुछ फ़ायदा ही हुआ है। बोलने के संकोच से पहले तो मुझे दुःख होता था। पर अब सुख होता है। बड़ा लाभ तो यह हुआ कि मैं शब्दों की किफायत-शारी सीखा। अपने विचारों पर कब्जा करने की आदत सहज ही हो गई। अपने को मैं यह प्रमाण-पत्र आसानी से दे सकता हूँ कि मेरी जबान अथवा कलम से बिना विचारे अथवा बिना तौले शायद ही कोई शब्द निकलता हो। मुझे यह याद नहीं पड़ता कि अपने भाषण या लेख के किसी अंश के लिए शर्मिंदा होने या पछताने की आवश्यकता मुझे कभी हुई है। इसके बदौलत अनेक ख़तरों से मैं बच गया हूँ और बहुतेरा समय भी बच गया है—यह लाभ अलग है।

अनुभव ने यह भी बताया है कि सत्य के पुजारी को मौन का अवलम्बन करना उचित है। जान-अनजान में मनुष्य बहुत बार अत्युक्ति करता है अथवा कहने योग्य बात को छुपाता है या दूसरी तरह से कहता है। ऐसे संकटों से बचने के लिए भी अल्पभाषी होना आवश्यक है। थोड़ा बोलने वाला बिना विचारे नहीं बोलता, वह अपने हर एक शब्द को तौलेगा। बहुत बार मनुष्य बोलने के लिए अधीर हो जाता है। 'मैं भी बोलना चाहता हूँ' ऐसी चिट किस सभापति को न मिली होगी। फिर दिया हुआ समय भी उन्हें काफी नहीं होता, और बोलने की इजाज़त चाहते हैं, एवं फिर भी बिना ही इजाज़त के बोलते रहते हैं! इन सब के इतना बोलने से संसार को लाभ होता हुआ तो शायद ही दिखाई देता है। हाँ, यह अलबत्ते हम स्पष्ट देख सकते हैं कि इतना समय व्यर्थ जा

रहा है। इसलिए, यद्यपि, आरम्भ में मेरा झेंपूपन मुझे अखरता था, पर आज उसका स्मरण मुझे आनन्द देता है। यह झेंपूपन मेरी ढाल था। उससे मेरे विचारों को परिपक्व होने का अवसर मिला। सत्य की आराधना में उससे मुझे सहायता मिली।

---

(२८)

असत्य रूपी ज़हर

चालीस साल पहले विलायत जाने वालों की संख्या अब से कम थी। उनमें ऐसा रिवाज पड़ गया था कि खुद विवाहित होते हुए भी अपने को अविवाहित बताते। वहाँ हाईस्कूल अथवा कॉलेज में पढ़ने वाले सब अविवाहित होते हैं। वहां विवाहित के लिए विद्यार्थि-जीवन नहीं होता। हमारे यहां तो प्राचीन समय में विद्यार्थी का नाम ही ब्रह्मचारी था। बाल-विवाह की चाल तो यह इसी ज़माने में पड़ी है। बाल-विवाह का नाम-निशान विलायत में नहीं। इस कारण वहां भारतीय नव-युवकों को यह कहते हुए शरम मालूम होती है कि हमारा विवाह हो गया है। विवाह की बात के छिपाने का दूसरा मतलब यह है कि यदि यह बात मालूम हो जाय तो जिन कुटुम्बों में वे रहते हैं, उनकी युवती लड़कियों के साथ घूमने-फिरने और आमोद-प्रमोद करने की स्वतन्त्रता न मिलती। यह आमोद-प्रमोद बहुतांश में निर्दोष होता है और खुद मा-बाप भी ऐसे स्नेह-संबंध को पसंद करते हैं। वहाँ युवक और युवतियों में ऐसे सहवास की आवश्यकता भी समझी जाती है; क्योंकि वहां तो हरएक नव-युवक

को अपनी सह-धर्म-चारिणी खोज लेनी पड़ती है । इस कारण जो सम्बन्ध विलायत में स्वाभाविक समझा जा सकता है वही यदि हिन्दुस्तान के नवयुवक वहाँ जाकर बांधने लगे तो परिणाम भयंकर आये बिना नहीं रह सकता । ऐसे कितने ही भीषण परिणाम सुने भी गये हैं । फिर भी इस मोहिनी-माया में हमारे नवयुवक फंसे हुए थे । जो संबन्ध अंगरेज़ों के लिए चाहे कितना निर्दोष हो, पर जो हमारे नजदीक सर्वथा त्याज्य है, उसके लिए उन्होंने असत्याचरण पसन्द किया । मैं भी इस जाल में फँस गया । पांच छः वर्ष से विवाहित होते हुए और एक लड़के का बाप होते हुए भी मैं अपने को अविवाहित कहते न हिचका ? पर इसका स्वाद मैं बहुत न चख पाया । मेरे झेंपूपन ने और मौन ने मुझे बहुत बचाया। भला जब मैं बात ही नहीं कर सकता, कौन लड़की ऐसी फ़ाजिल होती जो मुझ से बात चीत करने आती । शायद ही कोई लड़की मेरे साथ घूमने निकलती ।

मैं जैसा झेंपू था वैसा ही डरपोक था । वेन्टनर में जैसे घर में रहता था, यह रिवाज था कि घर की लड़की मुझ जैसे अतिथि को घूमने ले जाय । तदनुसार मकान-मालकिन की लड़की मुझे वेन्टनर के आस पास की सुंदर पहाड़ियों पर घूमने ले गई । मेरी चाल यों धीमी न थी; परन्तु उसकी चाल मुझ से भी तेज़ थी । मैं तो एक तरह उसके पीछे खिंचता-घसीटता जाता था । वह तो रास्ते में बातों के फौव्वारे उड़ाती चलती और मेरे मुंह से कभी 'हां' और कभी 'ना' की ध्वनि निकल पड़ती । मैं बहुत से बहुत बोलता तो इतना ही कि 'वाह कैसा सुन्दर' ! वह तो हवा की तरह उड़ती चली जाती और मैं यह सोचता कि कब घर पहुँचेंगे ।

फिर भी यह कहने की हिम्मत न पड़ती कि चलो वापिस लौट चलें। इतने ही में हम एक पहाड़ी की चोटी पर आ खड़े हुए। अब उतरें कैसे? मगर ऊँची एड़ी के बूट होते हुए भी यह २०-२५ वर्ष की रमणी बिजली की तरह नीचे उतर गई और मैं शर्मिन्दा हो कर यह सोच ही रहा हूँ कि कैसे उतरें! वह नीचे उतर कर कह-कहा लगाती है और मुझे हिम्मत दिलाती है। कहती है—'ऊपर आ कर हाथ पकड़ कर नीचे खींच ले चलूं?' मैं ऐसा नकुछ अपने को कैसे साबित करता? सँभल सँभल कर पैर रखता और कहीं बैठता हुआ नीचे उतरा। इधर वह मज़ाक में शाबाश कह कर मुझ शरमाए हुए को और भी शर्मिंदा करने लगी। मैं मानता हूँ कि इस तरह मज़ाक में शर्मिंदा करने का उसे हक़ था।

परन्तु हर जगह मैं इस तरह कैसे बच सकता था? ईश्वर को मंजूर था कि असत्य का ज़हर मेरे अन्दर से निकल जाय। वेन्टनर की तरह ब्रायटन भी समुद्र-तट पर हवा-खोरी का मुकाम है। वहाँ मैं एक बार गया। जिस होटल में मैं ठहरा था वहाँ एक मामूली दरजे की अच्छी हैसियत वाली विधवा बुढ़िया घूमने आई थी। यह मेरे पहिले साल की बात है—वेन्टनर के पहिले की घटना है। यहाँ भोज्य-पदार्थों के नाम फ्रेञ्च भाषा में लिखे हुए थे। मैं उन्हें न समझ पाया। बुढ़िया और मैं एक ही मेज पर बैठे थे। बुढ़िया ने देखा कि मैं अजनबी और कुछ दुविधा में हूँ। उसने बात छेड़ी 'तुम अजनबी मालूम होते हो? किस फ़िक्र में पड़े हो? तुमने खाने के लिए अब तक नहीं मंगाया?' मैं भोज्य पदार्थों की नामावलि पढ़ रहा था और परोसने वालों से

पूछने का विचार कर ही रहा था। मैंने इस भली देवी को धन्य-वाद दिया और कहा—'ये नाम मेरी समझ में नहीं आते। मैं अन्नाहारी हूँ, और जानना चाहता हूँ कि इनमें कौनसी चीज़ें मेरे काम की हैं'।

वह देवी बोली—'तो लो, मैं तुम्हारी मदद करती हूँ और तुम्हें बताये देती हूँ कि इनमें से कौन कौनसी चीजें तुम ले सकते हो'।

मैंने उसकी सहायता सधन्यवाद स्वीकार की, यहाँ से जो सम्बन्ध उनके साथ हुआ सो मेरे विलायत छोड़ने के वाद भी वरसों कायम रहा। उसने लन्दन का अपना पता मुझे दिया और हर रविवार को अपने यहाँ भोजन के लिए निमन्त्रित किया। इसके सिवा भी जब जब अवसर आता मुझे बुलाती। चाह कर मेरी शरम तुड़वाती। युवती स्त्रियों से पहिचान करवाती और उनके साथ बातें करने के लिए ललचाती। एक वाई उसी के यहाँ रहती थी। उसके साथ वहुत वातें करवाती कभी कभी हमें अकेले भी छोड़ देती।

पहले पहल तो मुझे यह वहुत अटपटा मालूम हुआ। सूझ ही न पड़ता कि बातें क्या करूँ। हंसी—दिल्लगी भी भला क्या करता? पर वह बाई मेरा हौंसला वढ़ाती। मैं तैयार होने लगा। हर रविवार राह देखता। अब तो उसकी बातों में भी मन रमने लगा।

इधर बुढ़िया भी मुझे लुभाये जाती। वह हमारे इस मेल-जोल को वड़ी दिलचस्पी से देखती। उसने तो हम दोनों का भला ही सोचा होगा।

'अव क्या करूँ? अच्छा होता यदि पहले ही से इस वाई से

अपने विवाह की वात कर दी होती। क्योंकि फिर भला वह क्यों मुझ जैसे के साथ विवाह करना चाहती? अब भी कुछ विगड़ा नहीं। समय है। सच कह देने से अधिक संकट में न पड़ूंगा'। यह सोच कर मैंने उसे चिट्ठी लिखी। अपनी स्मृति के अनुसार उसका सार नीचे देता हूँ—

'जब से व्रायटन में आपसे भेंट हुई, तब से आप मुझे स्नेह की दृष्टि से देखती आ रही हैं। मां जिस प्रकार अपने वेटे की सँभाल रखती है, उसी प्रकार आप मेरी सँभाल रखती हैं। आपका यह ख़याल है कि मुझे विवाह कर लेना चाहिए और इसलिए आप युवतियों के साथ मेरा परिचय कराती हैं। इससे पहिले कि ऐसे सम्वन्ध की सीमा और आगे वढ़े, मुझे आपको यह कह देना चाहिए कि मैं आपके प्रेम के योग्य नहीं। मैं विवाहित हूँ और यह वात मुझे उसी दिन कह देनी चाहिए थी जिस दिन से मैं आपके घर में आने-जाने लगा। हिन्दुस्तान के विवाहित विद्यार्थी यहाँ अपने विवाह की वात जाहिर नहीं करते, और इसी लिए, मैं भी उसी ढर्रे पर चल पड़ा; पर अव मैं समझता हूँ कि मुझे अपने विवाह की वात विल्कुल ही न छिपानी चाहिए थी। मुझे तो आगे वढ़कर यह भी कह देना चाहिए कि मेरी शादी वचपन ही में हो गई थी और मुझे एक लड़का भी है। यह वात जो मैंने आपसे अवतक छिपा रक्खी, इस पर मुझे वड़ा पश्चात्ताप हो रहा है। परन्तु अव भी ईश्वर ने मुझे सत्य कह देने की हिम्मत देदी इसके लिए मुझे साथ ही आनन्द भी हो रहा है। आप मुझे माफ़ तो कर दोगी न? जिस वहन से आपने मेरा परिचय कराया है, उनके साथ मैंने कोई अनुचित व्यवहार नहीं किया है,

इसका मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ । मैं अपनी स्थिति को अच्छी तरह जानता था, अतएव मैं तो ऐसी अनुचित बात कर ही नहीं सकता था; पर आप चूंकि उससे नावाकिफ़ थीं, इसलिए आपकी यह इच्छा होना स्वाभाविक ही है कि मेरा सम्बन्ध किसी के साथ हो जाय । अतएव आपके मनमें यह विचार और आगे न बढ़े इसलिए मुझे सच बात आप पर अवश्य प्रकट कर देनी चाहिए.

'इस पत्र के मिलने के बाद यदि आप अपने यहाँ आने के योग्य मुझे न समझें तो मुझे बिलकुल बुरा न मालूम होगा । आपकी इस ममता के लिए तो मैं सदा के लिए आपका ऋणी हो चुका हूँ । इतना होने पर भी यदि आप मुझे अपने से दूर न हटावें तो मुझे बड़ी खुशी होगी, यदि अब भी आप मुझे अपने यहाँ आने के योग्य समझेंगी तो इसे मैं आपके प्रेम का एक नया चिन्ह समझूँगा और उसके योग्य बनने के लिए प्रयत्न करता रहूँगा ।

पाठक ! यह पत्र मैंने चट-पट नहीं लिख डाला । न जाने कितने मसविदे बने होंगे । पर हाँ, यह बात ज़रूर है कि यह पत्र भेज देने पर मेरे दिल से बड़ा बोझ उतर गया । लगभग लौटती डाँक से उस विधवा मित्र का जवाब आया । उसमें लिखा था—

'तुमने दिल खोल कर जो पत्र लिखा वह मिल गया । हम दोनों पढ़कर खुश हुए और खिल खिला कर हँसे । ऐसा असत्याचरण तो क्षन्तव्य ही हो सकता है । हाँ, यह अच्छा किया जो तुमने अपनी सच्ची कथा लिख दी । मेरे निमन्त्रण को ज्यों का त्यों कायम समझना । इस रविवार को हम दोनों तुम्हारी राह अवश्य देखेंगी । तुम्हारे बाल-विवाह की बातें सुनेंगी और तुमसे हंसी

दिल्लगी करने का आनन्द प्राप्त करेंगी, जमा खातिर रहो, अपनी मित्रता में फर्क न आने पावेगा।

इस तरह अपने अन्दर से यह असत्य का ज़हर निकाला और, फिर तो, कहीं भी अपने विवाह इत्यादि की बातें करते हुए मुझे पशोपेश न होता।

धार्मिक परिचय

विलायत में रहते हुए कोई एक साल हुआ होगा। इस बीच दो थियॉसोफिस्ट मित्रों से मुलाकात हुई। दोनों सगे भाई थे और अविवाहित थे। उन्होंने मुझे गीता पढ़ने की प्रेरणा की। उन दिनों वे तो एड्विन ऐनोल्ड कृत गीता के अंगरेजी अनुवाद को पढ़ रहे थे। पर मुझे उन्होंने अपने साथ संस्कृत में गीता पढ़ने के लिए कहा। मैं लज्जित हुआ; क्योंकि मैंने तो गीता संस्कृत में तो क्या गुजराती में भी न पढ़ी थी। यह वात झेंपते हुए मुझे उनसे कहनी पड़ी। पर साथ ही यह भी कहा कि मैं आपके साथ पढ़ने के लिए तैयार हूँ। यों तो मेरा संस्कृत ज्ञान भी नहीं के बराबर है, फिर भी मैं इतना समझ सकूँगा कि अनुवाद में कहीं गड़ बड़ होगी तो वह बता सकूँगा' इस तरह इन भाइयों के साथ मेरा गीता-पाठ आरम्भ हुआ। दूसरे अध्याय के अन्तिम श्लोकों में :—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेपूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृति-भ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥*

---

* विषय' का चिन्तन करने से, पहले तो उसके साथ संग पैदा होता है और संग से काम की उत्पत्ति होती है। कामना के पीछे पीछे क्रोध आता है। फिर क्रोध से संमोह, संमोह से स्मृति-भ्रम, और स्मृति-भ्रम से बुद्धि का नाश होता है। और अन्त के पुरुष खुद ही नष्ट हो जाता है।

इन श्लोकों का गहरा असर मेरे दिल पर हुआ। बस कानों में उनकी ध्वनि गूँजा ही करती। तब मुझे प्रतीत हुआ कि भगवद्‌गीता तो अमूल्य ग्रन्थ है। यह धारणा दिन दिन अधिक दृढ़ होती गई। और अब तो तत्व-ज्ञान के लिए मैं उसे सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता हूँ, निराशा के समय में इस ग्रन्थ ने मेरी अमूल्य सहायता की है। इसके लगभग तमाम अंगरेजी अनुवाद मैं पढ़ गया हूँ। सब में एड्‌विन ऍर्नाल्ड का अनुवाद श्रेष्ठ मालूम होता है। उन्होंने मूल ग्रन्थ के भावों की अच्छी रक्षा की है और फिर भी वह अनुवाद नहीं मालूम होता। फिर भी यह नहीं कह सकते कि इस समय मैंने भगवद्‌गीता का अच्छा अध्ययन कर लिया हो। उसका रोज-मर्रा पाठ तो वर्षों बाद शुरू हुआ।

इन्हीं भाइयों ने मुझे ऍर्नाल्ड लिखित बुद्ध-चरित पढ़ने की सिफ़ारिश की। अब तक तो मैं सिर्फ़ यही जानता था कि सिर्फ़ गीता का ही अनुवाद एर्नाल्ड ने किया है, परन्तु बुद्ध-चरित को मैंने भगवद्‌गीता से भी अधिक चाव के साथ पढ़ा। पुस्तक जो एक बार हाथ में ली सो ख़तम करके ही छोड़ सका।

ये भाई मुझे ब्लेवेट्‌स्की लॉज में भी ले गये वहां मैडम ब्लेवेट्‌स्की तथा मिसेज बेसैन्ट उन्हीं दिनों थियोसोफ़िकल सोसायटी में आई थीं; और इस विषय की चर्चा अखबारों में चल रही थी। मैं उसे चाव से पढ़ता था। इन भाइयों ने मुझे थियोसोफिकल सोसायटी में आने के लिए कहा। मैंने विनय पूर्वक ना करके कहा—'मुझे अभी किसी धर्म का कुछ भी ज्ञान नहीं। इस लिए मेरा दिल नहीं होता कि अभी किसी सम्प्रदाय में मिल जाऊँ।' मुझे कुछ ऐसा ख्याल पड़ता है कि इन्हीं भाइयों के कहने

से मैडम ब्लेवेटस्की रचित 'दि थियोसोफी' पुस्तक भी मैंने पढ़ी। उससे हिन्दू-धर्म सम्बन्धी पुस्तक के पढ़ने की इच्छा हुई। पादरी लोगों के मुँह से जो यह सुना करता था कि हिन्दू-धम तो अन्ध विश्वासों से भरा हुआ है, यह ख्याल दिल से निकल गया।

इसी अर्से में एक अन्नाहारी छात्रालय में मैन्चेस्टर के एक भले ईसाई से मुलाकात हुई। उन्होंने ईसाई-धर्म की बात मुझ से छेड़ी। मैंने अपना राजकोट का अनुभव उन्हें सुनाया। उन्हें बहुत दुःख हुआ। कहा—'मैं खुद अन्नाहारी हूँ। शराब तक नहीं पीता। बहुतेरे ईसाई माँस खाते हैं, शराब पीते हैं, यह सच है। पर इसाई-धर्म में दोनों में से एक भी चीज़ लाज़िमी नहीं। आप बायबिल पढ़ें तो मालूम होगा'। मैंने उनकी सलाह मानी। उन्हीं ने एक बायबिल भी खरीद कर ला दी। मुझे कुछ कुछ ऐसा आभास होता है कि वे सज्जन खुद ही बायबिल बेंचते थे। उन्होंने जो बायबिल मुझे दी उसमें कई नक़्शे और अनुक्रमणिका इत्यादि थीं। पढ़ना शुरू तो किया; परन्तु 'ओल्ड टेस्टामेंट' तो पढ़ ही न सका। जेनिसेस—'सृष्टि उत्पति'—वाले प्रकरण के बाद तो पढ़ते पढ़ते नींद आने लगती। केवल इसी ख़याल से कि यह कह सकूँ कि 'हाँ बायबिल पढ़ली'। मैंने बे-मन और बे-समझे आगे के प्रकरणों को बड़े कष्ट से पढ़ा। 'नम्बर्स' नामक प्रकरण तो मुझे बिलकुल ही अच्छा न लगा। पर जब 'न्यूटेस्टामेंट' तक पहुँचा तब तो कुछ और ही असर हुआ। हज़रत ईसा के गिरि-प्रवचन का असर बहुत ही अच्छा हुआ। वह तो सीधा ही हृदय में पैठ गया। बुद्धि ने गीताजी के साथ उसकी तुलना की। 'जो तेरा कुरता मांगे उसे तू अंगरखा दे डाल। जो तेरे दाहिने गाल पर थप्पड़ मारे,

उसके आगे बाँया गाल कर दे, यह पढ़कर मुझे अपार आनंद हुआ। श्यामल भट्ट का वह छप्पय याद आया। मेरे युवक मन ने गीता, ऐनॉल्ड-कृत बुद्ध-चरित्र और ईसा के वचनों का एकीकरण किया। त्याग में धर्म है यह बात दिल को जँच गई।

इन पुस्तकों के पठन से दूसरे धर्माचार्यों के जीवन-चरित्र पढ़ने की इच्छा हुई। किसी मित्र ने सुझाया—कार्लाइल का 'विभूःतियां और विभूति पूजा' पढ़ो। उसमें मैंने हजरत मुहम्मद विषयक अंश पढ़ा। और मुझे उनकी महत्ता वीरता और उनकी तपश्चर्या का परिचय मिला।

वस इतने धार्मिक परिचय से आगे मैं न वढ़ सका, क्योंकि परीक्षा—संवंधी पुस्तकों के अलावा दूसरी पुस्तकें पढ़ने की फ़ुरसत न निकाल सका। मगर मेरे दिल में यह भाव जम गया कि मुझे और भी धर्म-पुस्तकें अवश्य पढ़नी चाहिए और समस्त मुख्यमुख्य धर्मों का आवश्यक परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए।

भला यह कैसे संभव था कि विलायत में रह कर नास्तिकता के संवन्ध में कुछ न जानता। ब्रेडलॉ का नाम समस्त भारतवासी जानते थे। ब्रेडलॉ नास्तिक माने जाते थे। इस कारण उसके विपय में भी एक पुस्तक पढ़ी। नाम इस समय याद नहीं पड़ता। मेरे मन पर उसकी कुछ छाप न पड़ी। क्योंकि नास्तिकता-रूपी सहारा का रेगिस्तान अब मैं पार कर चुका था। मिसेज़ वेसेंट की कीर्ति तो उस समय भी वहुत फैली हुई थी। वे नास्तिक से आस्तिक वनीं इस वात ने भी मुझे नास्तिकता की ओर से उदासीन वनाया। मिसेज़ वेसेंट की 'मैं थियासोफ़िस्ट कैसे हुई? यह पुस्तिका मैं पढ़ चुका था। इन्हीं दिनों ब्रेडलॉ का देहांत हुआ। उनकी अन्त्येष्टिक्रिया वोकिंग

में हुई थी। मैं भी वहाँ गया था। मेरा ख्याल है कि शायद ही कोई ऐसा भारतवासी होगा जो वहाँ न गया हो। कितने ही पादरी भी उनके सन्मान में वहाँ उपस्थित हुए थे। लौटते समय हम सब एक जगह ट्रेन की राह देख रहे थे। वहाँ एक पहलवान नास्तिकता-वादी ने एक पादरी से जिरह करना शुरू की—

'क्यों जी, आप कहते हैं न कि ईश्वर है ?

उस भले मानुस ने धीमी आवाज़ में जवाव दिया—'हां भाई कहता तो हूँ'।

पहलवान हंसा, और इस भाव से कि मानों पादरी को पराजित कर दिया हो, कहा,—'अच्छा, आप यह तो मानते हैं न, कि पृथ्वी की परिधि २८००० मील है ?'

'हां, अवश्य'

'तब बताओ तो देखें, ईश्वर का क़द कितना बड़ा है और वह कहां रहता होगा ?'

'यदि हम समझें तो वह हम दोनों के हृदय में वास करता है'।

चारों ओर खड़े हुए हम लोगों की ओर यह कह कर उसने विजयी की तरह देखा—'किसी बच्चे को फुसलाइए, किसी बच्चे को।'

पादरी ने नम्र मौन धारण किया।

इस संवाद ने नास्तिकतावाद की ओर से मेरा मन और भी हटा दिया।

---

(२१)

निर्बल के बल राम

इस तरह मुझे धर्म-शास्त्रों का तथा दुनिया के और धर्मों का कुछ परिचय तो मिला, लेकिन इतना ज्ञान मनुष्य को बचाने के लिए काफी नहीं होता। आपत्ति के समय जो वस्तु मनुष्य को बचाती है, उसका उसे उस समय न तो भान ही रहता है न ज्ञान ही। नास्तिक जब बच जाता है तो कहने लगता है कि मैं तो अचानक बच गया। आस्तिक ऐसे समय कहेगा कि मुझे ईश्वर ने बचाया। परिणाम के बाद वह ऐसा अनुमान कर लेता है कि धर्मों के अध्ययन से, संयम से ईश्वर हृदय में प्रकट होते हैं। इस प्रकार का अनुमान करने का उसे अधिकार है। लेकिन बचते समय वह नहीं जानता कि उसे उसका संयम बचाता है या और कोई। जो अपने संयम-बल का गर्व करता है उसका किसने अनुभव नहीं किया कि उसका संयम भ्रष्ट नहीं हुआ? ऐसे समय शास्त्र-ज्ञान तो व्यर्थ सा मालूम होता है।

इस बौद्धिक धर्म-ज्ञान के मिथ्यात्व का अनुभव मुझे विलायत में हुआ। पहले जो इस प्रकार के भयों से मैं बचा, उसका विश्लेषण करना असम्भव है। उस समय मेरी उम्र बहुत कम थी।

लेकिन अब तो मैं बीस वर्ष का हो गया था। गृहस्थाश्रम का अनुभव खूब प्राप्त कर चुका था।

बहुत करके विलायत के मेरे आखिरी वर्ष में अर्थात् १८९० में पोर्टस्मथ में अन्नाहारियों का एक सम्मेलन हुआ। उसमें मुझे तथा एक और भारतीय मित्र को निमंत्रण मिला था। हम दोनों वहाँ गये। हम दोनों एक बाई के यहाँ ठहराये गये।

पोर्टस्मथ मल्लाहों का बन्दर कहा जाता है। वहाँ दुराचारिणी स्त्रियों के बहुत से घर हैं। वे स्त्रियाँ वैश्या तो नहीं कही जा सकतीं; लेकिन साथ ही उन्हें निर्दोष भी नहीं कह सकते। ऐसे ही एक घर में हम ठहराये गये थे। कहने का आशय यह नहीं है कि स्वागत-समिति ने जानबूझ कर ऐसे घर चुने थे। लेकिन पोर्टस्मथ जैसे बन्दर में जब मुसाफिरों के ठहरने के लिए घर खोजने की जरूरत पडती है, तब यह कहना कठिन हो जाता है कि कौन घर अच्छा और कौन बुरा।

रात हुई। सभा से हम घर लौटे! भोजन के बाद ताश खेलने बैठे। विलायत में अच्छे घरों में भी गृहिणी मिहमानों के साथ इस प्रकार ताश खेला करती है। ताश खेलते समय सब लोग निर्दोष मजाक करते रहते हैं। यहाँ बीभत्स विनोद शुरू हुआ।

मैं नहीं जानता था कि मेरे साथी इसमें निपुण हैं। मुझे इस विनोद में दिलचस्पी होने लगी। मैं भी सम्मिलित हुआ। वाणी से क्रिया में परिणति होने की नौबत आ गई। ताश एक ओर रखने का अवसर आ गया पर मेरे साथी के हृदय में भगवान जगे। वे बोले, तुम और यह कलियुग—यह पाप? यह तुम्हारा काम नहीं! भगो यहाँ से।

मैं शरमिन्दा हुआ। चेता। हृदय में इस मित्र का उपकार माना। माता से की प्रतिज्ञा याद आई। मैं भगा। काँपता हुआ अपने कमरे में पहुँचा। कलेजा धड़कता था। मानों कातिल के हाथ से शिकार छूटा।

पर-स्त्री को देखकर विकाराधीन होने का और उसके साथ खेलने की इच्छा होने का यह पहला प्रसंग मेरे जीवन में था। रात भर मुझे नींद न पड़ी। अनेक तरह के विचारों ने मुझे आ घेरा। क्या करूं, घर छोड़ दूँ? यहाँ से भाग निकलूं? में कहाँ हूँ? यदि मैं सावधान न रहूँ तो मेरे क्या हाल होंगे?' मैंने खूब सचेत रहकर जीवन विताने का निश्चय किया। सोचा, कि घर तो अभी न छोड़ूँ; पर पोर्टस्मथ तुरंत छोड़ देना चाहिए। सम्मेलन दो ही दिन तक होने वाला था। इसलिए जहाँ तक मुझे याद है, दूसरे ही दिन मैंने पोर्टस्मथ छोड़ दिया। मेरे साथी वहाँ कुछ दिन रहे।

उस समय मैं 'धर्म क्या है, ईश्वर क्या चीज है, वह हमारे अन्दर किस तरह काम करता है,' ये बातें न जानता था। लौकिक अर्थ में मैं समझा कि ईश्वर ने मुझे वचाया। परन्तु जीवन के विविध क्षेत्रों में मुझे ऐसा अनुभव हुआ है। 'ईश्वर ने वचाया' इस वाक्य का अर्थ मैं आज वहुत अच्छी तरह समझता हूँ; पर यह भी जानता हूँ कि अभी इसकी कीमत मैं ठीक ठीक नहीं आँक सका हूँ। वह तो अनुभव से ही आंकी जा सकती है। पर हाँ, कितने ही आध्यात्मिक अवसरों पर, वकालत के सिल्सिले में, संस्थाओं का सञ्चालन करते हुए, राजनैतिक मामलों में, मैं कह सकता हूँ कि, 'ईश्वर ने मुझे वचाया है।' मैंने अनुभव किया

है कि जब, चारों ओर से आशायें छोड़ बैठने का अवसर आ जाता है, हाथ-पाँव ढीले पड़ने लगते हैं, तब कहीं न कहीं से सहायता अचानक आ पहुँचती है। स्तुति, उपासना, प्रार्थना, अन्ध विश्वास नहीं, बल्कि उतनी ही अथवा उससे भी अधिक सच बातें हैं, जितनी कि हम खाते हैं, पीते हैं, चलते हैं, बैठते हैं, ये सच हैं। बल्कि यों कहने में भी अत्युक्ति नहीं कि यही एक-मात्र सच है; दूसरी सब बातें झूठ हैं, मिथ्या हैं।

ऐसी उपासना, ऐसी प्रार्थना वाणी का वैभव नहीं है। उसका मूल कण्ठ नहीं, बल्कि हृदय है। अतएव यदि हम हृदय को निर्मल बना लें, उसके तारों का सुर मिला लें, तो उसमें से जो सुर निकलता है वह गगन-गामी हो जाता है। उसके लिए जीभ की आवश्यकता नहीं। यह तो स्वभावतः ही अद्भुत वस्तु है। विकार-रूपी मलों की शुद्धि के लिए हार्दिक उपासना एक जीवन-जड़ी है, इस विषय में मुझे कुछ भी सन्देह नहीं। परन्तु इस प्रसादी के लिए हमारे अन्दर पूरी पूरी नम्रता होनी चाहिए।

नारायण हेमचन्द्र

लगभग इसी दरमियान स्वर्गीय नारायण हेमचन्द्र विलायत आये थे। लेखक की हैसियत से मैं उनका नाम सुन चुका था। नॅशनल इण्डियन एसोसियेशन वाली मिस मॅनिङ्ग के यहाँ उनसे मैं मिला। मिस मॅनिङ्ग जानती थीं कि मैं सब से हिलमिल नहीं सकता। जब कभी मैं उनके वहाँ जाता तब चुप चाप बैठा रहता। तभी बोलता जब कोई बातचीत छेड़ता।

उन्होंने नारायण हेमचन्द्र से मेरा परिचय कराया।

नारायण हेमचन्द्र अंगरेज़ी नहीं जानते थे। उनका पहनाव विचित्र था। बेढ़ंगी पतलून पहने थे। उस पर था एक बदामी रंग का मैला-कुचैला-सा पारसी काट का बेडौल कोट। न नेकटाई न कॉलर! सर-पर ऊन की गुंथी हुई टोपी। नीचे लम्बी डाढ़ी थी।

बदन इकहरा, क़द नाटा, और चेहरा गोल था, और उस पर चेचक के दाग़ थे। नाक न नोकदार थी न चिपटी, हाथ डाढ़ी पर फिरा करता था।

वहाँ के लाल-गुलाल फैशनेबल लोगों में नारायण हेमचन्द्र अलग छटक जाते थे।

'आपका नाम तो मैंने बहुत सुना है। आपके कुछ लेख भी पढ़े हैं। आप मेरे घर क्यों न चलिए ?'

नारायण हेमचन्द्र की आवाज़ जरा भर्राई हुई थी। उन्होंने हँसते हुए जवाब दिया—

'आप कहां रहते हैं ?'

'स्टोर स्ट्रीट में'

तब तो हम पड़ौसी हैं। मुझे अंगरेज़ी सीखना है। आप सिखा देंगे ?

मैंने जवाब दिया—'यदि मैं किसी प्रकार भी आपकी सहायता कर सकूं तो मुझे बड़ी खुशी होगी। मैं अपनी शक्ति भर कोशिश करूंगा। यदि आप चाहें, तो मैं आपके यहां भी आ सकता हूं।'

'जी नहीं, मैं खुद ही आपके पास आऊंगा। मेरे पास पाठमाला भी है। उसे लेता आऊंगा।'

समय निश्चित किया। हम दोनों में बड़ा स्नेह हो गया।

नारायण हेमचन्द्र व्याकरण जरा भी न जानते थे। 'घोड़ा' क्रिया और 'दौड़ना' संज्ञा बन जाती। ऐसे विनोद पूर्ण उदाहरण तो मुझे कई याद हैं ! परन्तु नारायण हेमचन्द्र ऐसे थे, जो मुझे हजम कर जायँ। वे मेरे अल्प व्याकरण-ज्ञान से अपने को भुला देनेवाले जीव न थे। अपने व्याकरण न जानने पर वे किसी प्रकार लज्जित न होते थे।

मैं आपके समान किसी पाठशाला में नहीं पढ़ा हूं। मुझे अपने विचार प्रकट करने में कहीं भी व्याकरण की जरूरत नहीं दिखाई दी। आप बंगला जानते हैं ? मैं तो बंगला भी जानता हूं।

मैं बंगाल में घूमा हूँ। महर्षि देवेन्द्रनाथ टागोर की पुस्तकों का अनुवाद तो गुजराती जनता को मैंने ही दिया है। मुझे अभी कई भाषाओं के सुन्दर ग्रन्थों का अनुवाद गुजराती जनता को समर्पित करना है। अनुवाद करने में भी मैं शब्दार्थ पर नहीं चिपटा रहता। भाव-मात्र दे देने से मुझे संतोष हो जाता है। मेरे बाद दूसरे लोग चाहे भले ही सुन्दर वस्तु दिया करें। मैं तो बिना व्याकरण पढ़े मराठी भी जानता हूं, हिन्दी भी जानता हूं, और अब अंगरेजी भी जानने लग गया हूं। मुझे तो सिर्फ शब्द-भंडार की जरूरत है। आप यह न समझ लें कि अकेली अंगरेजी जान लेने भर से मुझे संतोप हो जायगा। मुझे तो फ्रान्स जा कर फ्रेन्च भी सीख लेनी है। मैं जानता हूं कि फ्रेन्च साहित्य बहुत विशाल है। यदि हो सका तो जर्मनी जा कर जर्मन भापा भी सीख लूंगा।'

इस तरह नारायण हेमचन्द्र की धारा बे-रोक चलती रही। देश देशान्तरों में जा कर भिन्न भिन्न भापायें सीखने का उन्हें असीम शौक था।

'तब तो आप अमेरिका जरूर ही जावेंगे?'

'भला इसमें भी कोई सन्देह हो सकता है? इस नवीन दुनियाँ को देखे बिना कहीं मैं वापिस लौट सकता हूं?'

पर आपके पास इतना धन कहां है?'

'मुझे धन की क्या जरूरत पड़ी है! मुझे आप की तरह तड़क-भड़क तो रखना है नहीं? मेरा खाना कितना और पहनना क्या? मेरी पुस्तकों से कुछ मिल जाता है, और थोड़ा-बहुत मित्र लोग दे दिया करते हैं। मैं तो सर्वत्र तीसरे दर्जे में ही सफर करता हूं। अमेरिका तो डेक में जाऊंगा।'

नारायण हेमचन्द्र की सादगी तो उनकी अपनी थी। हृदय भी उनका वैसा ही निर्मल था। अभिमान छू तक न गया था। लेखक के नाते अपनी क्षमता पर आवश्यकता से भी अधिक विश्वास था।

हम रोज़ मिलते हमारे बीच विचार तथा आचार साम्य भी काफी था। दोनों अन्नाहारी थे। दोपहर को कई बार साथ ही भोजन करते। यह मेरा वह समय था, जब मैं प्रति सप्ताह सत्रह शिलिंग में ही अपनी गुजर करता था, और खाना खुद पकाता था। कभी मैं उनके मकान पर जाता तो कभी वे मेरे मकान पर आते। मैं अंगरेजी तर्ज का खाना पकाता था, उन्हें देशी ढँग के बिना संतोष नहीं होता था। दाल जरूरी थी। मैं गाजर इत्यादि का रसा बनाता। इस पर उन्हें मेरी बड़ी दया आती। कहीं से वे मूंग ढूंढ लाये थे। एक दिन मेरे लिए मूंग पकाकर लाये जो मैंने बड़े रुचिपूर्वक खाये। फिर तो हमारा इस तरह देने लेने का व्यवहार बहुत बढ गया। मैं अपनी चीजों का नमूना उन्हें चखाता और वे मुझे चखाते।

इस समय कार्डिनल मँनिंग का नाम सब की ज़बान पर था। डाक के मज्दूरों ने हड़ताल कर दी थी। जॉनबर्न्स और कार्डिनल मॅनिंग के प्रयत्नों से हड़ताल जल्दी बन्द हो गई। कार्डिनल मँनिंग की सादगी के विषय में जो डिजराइल ने लिखा था, वह मैंने नारायण हेमचन्द को सुनाया।

'तब तो मुझे उस साधु-पुरुष से जरूर मिलना चाहिए।'

'वे तो बहुत बड़े आदमी हैं; आपसे क्यों कर मिलेंगे?'

'इसका रास्ता मैं बता देता हूँ। आप उन्हें मेरे नाम से एक

पत्र लिखिए कि मैं एक लेखक हूँ। आप के परोपकारी कार्यों पर आपको धन्यवाद देने के लिए प्रत्यक्ष मिलना चाहता हूँ। उसमें यह भी लिख दीजिएगा कि मैं अंगरेज़ी नहीं जानता, इसलिए आपका नाम लिखिए—बतौर दुभाषिया के मेरे साथ में रहेंगे।

मैंने इस मजमून का पत्र लिख दिया। दो तीन दिन में कार्डिनल मॅनिंग का कार्ड आया। उन्होंने मिलने का समय लिख दिया था।

हम दोनों गये। मैंने तो, जैसा कि रिवाज था, मुलाकाती कपड़े पहन लिये। नारायण हेमचन्द्र तो ज्यों के त्यों, सनातन! वही कोट और वही पतलून। मैंने जरा विनोद किया। पर उन्होंने उसे साफ हंसी में उड़ा दिया और बोले—

'तुम सब सुधरे हुए लोग डरते हो। महापुरुष किसी की पोशाक की तरफ नहीं देखते। वे तो उसके हृदय को देखते हैं।'

कार्डिनल के महल में हमने प्रवेश किया। मकान महल ही था। हम बैठे ही थे कि एक दुबले से ऊँचे क़द वाले वृद्ध पुरुष ने प्रवेश किया। हम दोनों से हाथ मिलाया। नारायण हेमचन्द्र का स्वागत किया।

"मैं आपका अधिक समय लेना नहीं चाहता। मैंने आपकी कीर्ति सुन रक्खी थी। आपने हड़ताल में जो शुभ काम किया है, उसके लिए आपका उपकार मानना था। संसार के साधु-पुरुषों के दर्शन करने का मेरा अपना रिवाज है। इसीलिए आपको आज यह कष्ट दिया है।"

इन वाक्यों का तरजुमा करके उन्हें सुनाने के लिए नारायण हेमचन्द्र ने मुझे कहा।

'आपके आगमन से मैं बड़ा प्रसन्न हुआ हूँ। मैं आशा करता हूँ कि आपके लिए यहां का निवास सुखकर होगा, और यहाँ के लोगों से आप अधिक परिचय करेंगे। परमात्मा आपका भला करें।' यों कह कर कार्डिनल उठ खड़े हुए।

एक दिन नारायण हेमचन्द्र मेरे यहां धोती और कुर्त्ता पहन कर आये। भली मकान मालकिन ने दरवाजा खोला और देखा तो डर गई। दौड़ कर मेरे पास आई (पाठक यह तो जानते ही हैं कि मैं बार बार मकान बदलता ही रहता था) और बोली "एक पागल सा आदमी आप से मिलना चाहता है। मैं दरवाजे पर गया और नारायण हेमचन्द्र को देखकर दंग रह गया। उनके चेहरे पर वही नित्य का हास्य चमक रहा था।

'पर आपको लड़कों ने नहीं सताया ?'

'हां, मेरे पीछे दौड़े जरूर थे, लेकिन मैंने कोई ध्यान नहीं दिया, तो वापिस लौट गये।'

नारायण हेमचन्द्र कुछ महीने इंगलैण्ड में रहकर पैरिस चले गये। वहां फ्रेंच का अध्ययन किया और फ्रेंच पुस्तकों के अनुवाद करना शुरू कर दिया। मैं इतनी फ्रेंच जान गया था कि उनके अनुवादों को जांच लूं। मैंने देखा कि वह तर्जुमा नहीं, भावार्थ था।

अन्त में उन्होंने अमेरिका जाने का अपना निश्चय भी निवाहा। बड़ी मुश्किल से डेक या तीसरे दर्जे की टिकट प्राप्त कर सके थे। अमेरिका में जब वे धोती और कुर्ता पहन कर निकले तो उन पर असभ्य पोशाक पहनने का जुर्म लगाकर वे गिरफ्तार कर लिये गये थे। पर जहां तक मुझे याद है, बाद में वे छूट गये थे।

(२३)

महाप्रदर्शिनी

१८९० ईस्वी में पैरिस में एक महाप्रदर्शिनी हुई थी। उसकी तैयारियों की बातें मैं अख़बारों में खूब पढ़ता था। इधर पैरिस देखने की तीव्र इच्छा तो थी ही। सोचा कि इस प्रदर्शिनी को देखने के लिए चला जाऊँगा तो दोनों काम हो जायँगे। प्रदर्शिनी में एफिल टॉवर देखने का आकर्षण बहुत भारी था। यह टॉवर बिलकुल लोहे का बना हुआ है। एक हज़ार फीट ऊँचा है। इसके पहले लोगों का ख्याल था कि इतनी ऊँची इमारत खड़ी ही नहीं रह सकती। और भी अनेकों बातें प्रदर्शिनी में देखने लायक थीं।

मैंने कहीं पढ़ा था कि पैरिस में अन्नाहार के लिए एक स्थान है। मैंने उसमें एक कमरा ले लिया। पैरिस तक की सफर ग़रीबी से की और वहां पहुँचा। सात दिन रहा। बहुत कुछ तो पैदल ही चलकर देखा। पास में पैरिस और उस प्रदर्शिनी का गाइड़ तथा नक्शा भी रक्खा था। उसकी सहायता से रास्ते ढूँढ़कर मुख्य मुख्य चीजें देख लीं।

प्रदर्शिनी की विशालता और विविधता के सिवा अब मुझे

किसी चीज़ का स्मरण नहीं है। एफिल टॉवर पर तो दो तीन बार चढ़ा था, इसलिए उसकी याद ठीक ठीक है। पहली मंजिल पर खाने-पीने की सुविधा भी थी। इसलिए यह कहने को कि इतनी ऊँचाई पर हमने खाना खाया, मैंने वहां भोजन किया, और साढ़े सात शिलिंग को दियासलाई लगाई।

पैरिस के प्राचीन मन्दिरों की याद अबतक कायम है। उनकी भव्यता और भीतर की शान्ति कभी नहीं भुलाई जा सकती। नाट्रेडम की कारीगरी और भीतर की चित्रकारी।मेरे स्मृति-पट पर अंकित हो गई है। यही प्रतीत हुआ कि जिन्होंने लाखों रुपये ऐसे स्वर्गीय मंदिरों के बनाने में खर्च किये, उनके हृदय के अंतस्तल में कुछ न कुछ ईश्वर-प्रेम जरूर ही रहा होगा।

पैरिस की फैशन, वहां का स्वेच्छाचार और भोग-विलास का वर्णन खूब पढ़ा था, और उसकी प्रतीति वहां की गली गली में होती जाती थी। परन्तु ये मंदिर उन भोग-सामग्रियों से अलग छटक जाते थे। उनके अन्दर जाते ही बाहर की अशान्ति भूल जाती थी। लोगों का बर्ताव ही बदल जाता था। वे अदब के साथ बरतने लग जाते थे। वहाँ शोर गुल नहीं हो सका। कुमारिका मरियम की मूर्ति के सामने कोई न कोई जरूर प्रार्थना करता हुआ दिखाई देता। यह सब देखकर चित्तपर यही असर पड़ा कि यह सब वहम नहीं, हृदय की भावना है, और यह भाव।दिन ब दिन बराबर पुष्ट होता गया। कुमारिका की मूर्ति के सामने घुटने टेक कर प्रार्थना करने वाले वे उपासक संगमरमर के पत्थर को नहीं पूज रहे थे; बल्कि उसके अंदर निवास करने वाली अपनी मनोमय शक्ति को पूजते थे। मुझे आज भी अस्पष्टतया याद है कि उस समय मेरे

चित्त पर इस पूजा का ऐसा असर पड़ा कि वे इस पूजन द्वारा ईश्वर की महिमा को घटाते नहीं बल्कि बढ़ाते ही हैं।

एफिल टॉवर के विषय में एक दो बातें लिख देना जरूरी है। मुझे पता नहीं कि एफिल टॉवर आज किस मतलब को पूरा कर रही है। प्रदर्शिनी में जाने पर उसके वर्णन तो जरूर ही पढ़ने में आते थे। उनमें उसकी स्तुति भी थी और निन्दा भी थी। मुझे याद है कि निन्दा करने वालों में टॉल्स्टॉय मुख्य थे। उन्होंने लिखा था कि एफिल टॉवर मनुष्य की मूर्खता का चिन्ह है, उसके ज्ञान का परिणाम नहीं। उन्होंने अपने लेखों में बताया था कि संसार के अनेक प्रचलित नशों में तमाखू का व्यसन एक तरह से सब से खराब है। जो कुकर्म करने की हिम्मत शराब के पीने से नहीं होती, वह बीड़ी पी कर आदमी को हो जाती है। शराब आदमी को पागल बना देती है, परन्तु बीड़ी से तो उसकी बुद्धि तमाच्छन्न हो जाती है, और वह हवाई किले बांधने लग जाता है। टॉल्स्टॉय ने अपना यही मत प्रदर्शित किया था कि एफिल टॉवर ऐसे ही व्यसन का परिणाम है।

एफिल टॉवर में सौंदर्य का तो नाम भी नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उससे प्रदर्शिनी की शोभा जरा भी बढ़ गई हो। एक नई, भारी-भरकम चीज़ थी। और इसीलिए उसे देखने के लिए हजारों आदमी गये थे। यह टॉवर प्रदर्शिनी का एक खिलौना था। और वह इस बात को बड़ी अच्छी तरह सिद्ध कर रहा था कि जबतक हम मोहाधीन हैं तब तक हम भी बालक ही हैं। बस, इसे भले ही हम उसकी उपयोगिता कह लें।

---

(२९)

बॅरिस्टर तो हुए--लेकिन आगे ?

परन्तु जिस काम के लिए, अर्थात् बॅरिस्टर बनने के लिए मैं विलायत गया था, उसका क्या हुआ? मैंने उसका वर्णन आगे पर छोड़ रक्खा था। पर अब उसके सम्बन्ध में कुछ लिखने का समय आ पहुंचा है।

बॅरिस्टर बनने के लिए दो बातें आवश्यक थीं। एक तो 'टर्म भरनी', अर्थात् सत्रों में आवश्यक उपस्थिति का होना और दूसरी कानून की परीक्षा में शरीक होना। वर्ष में चार सत्र होते थे। वैसे बारह सत्रों में हाज़िर रहना चाहिए। सत्र में हाजिर रहने के मानी हैं "भोजों में उपस्थित रहना"। हरएक सत्र में लगभग २४ भोज होते थे, जिनमें से छः में हाजिर रहना ज़रूरी था। भोज में जाने से यह मतलब नहीं कि वहाँ कुछ खाना ही चाहिए। सिर्फ निश्चत समय पर वहाँ हाजिर हो जाना, और जबतक वह चलता रहे वहाँ उपस्थित रहना काफी था। आम तौर पर तो सभी विद्यार्थी उसमें खाते पीते हैं। भोजन में अच्छे-अच्छे पकान्न होते और पेय में ऊँचे दर्जे की शराब। दाम अलबत्ते देना पड़ते थे ढाई या तीन शिलिंग के करीब, अर्थात् वह दो तीन रुपये से ज्यादा नहीं

होता था। यह कीमत वहाँ बहुत ही कम समझी जाती थी; क्योंकि बाहर किसी भोजनालय में भोजन करनेवाले को तो सिर्फ़ शराब के लिए ही इतने दाम देने पड़ते थे। भोजन के खर्च की बनिस्वत शराब पीने वाले को शराब के ही दाम अधिक लगते हैं। हिन्दुस्तान में—यदि हम 'सुधरे' हुए न हों तो—हमें यह बड़ा ही आश्चर्यकारक मालूम होगा। विलायत जाने पर बात मालूम कर मेरे दिल को तो बड़ी चोट पहुंची। मैं यही नहीं समझ सकता था कि शराब के पीछे इतने रुपये खर्च करने को लोगों का जी कैसे होता है। पर पीछे मैं उसे समझने लगा! शुरू में तो मैं ऐसे भोजों में कुछ भी न खाता था, क्योंकि मेरे काम की चीज़ तो वहाँ केवल रोटी, उबाले हुए आलू या गोबी ही हो सकती थी। आरंभ में तो वे अच्छे न लगते थे, इसलिए मैं नहीं खाता था। बाद में, जब मैं उनके स्वाद को जान सका, तब तो मुझे दूसरी वस्तु प्राप्त करने की भी सामर्थ्य प्राप्त हो चुकी थी।

विद्यार्थियों के लिए एक प्रकार का खाना होता था, और बेन्चरों (विद्यामंदिर के अध्यापकों) के लिए दूसरे प्रकार का और अच्छा खाना होता था। मेरे साथ एक पारसी विद्यार्थी भी थे। वे भी निरामिषभोजी बन गये थे। हम दोनों ने मिल कर बेन्चरों के भोजन के पदार्थों में से निरामिषभोजियों के खाने योग्य पदार्थ प्राप्त करने के लिए प्रार्थना की। यह मंजूर हुई, और हमें बेन्चरों के टेबल से फलादि और दूसरे शाक भी मिलने लगे।

शराब को तो मैं छूता तक न था। चार-चार विद्यार्थियों में शराब की दो दो बोतलें दी जाती थीं। इसलिए ऐसी चौकड़ियों में मेरी बड़ी मांग होती थी। क्योंकि मैं शराब नहीं पीता था इस

लिए दो बोतलें शेष तीनों के हिस्से में जो आती थीं ? फिर इन सत्रों में एक बड़ी रात (ग्रांड नाइट) भी होती थी । उस दिन 'पोर्ट' 'शेरी' के अलावा 'शेम्पेन' भी मिलती थी। शेम्पेन का मज़ा कुछ और ही समझा जाता है। इसलिए इस बड़ी रात को मेरी कीमत अधिक आंकी जाती थी, और उस रात को हाजिर रहने के लिए मुझे निमंत्रण भी दिया जाता।

इस खाने-पीने से बॅरीस्टरी में क्या वृद्धि हो सकती है, यह मैं न तब समझ सका था और न आज ही समझ सका हूँ। हाँ, ऐसा एक समय अवश्य था कि जब ऐसे भोजों में बहुत ही थोड़े विद्यार्थी होते थे। तब उनमें और बेञ्चरों में वार्तालाप होता और व्याख्यान भी दिये जाते थे। इससे उन्हें व्यवहार-ज्ञान प्राप्त हो सकता था, भली-बुरी पर एक प्रकार की सभ्यता वे सीख सकते थे और व्याख्यान देने की शक्ति का भी विकास कर सकते थे। हमारे समय में तो यह सब असम्भव हो गया था। बेञ्चर तो दूर अछूत होकर बैठते थे। इस पुराने रिवाज का बाद में कुछ भी अर्थ नहीं रह गया था, फिर भी प्राचीनता प्रेमी—धीमे—इंग्लैण्ड में वह अभीतक चला आ रहा है।

कानून की पढ़ाई बड़ी ही आसान थी। बॅरीस्टर विनोद में 'डीनर बॅरीस्टर' के नाम से पुकारे जाते थे। सभी जानते थे कि उसकी परीक्षा का मूल्य नहीं के बराबर है। मेरे समय में दो परीक्षायें होती थीं। रोमन लॉ की और इंग्लैण्ड के कानूनों की। यह परीक्षा दो बार करके दी जाती थी। परीक्षा के लिए पुस्तकें नियत थीं, परन्तु उन्हें शायद ही कोई पढ़ता होगा। रोमन लॉ के लिए तो छोटे छोटे 'नोट्स' लिखे हुए मिलते थे। उन्हें १५

दिन में पढ़ कर पास होने वालों को भी मैंने देखा है। इंग्लैंड के कानूनों के विषय में भी यही बात होती थी। उनके 'नोट्स' दो-तीन महीने में पढ़ कर पास होने वाले विद्यार्थियों को भी मैंने देखा है। परीक्षा के प्रश्न आसान और परीक्षक भी उदार। रोमन लॉ में ९५ से ९९ प्रति सैकड़ा विद्यार्थी पास होते थे। और अंतिम परीक्षा में ७५ अथवा उससे भी कुछ अधिक। इसलिए अनुत्तीर्ण होने का भय बहुत ही कम रहता था। और परीक्षा भी वर्ष में एक नहीं बल्कि चार बार होती थी। ऐसी सुविधाजनक परीक्षा किसी को भी बोझ नहीं मालूम हो सकती।

परन्तु मैंने तो उसे बोझा ही बना लिया था। मैंने सोचा कि मुझे तो मूल पुस्तकें सब पढ़ लेनी चाहिए। उन्हें न पढ़ना मुझे धोखा देना प्रतीत हुआ। इसलिए काफी खर्च कर के मूल पुस्तकें खरीद लीं। रोमन लॉ को लैटिन में पढ़ जाने का निश्चय किया। विलायत की प्रवेश-परीक्षा में मैंने लैटिन पढ़ी थी। उसका यहां अच्छा उपयोग हुआ। यह मिहनत व्यर्थ न गई। दक्षिण आफ्रिका में रोमन डच लॉ प्रमाणभूत माना जाता है। उसे समझने में मुझे जस्टीनियन का अध्ययन बड़ा ही उपयोगी प्रतीत हुआ।

इंग्लैंड के कानूनों का अध्ययन मैं काफी मिहनत करने पर नौ महीने में पूरा कर सका था। क्योंकि ब्रुम की 'कॉमन लॉ' नामक बड़ी परन्तु सरस पुस्तक पढ़ने में ही बहुत समय लगा था। स्नेल की 'इक्विटी' में दिल तो लगा; परन्तु समझने में बड़ी ही मुश्किल मालूम हुई। व्हाइट और ट्युडर के मुख्य मुकदमों में जो-जो पढ़ने के थे उन्हें पढ़ने में मुझे बड़ी दिलचस्पी मालूम हुई और उससे ज्ञान भी मिला। विलियम्स और एडवर्डज़ की स्थावर-सम्पत्ति-

सम्बन्धी पुस्तक और गुडिव की जंगम-सम्पत्ति-सम्बन्धी पुस्तक मैं बड़ी दिलचस्पी के साथ पढ़ सका था। विलियम्स की पुस्तक तो मुझे उपन्यास के जैसी मालूम हुई। उसे पढ़ते हुए छोड़ने को जी न चाहता। कानूनी पुस्तकों में, हिंदुस्तान आने के बाद, मैं मेइन का 'हिन्दू ला' उतनी ही दिलचस्पी के साथ पढ़ सका था। परन्तु हिन्दुस्तान के कानूनों की बात करने के लिए यह स्थान नहीं है।

परीक्षायें पास कीं। १० जून, १८९१ ई० मैं बॅरीस्टर हुआ। ग्यारहवीं तारीख को इंग्लैंड हाईकोर्ट में ढाई शिलिंग देकर अपना नाम रजिस्टर कराया। बारह जून को हिन्दुस्तान लौट आने के लिए रवाना हुआ।

परन्तु मेरी निराशा और भीति का कुछ ठिकाना न था। कानून मैंने पढ़ तो लिया, परन्तु मेरा दिल यही कहता था कि अभी तक मुझे कानून का इतना ज्ञान नहीं हुआ है कि वकालत कर सकूँ।

इस व्यथा का वर्णन करने के लिए एक दूसरे अध्याय की आवश्यकता होगी।

---

(२५)

मेरी दुविधा

बैरिस्टर कहलाना तो आसान मालूम हुआ परन्तु बैरि-स्टरी करना बड़ा मुश्किल जान पड़ा। कानून की किताबें तो पढ़ डालीं पर वकालत करना न सीखा। कानून की पुस्तकों में कितने ही धर्म-सिद्धान्त मुझे मिले जो कि मुझे पसंद हुए। परन्तु यह समझ में न आया कि वकालत के पेशे में उनसे कैसे फ़ायदा उठाया जा सकेगा। 'अपनी चीज़ का इस्तैमाल इस तरह करो कि जिससे दूसरों की चीज़ को नुकसान न पहुँचे' यह धर्म-वचन मुझे कानून में मिला। परन्तु यह समझ में न आया कि वकालत करते हुए मवक्किल के मुक़दमे में उसका व्यवहार किस तरह किया जाता होगा। जिन मुकदमों में इस सिद्धान्त का उप-योग किया गया था, मैंने उनको पढ़ा। परन्तु उनसे इस सिद्धान्त को व्यवहार में लाने की तरकीब हाथ न आई।

दूसरे, जिन कानूनों को मैंने पढा उनमें भारतवर्ष के कानूनों का नाम तक न था। न यह जाना कि हिन्दू-शास्त्र तथा इस्लामी कानून क्या चीज़ है। अर्जीदावा लिखना तक न जाना। मैं वड़ी दुविधा में पड़ा। फीरोजशाह मेहता का नाम मैंने सुना था। वे अदालतों में सिंह के

समान गर्जना करते हैं। यह कला वे इंग्लैंड में किस प्रकार सीखे होंगे? उनके जैसी निपुणता इस जन्म में तो नहीं आने की; यह तो दूर की बात है; किन्तु मुझे तो यह भी जबरदस्त शक था कि एक वकील की हैसियत से भी मैं पेट पालने तक में समर्थ हो सकूँगा या नहीं।

यह उथला-पुथल तो तभी से चल रही थी जब मैं कानून का अध्ययन कर रहा था। मैंने अपनी यह कठिनाई अपने एक-दो मित्रों के सामने रक्खी। एक ने कहा, दादा भाई की सलाह लो। यह पहले ही लिख चुका हूँ कि मेरे पास दादा भाई के नाम का एक परिचय-पत्र था। उस पत्र का उपयोग मैंने देर से किया। ऐसे महान् पुरुषों से मिलने जाने का मुझे क्या अधिकार है? कहीं यदि उनका भाषण होता तो मैं सुनने चला जाता और एक कोने में बैठ कर अपने आँख-कान को तृप्त कर के वापस लौट आता। उन्होंने विद्यार्थियों के संपर्क में आने के लिए एक मंडल की भी स्थापना की थी। उसमें मैं जाया करता। दादाभाई की विद्यार्थियों के प्रति चिन्ता और दादाभाई के प्रति विद्यार्थियों का आदर-भाव देखकर मुझे बड़ा आनंद होता। आखिर को हिम्मत बाँधकर एक दिन वह पत्र दादाभाई को दिया। उन्होंने कहा,—'तुम जब कभी मिलना चाहो और सलाह-मशवरा लेना चाहो, ज़रूर मिलना।' लेकिन मैंने उन्हें कभी तकलीफ़ न दी। बग़ैर ज़रूरी काम के उनका समय लेना मुझे पाप मालूम हुआ। इसलिए, उस मित्र की सलाह के अनुसार, दादाभाई के सामने अपनी कठिनाइयों को रखने की मेरी हिम्मत न हुई।

उसी अथवा और किसी मित्र ने मुझे मि० फ्रेडरिक पिंकट से मिलने की सलाह दी। मि० पिंकट कॉन्ज़रवेटिव दल के थे।

लेकिन भारतीयों के प्रति उनका प्रेम निर्मल और निःस्वार्थ था। बहुत से विद्यार्थी उनसे सलाह लेते। इसलिए मैंने एक पत्र लिखकर मिलने के लिए समय मांगा। उन्होंने मुझे समय दिया। मैं मिला। यह मुलाकात मैं आज तक न भूल सका। एक मित्र की तरह वे मुझसे मिले। मेरी निराशा को तो उन्होंने हंसी में ही उड़ा दिया। 'तुम क्या ऐसा मानते हो कि हर आदमी के लिए फिरोजशाह मेहता होना जरूरी है? फिरोज़शाह और बदरुद्दीन तो विरले ही होते हैं। यह तो तुम निश्चित जानो कि एक सामान्य वकील बनने के लिए भारी निपुणता की ज़रूरत नहीं पड़ती। साधारण प्रामाणिकता तथा उद्योगशीलता से मनुष्य वकालत अच्छी तरह कर सकता है। सब के सब मुकदमे कठिन और उलझे हुए नहीं होते। अच्छा, तुम्हारा सामान्य ज्ञान कैसा क्या है?

मैंने जब उसका परिचय दिया तब मुझे वे कुछ निराश-से मालूम हुए। किन्तु वह निराशा क्षणिक थी। तुरंत ही फिर उनके चेहरे पर एक हंसी की रेखा दौड़ गई और वे बोले:—

'तुम्हारी कठिनाई को अब मैं समझ पाया। तुम्हारा सामान्य ज्ञान बहुत ही कम है। तुम्हें दुनिया का ज्ञान नहीं है। इसके बिना वकील का काम नहीं चलता। तुमने तो भारत का इतिहास भी नहीं पढ़ा। वकील को मनुष्य-स्वभाव का परिचय होना चाहिए। उसे तो चेहरा देखकर आदमी को पहचान लेना चाहिए। दूसरे, हर भारतवासी को भारतवर्ष के इतिहास का भी ज्ञान होना ज़रूरी है। वकालत के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है; किन्तु उसका ज्ञान तुम्हें होना चाहिए। मैं देखता हूं कि तुमने 'के' तथा

'मॅलसेन' कृत १८५७ के गदर का इतिहास नहीं पढ़ा है। उसे तो जरूर ही पढ़ लेना। मैं दो पुस्तकों के नाम और बतलाता हूँ। उन्हें मनुष्य को पहचानने के लिए जरूर पढ़ डालना।' यह कह कर उन्होंने लॅवेटर तथा शेमलपेनिक की 'मुख सामुद्रिक विद्या' (फिजियॉग्नामी) विषयक दो पुस्तकों के नाम लिख दिये।

इन बुजुर्ग मित्र का मैंने खूब अहसान माना। उनके सामने तो एक क्षण के लिए मेरा डर भाग गया, किंतु बाहर निकलते ही फिर चिन्ता शुरू हुई। 'चेहरा देखकर आदमी को पहचान लेना' इस वाक्य को रटता रटता और इन दो पुस्तकों का विचार करता करता घर पहुंचा। दूसरे ही रोज़ लॅवेटर की पुस्तक खरीद ली। शेमलपेनिक की किताब उस दुकान पर न मिली। लॅवेटर की पुस्तक पढ़ी तो सही; किन्तु वह तो स्नेल की इक्विटी की अपेक्षा भी कठिन मालूम हुई। दिलचस्प भी कम थी। शेक्सपियर के चेहरे का अध्ययन किया। लेकिन लंदन की सड़कों पर घूमते-फिरते शेक्सपियरों को पहचानने की शक्ति न आई।

लॅवेटर की पुस्तक से मुझे ज्ञान नहीं मिला। मि० पिंकट की सलाह की अपेक्षा उनके स्नेह से बहुत लाभ हुआ। उनकी हंसमुख तथा उदार आकृति ने मेरे दिल में जगह कर ली। उनके इस वचन पर, कि वकालत करने के लिए फिरोजशाह मेहता के समान निपुणता, स्मरणशक्ति आदि की आवश्यकता नहीं होती, केवल प्रामाणिकता तथा श्रमशीलता से काम चल जायगा, मेरा विश्वास बैठ गया। इन दो चीजों की पूँजी तो मेरे पास काफ़ी थी। इस कारण मुझे कुछ आशा बंधी।

के तथा मॅलेस की पुस्तक को मैं विलायत में न पढ़ पाया।

किंतु मैंने समय मिलते ही पहले उसी को पढ़ डालने का निश्चय कर लिया था। दक्षिण अफ्रिका में जा कर मेरा वह मनोरथ पूरा हुआ।

यों निराशा में आशा का थोड़ा सा जाम ले कर मैंने काँपते हुए "आसाम" स्टीमर से बंबई बन्दर पर पैर रक्खा। बंदर पर समुद्र क्षुब्ध था। लॉन्च में बैठकर किनारे पर पहुंचना था।

पहला भाग समाप्त

सत्य के प्रयोग अथवा आत्म-कथा

[दूसरा भाग]

(१)

रायचंद्भाई

पिछले अध्याय में मैं लिख चुका हूँ, कि वंबई-वंदर पर समुद्र क्षुब्ध था। जून-जुलाई में हिन्द महासागर में यह कोई नई वात नहीं होती। अदन से ही समुद्र का यह हाल था। सब लोग बीमार थे—अकेला मैं मौज में था। तूफ़ान देखने के लिए डेक पर रहता और भीग भी जाता। सुबह भोजन के समय यात्रियों में हम एक ही दो आदमी नज़र आते। हमें ओट की पतली लपसी की रकावी को गोद में रखकर खाना पड़ता था; वर्ना हालत ऐसी थी कि लपसी गोद में ही ढुलक पड़ती।

यह वाहरी तूफ़ान मेरे लिए तो अन्दर के तूफ़ान का चिह्नमात्र था। परन्तु वाहरी तूफ़ान के रहते हुए भी मैं जिस प्रकार अपने को शान्त रख सकता था, वही वात आन्तरिक तूफ़ान के सम्बंध में भी कही जा सकती है। जाति का सवाल सामने था ही। वकालत की चिन्ता का हाल पहले ही लिख चुका हूँ। फिर मैं ठहरा सुधारक। मन में कितने ही सुधार करने के मनसूबे बांध रक्खे

थे। उनकी भी चिन्ता थी। एक और अकल्पित चिन्ता खड़ी हो गई।

माताजी के दर्शन करने के लिए मैं अधीर हो रहा था। जब इस डाक पर पहुचे तो मेरे बड़े भाई वहाँ मौजूद थे। उन्होंने डाक्टर मेहता तथा उनके बड़े भाई से जान-पहचान कर ली थी। डाक्टर चाहते थे कि मैं उन्हीं के घर ठहरूँ। इसलिए मुझे वहीं लिवा ले गये इस तरह विलायत में जो संबंध बंधा था वह देश में भी कायम रहा। यही नहीं, बल्कि अधिक दृढ़ हो कर दोनों परिवारों में फैला।

माताजी के स्वर्गवास के बारे में मैं बिल्कुल बे-खबर था। घर पहुँचने पर मुझे यह समाचार सुनाया गया और स्नान कराया। यह खबर मुझे विलायत में भी दी जा सकती थी; पर मेरे बड़े भाई ने बंबई पहुँचने तक खबर न पहुँचाने का ही निश्चय किया—इस विचार से कि मुझे आघात कम पहुँचे। अपने इस दुःख पर मैं परदा डालना चाहता हूँ। पिताजी की मृत्यु से अधिक आघात मुझे इस समाचार को पा कर पहुँचा। मेरे कितने ही मनसूवे मिट्टी में मिल गये। पर, मुझे याद है, कि इस समाचार को सुनकर मैं रोने-पीटने नहीं लगा था। आँसू तक को प्रायः रोक पाया था। और इस तरह व्यवहार शुरू रक्खा मानों माताजी की मृत्यु हुई ही न हो।

डाक्टर मेहता ने अपने घर के जिन लोगों से परिचय कराया उनमें से एक का जिक्र यहाँ किये बिना नहीं रह सकता। उनके भाई रेवाशंकर जगजीवन के साथ तो जीवन भर के लिए स्नेह-गांठ बंध गई। परन्तु जिनकी बात मैं कहना चाहता हूँ वे तो हैं कवि रायचंद अथवा राजचन्द्र। वे डाक्टर साहब के बड़े भाई के

दामाद थे और रेवाशंकर जगजीवन की दुकान के भागीदार तथा कार्यकर्ता थे। उनकी अवस्था उस समय २५ वर्ष से अधिक न थी। फिर भी पहली ही मुलाक़ात में मैंने यह देख लिया कि वे चरित्रवान् और ज्ञानी थे। वे शतावधानी माने जाते थे। डाक्टर मेहता ने मुझ से कहा कि इनके शतावधान का नमूना देखना। मैंने अपने भाषा-ज्ञान का भण्डार खाली किया और कविजी ने मेरे कहे तमाम शब्दों को उसी नियम से कह सुनाया जिस नियम से मैंने कहा था। इस सामर्थ्य पर मुझे ईर्ष्या तो हुई; किन्तु उस पर मैं मुग्ध न हो पाया। जिस चीज़ पर मैं मुग्ध हुआ उसका परिचय तो मुझे पीछे जाकर हुआ। वह था उनका विशाल शास्त्र-ज्ञान, उनका निर्मल चरित्र और आत्म-दर्शन करने की उनकी भारी उत्कंठा। मैंने आगे चल कर जाना कि केवल आत्म-दर्शन करने के ही लिए वे अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे।

हसतां रमतां प्रगट हरि देखुं रे,
मारुं जीव्युं सफल तव लेखुं रे।
मुक्तानंद नो नाथ विहारी रे,
ओधा जीवन दोरी अमारी रे।*

मुक्तानंद का यह वचन उनकी ज़बान पर तो रहता ही था; पर उनके हृदय में भी अंकित हो रहा था।

खुद हज़ारों का व्यापार करते, हीरे-मोती की परख करते, व्यापार की गुत्थियाँ सुलझाते। पर वे बातें उनका विषय न थीं। उनका विषय—उनका पुरुषार्थ—तो आत्म-साक्षात्कार—हरिदर्शन था। दुकान पर और कोई चीज़ हो या न हो एक न एक धर्म-पुस्तक

* भावार्थ—मैं अपना जीवन तभी सफल समझूंगा जब मैं हँसते खेलते ईश्वर को अपने सामने देखूंगा, निश्चय पूर्वक वही मुक्तानंद का जीवन-सूत्र है। अनु०

और डायरी ज़रूर रहा करती। व्यापार की बात जहाँ ख़तम हुई कि धर्म-पुस्तक खुलती अथवा रोज़नामचे पर क़लम चलने लगती। उनके लेखों का जो संग्रह गुजराती में प्रकाशित हुआ है उसका अधिकांश इस रोज़नामचे के ही आधार पर लिखा गया है। जो मनुष्य लाखों के सौदे की बात करके तुरंत आत्म-ज्ञान की गूढ़ बातें लिखने बैठ जाता है वह व्यापारी की श्रेणी का नहीं बल्कि शुद्ध ज्ञानी की कोटि का है। उनके सम्बंध में यह अनुभव मुझे एक बार नहीं अनेक बार हुआ है। मैंने उन्हें कभी मूर्छित—गाफ़िल नहीं पाया। मेरे साथ उनका कुछ स्वार्थ न था। मैं उनके बहुत निकट समागम में आया हूँ। मैं उस समय एक ठलुआ बॅरिस्टर था। पर जब मैं उनकी दुकान पर पहुँच जाता तो वे धर्म-वार्ता के सिवा दूसरी बातें न करते। इस समय तक मैं अपना रास्ता देख न पाया था; यह भी नहीं कह सकते कि धर्म-वार्ताओं में मेरा मन लगता था। फिर भी, मैं कह सकता हूँ, कि रायचंद भाई की धर्म-वार्ता मैं भाव से सुनता था। इसके बाद कितने ही धर्माचार्यों के सम्पर्क में मैं आया हूँ, प्रत्येक धर्म के आचार्यों से मिलने का मैंने प्रयत्न किया है; पर जो छाप मेरे दिल पर रायचंद भाई की पड़ी वह किसी की न पड़ सकी। उनकी कितनी ही बातें मेरे ठेठ अन्तस्तल तक पहुंच जातीं। उनकी बुद्धि को मैं आदर की दृष्टि से देखता था। उनकी प्रामाणिकता पर भी मेरा उतना ही आदर-भाव था। और इससे मैं जानता था कि वे मुझे जान-बूझ कर उलटे रास्ते नहीं ले जावेंगे एवं मुझे वही बात कहेंगे जिसे वे अपने जी में ठीक समझते होंगे। इस कारण मैं अपनी आध्यात्मिक कठिनाइयों में उनका आश्रय लेता।

रायचन्द भाई के प्रति इतना आदर-भाव रखते हुए भी मैं उन्हे धर्म-गुरु का स्थान अपने हृदय में न दे सका। धर्मगुरु की खोज तो मेरी अबतक चल ही रही है।

हिन्दू धर्म में गुरु-पद को जो महत्व दिया गया है उसे मैं मानता हूं। 'गुरु बिन होत न ज्ञान' यह वचन बहुतांश में सच है। अक्षर ज्ञान देने वाला शिक्षक यदि अधकचरा हो तो एक बार काम चल सकता है परन्तु आत्मदर्शन कराने वाले अधूरे शिक्षक से काम हरगिज़ नहीं चलाया जा सकता। गुरु-पद तो पूर्ण ज्ञानी को ही दिया जा सकता है। सफलता गुरु की खोज में ही है; क्योंकि गुरु शिष्य की योग्यता के अनुसार ही मिला करते हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक साधक को योग्यता-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने का पूरा पूरा अधिकार है। इस प्रयत्न का फल ईश्वराधीन है।

इसलिए रायचंद भाई को मैं यद्यपि अपने हृदय का स्वामी न बना सका तथापि, हम आगे चलकर देखेंगे कि, उनका सहारा मुझे समय समय पर, कैसा मिलता रहा है। यहाँ तो इतना ही कहना बस होगा कि मेरे जीवन पर गहरा असर डालने वाले तीन आधुनिक मनुष्य हैं। रायचंद भाई ने अपने सजीव संसर्ग से, टाल्स्टॉय ने 'वैकुंठ तुम्हारे हृदय में है' नामक पुस्तक द्वारा, तथा रस्किन ने 'अन्टु धिस लास्ट—सर्वोदय नामक पुस्तक से मुझे चकित कर दिया। इन प्रसंगों का वर्णन अपने अपने स्थान पर किया जायगा।

---

(२)

संसार-प्रवेश

बड़े भाई ने तो मुझ पर बहुतेरी आशायें बांध रक्खी थीं। उन्हें धन का, कीर्ति का, और पद का लोभ बहुत था। उनका हृदय बादशाह की तरह था। उदारता उडाऊपन तक उन्हें ले जाती। इससे तथा उनके भोलेपन के कारण मित्र करते उन्हें देर न लगती। इन मित्रों के द्वारा उन्होंने मेरे लिए मुकदमे लाने की तजवीज कर रक्खी थी। उन्होंने यह भी मान लिया था कि मैं खूब रुपया कमाने लगूंगा और इस भरोसे पर उन्होंने घर का खर्च भी खूब बढ़ा लिया था। मेरे लिए वकालत का क्षेत्र तैयार करने में भी उन्होंने कसर न उठा रक्खी थी।

जाति का झगड़ा अभी खड़ा ही था। दो दल हो गये थे। एक दल ने मुझे तुरंत ज़ाति में ले लिया। दूसरा न लेने के पक्ष में अलग रहा। जाति में ले लेने वाले दल को सन्तुष्ट करने के लिए, राजकोट पहुँचने के पहले, भाई साहब मुझे नाशिक ले गये। वहाँ गंगास्नान कराया और राजकोट पहुँचते ही जाति-भोज दिया गया।

यह बात मुझे रुचिकर न हुई। बड़े भाई का मेरे प्रति अगाध प्रेम था। मेरा ख़याल है कि मेरी भक्ति भी वैसी ही थी। इसलिए,

उनकी इच्छा और आज्ञा मान कर मैं यंत्र की तरह, विना समझे, उसके अनुसार करता चला गया। जाति की समस्या तो इतना करने से सुलझ गई।

जिस दल से मैं पृथक् रहा उसमें प्रवेश करने के लिए मैंने कभी कोशिश न की। और न मैं कभी जाति के किसी मुखिया पर मन में भी क्रुद्ध हुआ। उनमें ऐसे लोग भी थे, जो मुझे तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। उनसे मैं नमता-झुकता रहता। जाति के वहिष्कार-विषयक नियम का पूरा पालन करता। अपने सास-ससुर अथवा वहन के यहाँ पानी तक न पीता! वे छिपे छिपे मिलाने को तैयार होते थे; पर जिस वात को चार आदमियों के सामने नहीं कर सकते उसे लुक-छिपकर करने को मेरा जी न चाहता।

मेरे इस व्यवहार का परिणाम यह हुआ कि मुझे याद नहीं आता, जाति वालों ने कभी कोई उपद्रव मेरे साथ किया हो। यही नहीं वल्कि यद्यपि मैं आज भी जाति के एक विभाग से नियम के अनुसार वहिष्कृत माना जाता हूं, फिर भी मैंने अपने प्रति उनकी तरफ से मान और उदारता का ही अनुभव किया है। उन्होंने मुझे मेरे काम में मदद की है, और मुझसे इस वात की जरा भी आशा न रक्खी कि मैं जाति के लिहाज से कोई काम करूँ। मेरी यह धारणा है कि इस मधुर फल का कारण है मेरा अप्रतिकार। यदि मैंने जाति में जाने की कोशिश की होती, अधिक दलवंदी करने की चेष्टा की होती, जाति वालों को छेड़ा और उकसाया होता तो वे अवश्य मेरे खिलाफ उठ खड़े होते और मैं, विलायत से आते ही, उदासीन और अलिप्त रहने के

बदले, कुचक्र के फंदे में पड़कर केवल मिथ्यात्व का पोषक बन जाता।

पत्नी के साथ मेरा सम्बन्ध अभी, जैसा मैं चाहता था, न हुआ था। विलायत जाने पर भी अपने द्वेष-दुष्ट स्वभाव को मैं न छोड़ सका था। हर बात में मेरी दोष देखने की वृत्ति और वहम जारी रहा। इससे मैं अपने मनोरथों को पूरा न कर सका। सोचा था कि पत्नी को लिखना-पढ़ना सिखाऊंगा; परन्तु मेरी विषयासक्ति ने मुझे यह काम बिलकुल न करने दिया। और अपनी इस कमी का गुस्सा मैंने पत्नी पर निकाला। एक बार तो यहाँ तक नौबत आ पहुँची कि मैंने उसे नैहर भेज दिया और बहुत कष्ट देने के बाद ही फिर साथ रहने देना स्वीकार किया। आगे चल कर मैं देख सका कि यह मेरी बिलकुल नादानी थी।

बालकों की शिक्षा-प्रणाली में भी मुझे बहुत-कुछ सुधार करना थे। बड़े भाई के लड़के-बच्चे थे और मैं भी एक बच्चा छोड़ गया था जो कि अब चार साल का होने आया था। सोचा यह था कि इन बच्चों को कसरत कराऊंगा, हट्टा-कट्टा बनाऊंगा और अपने साथ रक्खूंगा। भाई इसमें सहमत थे। इसमें मैं कुछ न कुछ सफलता प्राप्त कर सका। लड़कों का समागम मुझे बहुत प्रिय मालूम हुआ। और उनके साथ हँसी-मजाक करने की आदत आजतक बाकी रह गई है। तभी से मेरी यह धारणा हुई है कि मैं लड़कों के शिक्षक का काम अच्छा कर सकता हूँ।

भोजन-पान में भी सुधार करने की आवश्यकता स्पष्ट थी। घर में चाय-काफ़ी को तो स्थान मिल ही चुका था। बड़े भाई ने सोचा कि भाई के विलायत से घर आने के पहले, घर में, विला-

यत की कुछ न कुछ हवा तो घुस ही जानी चाहिए। इस कारण चीनी के बरतन, चाय आदि जो भी चीजें पहले महज दवादारू के लिए अथवा सुधरे हुए मिहमानों के लिए घर में रहती थीं, अब सब के लिए काम आने लगीं। ऐसे वायु-मण्डल में मैं अपने 'सुधारों' को लेकर आया। अब ओट मील की पतली लपसी शुरू हुई; चाय-काफ़ी की जगह कोको आया। पर यह परिवर्तन नाम-मात्र का हुआ, वास्तव में तो चाय-काफी में कोको और आकर शामिल हो गया। बूट और मौजों ने अपना अड्डा पहले से जमा रक्खा था। मैंने अब कोट-पतलून से घर पवित्र कर दिया!

इस तरह ख़र्च बढ़ा। नवीनतायें बढ़ीं। घर पर सफेद हाथी बंधा। पर ख़र्च आये कहाँ से? यदि राजकोट में आते ही वक़ालत शुरू करता तो हँसी होने का डर था। क्योंकि मुझे तो अभी उतना भी ज्ञान न था कि राजकोट में पास हुए वकील के सामने खड़ा रह सकता और तिसपर फीस उससे दस गुनी लेने का दावा! कौन मवक्किल ऐसा बेवक़ूफ था, जो मुझे अपना वकील बनाता। अथवा यदि कोई ऐसा मूर्ख मिल भी जाता तो क्या यह उचित था कि मैं अज्ञान में उद्धतता और धोखेबाजी की जोड़ मिला कर अपने पर संसार का कर्ज बढ़ाता।

मित्रों की यह सलाह पड़ी कि मैं कुछ समय बंबई जा कर हाईकोर्ट में अनुभव प्राप्त करूं और भारत के कानून-कायदों का अध्ययन करूँ। साथ ही मुकदमे मिल जायँ तो वकालत भी करता रहूँ। मैं बम्बई रवाना हुआ।

घर-बार रचा। रसोइया रक्खा। वह मुझ जैसा ही था। ब्राह्मण था। मैंने उसे नौकर की तरह तो रक्खा ही न था। वह

नहाता तो था, पर धोता न था। धोती मैली, जनेऊ मैला, शास्त्राध्ययन की तो बात ही दूर है। अधिक अच्छा रसोइया कहाँ से लाता?

'क्यों रविशंकर, रसोई बनाना तो जानते हो, पर सन्ध्या वगैरह भी कुछ याद है?'

'सन्ध्या, साहब? सन्ध्या तो है हमारी हल और कुदाली है खटकरम। मैं तो ऐसा ही बिरामण हूँ। आप जैसे हैं तो निबाह लेते हैं। नहीं तो खेती बनी-बनाई हुई है।'

मैं अपना कर्तव्य समझा। मुझे रविशंकर का शिक्षक बनना होगा। समय तो बहुत था ही, आधी रसोई रविशंकर पकाता और आधी मैं। विलायत के अन्न-भोजन के प्रयोग यहाँ शुरू किये। एक स्टो खरीदा। मैं खुद तो पंक्ति-भेद मानता ही न था। रविशंकर को भी उसमें आपत्ति न थी। सो हमारी जोड़ी खासी मिल गई। सिर्फ इतनी शर्त—अथवा मुसीबत कहिए—थी; रविशंकर ने मैले-कुचैलेपन से नाता तोड़ने और रसोई साफ रखने की कसम खा रक्खी थी।

पर मैं चार-पाँच मास से अधिक बम्बई न रह सकता था। क्योंकि खर्च बढता ही जाता था और आमदनी कुछ न होती थी।

इस तरह मैंने संसार में प्रवेश किया बॅरीस्टरी मुझे खलने लगी। आडम्बर बहुत, आमदनी कम। जिम्मेवारी का खयाल मुझे भीतर ही भीतर कुतर-कुतर कर खाने लगा।

---

(३)

पहला मुकदमा

बम्बई में एक ओर कानून का अध्ययन शुरू हुआ, दूसरी ओर भोजन के प्रयोग। और उसमें मेरे साथ वीरचंद गांधी सम्मिलित हुए। तीसरी ओर भाई साहब मेरे लिए मुकदमे खोजने में लगे।

कानून पढ़ने का काम ढ़िलाई से चला। सिविल प्रोसीजर कोड किसी तरह आगे नहीं चल सका। हाँ, कानून शहादत ठीक चला। वीरचंद गांधी सालिसिटर की तैयारी करते थे, इसलिए वकीलों की बातें बहुत करते। 'फिरोजशाह की योग्यता और निपुणता का कारण है उनका कानून-विषयक अगाध ज्ञान। कानून शहादत तो उन्हें बर जबान है। दफ़ा बत्तीस का एक-एक मुकदमा वे जानते हैं। बदरुद्दीन तैयबजी की बहस करने और दलीलें देने की शक्ति ऐसी अद्भुत है कि जज लोग भी चकित हो जाते हैं।'

ज्यों ज्यों मैं ऐसे अतिरथी—महारथियों की बातें सुनता त्यों-त्यों मेरे छक्के छूटते।

'बॅरिस्टर लोग पांच-सात साल तक अदालतों में मारे-मारे

फिरें, यह कोई ग़ैर मामूली बात नहीं है। इसीसे मैंने सालिसिटर होना ठीक समझा है। तीन साल के बाद यदि तुम अपने खर्च भर के लिए पैदा कर सको तो बहुत समझना।'

खर्च हर महीने लग रहा था। बाहर बॅरिस्टर की तख़्ती लगी रहती और अन्दर बॅरिस्टरी की तैयारी होती रहती! मेरा दिल इन दोनों बातों की संगति किसी प्रकार न लगा सकता था। इस कारण मेरा अध्ययन बड़ी विकलता के साथ होता। मैं पहले कह चुका हूँ कि कानून शहादत में कुछ मेरा दिल लगा। मेन का 'हिन्दू ला' बड़ी दिलचस्पी के साथ पढ़ा। परन्तु पैरवी करने की हिम्मत अभी न आई। अपना यह दुःख मैं किससे कहता? ससुराल में नवागत बहू की तरह मेरी हालत हो गई!

इतने ही में ममीबाई का मुकदमा मुझे मिला। मामला स्माल-काज कोर्ट में था 'दलाल को कमीशन देना पड़ेगा'! मैंने साफ़ इनकार कर दिया।

'परन्तु अदालत फौजदारी के नामी वकील—भी तो कमीशन देते हैं, जो कि तीन-चार हजार महीना पैदा कर लेते हैं।'

'मुझे उनकी बराबरी नहीं करना मुझे तो ३००) मासिक मिल जायँ तो बस। पिताजी को कहाँ उससे ज्यादह मिलते थे?'

'पर वह ज़माना निकल गया। बंबई का खर्च कितना है! ज़रा व्यवहार की बातों को भी देखना चाहिए।'

मैं टस से मस न हुआ कमीशन न देने दिया। ममीबाई का मुक़दमा तो चला ही। मुकदमा था आसान। मुझे ३०) मिहन-ताना मिला था। एक दिन से ज्यादह का काम न था।

स्माल़काज़ कोर्ट में पहले पहल मैं पैरवी करने गया। मैं

मुद्दालेह की तरफ से था। इसलिए मुझे जिरह करना थी। मैं खड़ा हुआ; पर पैर काँपने लगे, सिर घूमने लगा। मुझे मालूम हुआ, सारी अदालत घूम रही है। सवाल क्या पूछूं, यह सूझ नहीं पड़ता था। जज हँसा होगा। वकीलों को तो मज़ा आया ही होगा। पर उस समय मेरी आँखे ये सब बातें नहीं देख सकती थीं।

मैं बैठ गया। दलाल से कहा—मैं इस मामले की पैरवी न कर सकूंगा—तुम पटेल को विकालतनामा दे दो। और अपनी यह फीस वापस ले लो ५१) दे कर उसी दिन पटेल साहब से तय कर लिया। उनके लिए तो यह बांये हाथ का खेल था।

मैं सटका। पता नहीं, मुवक्किल हारा या जीता। बड़ा लज्जित हुआ। निश्चय किया कि जब तक पूरी पूरी हिम्मत न आ जाय तब तक कोई मुकदमा न लूंगा। और दक्षिण आफ्रिका जाने तक अदालत में न गया। इस निश्चय में कोई गुण न था। हारने के लिए कौन अपना मुकदमा मुझे देता? अतएव मेरे इस निश्चय के बिना भी कोई मुझे अदालत में पैरवी करने आने का कष्ट न देता!

पर बंबई में अभी एक और मुकदमा मिलना बाकी था। इसमें सिर्फ अर्ज़ी लिखना थी। एक गरीब मुसलमान की जमीन पोरबंदर में ज़ब्त हो गई थी। मेरे पिताजी का नाम वह जानता था और इसलिए वह उनके बॅरिस्टर पुत्र के पास आया था। मुझे उसका मामला कमज़ोर मालूम हुआ; परन्तु मैंने अर्ज़ी लिख देना मंजूर कर लिया। छपाई का ख़र्च मवक्किल से ठहरा। मैंने अर्ज़ी तैयार की। मित्रों को दिखाई। उन्होंने उसे पास किया, तब मुझे कुछ विश्वास हुआ कि हाँ, अब अर्जियाँ लिख लेने लायक हो जाऊँगा-और मैं लायक तो हो भी गया था।

पर मेरा काम बढ़ता गया। यों मुफ्त में अर्जियाँ लिखते रहने से अर्जियाँ लिखने का मौक़ा तो मिलता; पर उसमें 'राम जनम' का सवाल कैसे हल हो सकता था ?

मैंने सोचा कि मैं शिक्षक का काम तो अवश्य कर सकता हूँ। अँग्रेज़ी मेरी अच्छी थी। इसलिए यदि किसी स्कूल में मैट्रिक क्लास को अँग्रेज़ी पढ़ाने का अवसर मिले तो अच्छा हो। कुछ तो आमदनी हुआ करेगी।

मैंने अखबारों में पढ़ा—'चाहिए, अंग्रेज़ी शिक्षक। रोज एक घण्टे के लिए। वेतन ७५)' यह एक प्रख्यात हाईस्कूल का विज्ञापन था। मैंने दरख़्वास्त दी। रोबरू मिलने का हुक्म मिला। मैं बड़ी उमंग से गया। पर जब आचार्य को मालूम हुआ कि मैं बी. ए. नहीं हूँ तब मुझे दुःख के साथ विदा किया।

'पर मैंने लन्दन से मैट्रिक पास किया है। मेरी दूसरी भाषा लैटिन थी।'

'तो ठीक; पर हमें तो ग्रेज्युएट की ज़रूरत है।'

मैं लाचार रहा। मेरे हाथ-पांव ठण्डे हो गये। बड़े भाई भी चिन्ता में पड़े। हम दोनों ने सोचा कि बंबई में समय गँवाना फजूल है। मुझे राजकोट में ही सिलसिला जमाना चाहिए। भाई खुद एक वकील थे। अर्ज़ियाँ लिखने का कुछ न कुछ काम तो दिला ही सकेंगे। फिर राजकोट में घर भी था। वहाँ रहने से बंबई का सारा खर्च कम हो सकता था। मैंने इस सलाह को पसंद किया। पांच-छः महीने रहकर बंबई से डेरा-डण्डा उठाया।

बंबई रहते हुए मैं रोज हाईकोर्ट जाता। पर यह नहीं कह सकता कि वहाँ कुछ सीख पाया। इतना ज्ञान न था कि सीख

सकता। कितनी ही वार तो मुकदमे में कुछ समझ ही न पड़ता, न दिल ही लगता। बैठे बैठे झोंके भी खाया करता, और भी झोंका खाने वाले वहाँ थे—इससे मेरी शर्म का बोझ हलका हो जाता। आगे चल कर मेरा ख़याल हुआ कि हाईकोर्ट में बैठे बैठे नींद के झोंके खाना एक फैशन ही समझ लेना चाहिए। फिर तो शर्म का कारण ही न रह गया।

यदि इस युग में बंबई में मेरे जैसे कोई बेकार बॅरिस्टर हो तो उनके लिए एक छोटा-सा अपना अनुभव यहाँ लिख देता हूँ।

मकान मेरा गिरगाँव में था। फिर भी कभी-सभी गाड़ी किराये करता। ट्राम में भी मुश्किल से बैठता। गिरगाँव से नियम-पूर्वक बहुत करके पैदल ही जाता। खासे ४५ मिनिट लगते। लौटता भी बिला नागा पैदल ही। धूप सहने की आदत डाल ली थी। इससे मैंने खर्च में किफायत भी बहुत की और मैं एक दिन भी वहाँ बीमार न पड़ा—हालाँ कि मेरे साथी बीमार होते रहते थे। जब मैं कमाने लगा तब भी मैं आज तक पैदल ही आफिस ज़ाता। उसका लाभ मैं आज तक उठा रहा हूँ।

---

(४)

पहला आघात

बंबई से निराश हो कर राजकोट गया। अलहदा दफ़्तर खोला। कुछ सिलसिला चला। अर्जियाँ लिखने का काम मिलने लगा और प्रति मास लगभग २००) की आमदनी होने लगी। इन अर्जियों के मिलने का कारण मेरी योग्यता नहीं, बल्कि ज़र्या था! बड़े भाई साहब के साथी वकील की वकालत अच्छी चलती थी। जो बहुत जरूरी और रहस्यपूर्ण अर्जियाँ आतीं अथवा जिन्हें वे महत्वपूर्ण समझते वे तो बड़े बॅरीस्टर के पास जातीं, मुझे तो सिर्फ़ उनके ग़रीब मवक्किलों की अर्जियां मिलतीं।

बम्बई वाली कमीशन न देने की मेरी टेक यहाँ न निभ सकी। वहाँ और यहाँ की स्थिति का भेद मुझे समझाया गया—बम्बई में तो दलाल को कमीशन देने की बात थी; यहाँ वकील को देने की बात है। मुझ से कहा गया कि बम्बई की तरह यहाँ भी तमाम बॅरीस्टर, बिना अपवाद के, कुछ न कुछ अवश्य दिया करते हैं। भाई साहब की दलील का उत्तर मेरे पास न था। 'तुम देखते हो कि मैं एक दूसरे वकील का साझी हूँ। हमारे पास आने वाले मुक-दमों में से तुम्हारे लायक मुकदमे तुम्हें देने की ओर मेरी प्रवृत्ति

स्वभावतः रहती है और यदि तुम अपनी फीस का कुछ अंश मेरे साझी को न दो तो मेरी स्थिति कितनी विषम हो सकती है ? हम तो एक साथ रहते हैं, इसलिए मुझे तो तुम्हारी फीस का लाभ मिल ही जाता है; पर मेरे साझीदार को नहीं मिलता। पर यदि वही मुकदमा वह दूसरे किसी को दे दे तो उसे उसका हिस्सा अवश्य मिलेगा।' मैं इस दलील के चक्कर में आ गया और मेरे मन ने कहा यदि मुझे बॅरीस्टरी करना है, तो फिर ऐसे मुकदमों में कमिशन न देने का आग्रह मुझे न रखना चाहिए। मैं झुक गया। अपने मन को फुसलाया, अथवा स्पष्ट शब्दों में कहें तो धोखा दिया। पर इसके सिवा दूसरे किसी मामले में कमिशन दिया हो, यह मुझे याद नहीं पड़ता।

इस तरह यद्यपि मेरा आर्थिक सिलसिला तो लग गया; परन्तु इसी अरसे में मुझे अपने जीवन में पहली ठेस लगी। अब तक मैंने सिर्फ कानों से सुन रक्खा था कि ब्रिटिश अधिकारी कैसे होते हैं! अब अपनी आँखों देखने का अवसर मिला।

पोरबन्दर के भूतपूर्व राणा साहब को गद्दी मिलने के पहले मेरे भाई उनके मन्त्री और सलाहकार थे। उस समय उनपर यह तुहमत लगाई गई कि ये राणा साहब को उलटी सलाह देते हैं। तत्कालीन पोलिटिकल एजण्ट को उसकी शिकायत की गई थी और उनका ख़याल भाई सा० के प्रति खराब हो रहा था। इन साहब से मैं विलायत में मिला था। वहाँ उनकी—मेरी ठीक-ठीक मित्रता हो गई थी। भाई साहब ने सोचा कि इस परिचय से लाभ उठा कर मैं पोलिटिकल एजण्ट से दो बातें कहूँ और उनके दिल पर जो कुछ बुरा असर पड़ा हो उसे दूर करने की चेष्टा करूँ।

मुझे यह बात बिलकुल न पसन्द हुई। मैंने कहा—विलायत की ऐसी-वैसी मुलाकात का फ़ायदा यहाँ न उठाना चाहिए। यदि भाई साहब ने सचमुच ही कोई बुरा काम किया हो तो फिर सिफ़ारिश से लाभ ही क्या? यदि न किया हो तो फिर बाकायदा अपना वक्तव्य पेश करना चाहिए अथवा अपनी निर्दोषता पर विश्वास रख कर निर्भय हो रहना चाहिए। पर भाई साहब को यह बात न पटी। 'तुम काठियावाड़ से परिचित नहीं हो। जिन्दगी की ख़बर तुम्हें अब पड़ेगी। यहाँ जर्या और मेल—मुलाकात से सब काम होता है। तुम्हारे जैसा भाई हो और तुम्हारे मुलाक़ाती हाकिम को थोड़ी सी सिफारिश करने का जब वक्त आवे तब तुम इस तरह पिण्ड छुड़ा लो, यह उचित नहीं।'

भाई की बात मैं न टाल सका। अपनी इच्छा के ख़िलाफ़ मैं गया। मुझे उस हाकिम के पास जाने का कुछ अधिकार न था। मैं जानता था कि जाने में मेरा आत्माभिमान जाता है। मैंने मिलने का समय माँगा। वह मिला और मैं गया। मैंने पुरानी पहचान निकाली; परन्तु मैंने तुरन्त देखा कि विलायत और काठियावाड़ में भेद था। हुक़ूमत की कुरसी पर डटे हुए साहब और विलायत में छुट्टी पर गये हुए साहब में भेद था। पोलिटिकल एजण्ट को मुलाक़ात तो याद आई; पर साथ ही अधिक बेरुखे भी हुए। उनकी बेरुखाई में मैंने देखा, उनकी आँखों में मैंने पढा—उस परिचय से लाभ उठाने तो तुम यहाँ नहीं न आये हो! यह जानते-समझते हुए भी मैंने अपना सुर छेडा। साहब अधीर हुए—'तुम्हारे भाई कुचक्री हैं। मैं तुम से ज्यादा बात सुनना नहीं चाहता। मुझे समय नहीं है। तुम्हारे भाई को कुछ कहना हो तो बाक़ायदा

अर्ज़ी पेश करें।' यह उत्तर बस था, यथार्थ था; परन्तु गरज़ बावली होती है। मैं अपनी बात कहता ही जा रहा था। साहब उठे। 'अब तुमको चले जाना चाहिए।'

मैंने कहा—'पर मेरी बात तो पूरी सुन लीजिए, साहब लाल-पीले हुए—'चपरासी इसको दरवाजे के बाहर कर दो।'

'हुजूर', कह कर चपरासी दौड़ आया। मेरा चर्खा अभी तक चल ही रहा था। चपरासी ने मेरा हाथ पकड़ा और दरवाज़े के बाहर कर दिया।

साहब चले गये, चपरासी भी चला गया। मैं भी चला, झुंझलाया, खिसियाना हुआ। मैंने चिट्ठी लिखी 'आपने मेरा अपमान किया है, चपरासी से मुझपर हमला कराया है। मुझ से माफी माँगो, नहीं तो बाक़ायदा मान-हानि का दावा करूँगा।' चिट्ठी भेज दी। थोड़ी ही देर में साहब का सवार जवाब ले आया—

'तुमने मेरे साथ असभ्यता का बरताव किया। तुमसे कह दिया था कि जाओ; फिर भी तुम न गये। तब मैंने ज़रूर चपरासी को कहा कि इन्हें दरवाज़े के बाहर कर दो और चपरासी को ऐसा कहने पर भी तुम बाहर नहीं गये। तब उसने हाथ पकड़ कर तुम्हें दफ़्तर से बाहर कर दिया। तुमको जो कुछ करना हो, शौक से करो।' जवाब का भाव यह था।

इस जवाब को जेब में रख अपना सा मुँह ले, मैं घर आया। भाई से सारा हाल कहा। उन्हें दुःख हुआ। पर वे मेरी सान्त्वना क्या कर सकते थे? वकील मित्रों से सलाह ली। क्योंकि खुद मैं दावा दायर करना कहाँ जानता था? उस समय सर फिरोज़शाह मेहता अपने किसी मुक़दमे में राजकोट आये थे। मुझ जैसा

नया बैरिस्टर भला उनसे कैसे मिल सकता था ? जिस वकील की मार्फत वे आये थे उनके द्वारा कागज़-पत्र भेज कर सलाह ली। 'गांधी से कहना कि ऐसी बातें तो तमाम वकील—बॅरीस्टरों के अनुभव में आई होंगी। तुम अभी नये हो। तुमपर अभी विलायत की हवा का असर है। तुम ब्रिटिश अधिकारी को पहचानते नहीं। यदि तुम चाहते हो कि सुख से बैठ कर दो पैसे कमा लें तो उस चिट्ठी को फाड़ डालो और अपमान की यह घूँट पी डालो। मामला चलाने में तुम्हें एक कौड़ी न मिलेगी और मुफ़्त में बरबादी हाथ आवेगी। जिन्दगी का अनुभव तो तुम्हें अभी मिलना बाकी है।'

मुझे यह नसीहत ज़हर की तरह कड़वी लगी। परन्तु इस कड़वी घूँट को पिये बिना चारा न था। मैं इस अपमान को भूल तो न सका; पर मैंने उसका सदुपयोग किया। 'अब से मैं अपने को ऐसी हालत में न डालूँगा। इस तरह किसी की सिफारिश आगे न करूँगा' इस नियम का भंग मैंने फिर कभी न किया। इस आघात ने मेरे जीवन की दिशा बदल दी।

---

(५)

दक्षिण आफ्रिका की तैयारी

पोलिटिकल एजण्ट के पास मेरा जाना अवश्य अनुचित था; परन्तु उसकी अधीरता, उसका रोष, उनकी उद्धतता के सामने मेरा दोष बहुत छोटा हो गया। दोष की सजा धक्का दिलाना न थी। मैं उसके पास पांच मिनिट भी न बैठा हूँगा। मेरा बातचीत करना ही उसे नागवार हो गया। वह मुझे सौजन्य के साथ जाने के लिए कह सकता था, परन्तु उसके हुकूमत के नशे की सीमा न थी। बाद को मुझे मालूम हुआ कि धीरज जैसी किसी चीज़ को यह शख्स न जानता था। मिलने जानेवाले का अपमान करना उसके लिए मामूली बात थी। जहाँ उसकी रुचि के खिलाफ कोई बात हुई कि फौरन साहब का मिजाज बिगड़ जाता।

मेरा ज्यादहतर काम उसकी अदालत में था। खुशामद मुझ से हो नहीं सकती थी। और उसे नाजायज़ तरीके से खुश करना मैं चाहता न था। नालिश करने की धमकी दे कर नालिश न करना और उसे कुछ भी न लिखना मुझे अच्छा न लगा।

इस बीच काठियावाड़ की अन्दरूनी खट-पट का भी मुझे कुछ अनुभव हुआ। काठियावाड अनेक छोटे-छोटे राज्यों का प्रदेश है।

वहाँ राजकाजी लोगों की बहुतायत होना स्वाभाविक था। राज्यों में परस्पर गहरे षड्यन्त्र, पद-प्रतिष्ठा पाने के लिए षड्यन्त्र, राजा कच्चे कान के और पराधीन। साहबों के चपरासियों की खुशामद, सरिश्तेदार को डेढ़ साहब समझिए—क्योंकि सरिश्तेदार साहब की आंख, साहब के कान, और उसका दुभापिया। सरिश्तेदार जो बता दे वही कायदा। सरिश्तेदार की आमदनी साहब की आमदनी से ज्यादह मानी जाती। संभव है कि इसमें कुछ अत्युक्ति हो। पर यह बात निर्विवाद है कि सरिश्तेदार के थोड़े वेतन के मुक़ावले में उसका ख़र्च बहुत ज्यादह रहता था।

यह वायु-मण्डल मुझे ज़हर के समान प्रतीत हुआ। दिन-रात मेरे मन में यह विचार रहने लगा कि अपनी स्वतंत्रता की रक्षा किस तरह कर सकूंगा।

मैं उदासीन रहने लगा। भाई ने मेरा भाव देखा। यह विचार आया कि कहीं कोई नौकरी मिल जाय तो इन षडयन्त्रों से पिण्ड छूट सकता है। परन्तु विना षड्यंत्र के न्यायाधीश अथवा दीवान का पद कहाँ से मिल सकता था।

और वकालत करने के रास्ते में साहब के साथ हुआ झगड़ा खड़ा हुआ था।

पोरबन्दर में राणा साहब को अख़्यारात न थे, उनके लिए कुछ अधिकार प्राप्त कराने की तजवीज़ थी। मेर लोगों से ज्यादह लगान लिया जाता था। उसके संबंध में भी मुझे एडमिनिस्ट्रेटर—मुख्य राज्याधिकारी—से मिलना था। मैंने देखा कि एडमिनिस्ट्रेटर के देशी होते हुए भी उनका रौब-दाब साहब से भी ज्यादह था। वे थे तो योग्य; परन्तु उनका योग्यता का लाभ प्रजाजन को

बहुत न मिलता था। राणा साहब को तो थोड़े अधिकार मिले। परन्तु मेर लोगों के हाथ कुछ न आया। मेरा ख़याल है कि उनकी तो बात भी पूरी न सुनी गई।

इसलिए यहाँ भी मैं अपेक्षाकृत निराश हुआ। मुझे लगा कि इन्साफ नहीं हुआ। इन्साफ पाने के लिए मेरे पास कोई साधन न था। बहुत हुआ तो बड़े साहब के यहाँ अपील कर दी। वह हुक्म लगा देता—'हम इस मामले में दख़ल नहीं दे सकते।' ऐसा फैसला यदि किसी क़ानून-क़ायदे के बल पर किया जाता हो तब तो आशा रह सकती है। यहाँ तो साहब की इच्छा ही कानून था।

मेरा जी ऊब उठा। इसी अवसर में भाई साहब के पास पोरबन्दर की एक मेमन दुकान का संदेसा आया—'दक्षिण आफ्रिका में हमारा व्यापार है। हमारी दुकान बड़ी है। वहाँ हमारा एक भारी मुकदमा चल रहा है। दावा चालीस हजार पौंड का है। बहुत दिनों से मामला चल रहा है। हमारी तरफ से बड़े-बड़े और अच्छे बैरिस्टर हैं। यदि आप अपने भाई को वहाँ भेज दें तो हमें भी मदद मिलेगी और उनको भी कुछ मदद हो जायगी। वे हमारा मामला हमारे वकीलों को अच्छी तरह समझा सकेंगे। इसके सिवा नये देश की यात्रा होगी और नये-नये लोगों से जान-पहचान भी होगी।'

भाई साहब ने मुझसे जिक्र किया। मैं सारी बात अच्छी तरह न समझ सका। मैं यह न जान सका कि सिर्फ़ वकीलों को समझाने का काम है या मुझे अदालत में भी जाना पड़ेगा। पर मेरा जी ललचाया जरूर।

दादा अबदुल्ला के हिस्सेदार स्वर्गीय सेठ अबदुल करीम जवेरी

की मुलाकात भाई ने कराई। सेठ ने कहा—'तुमको बहुत मिह-नत नहीं करना पड़ेगी। बड़े-बड़े गोरों से हमारी दोस्ती है उनसे तुम्हारा परिचय होगा। हमारी दुकान के काम में भी तुम मदद कर सकोगे। हमारे यहाँ अंग्रेज़ी चिट्ठी-पत्री बहुत होती है। उसमें भी तुम्हारी मदद मिल सकेगी। तुम्हारे रहने का प्रबंध हमारे ही बंगले में रहेगा। इस तरह तुम पर कुछ भी ख़र्च न पड़ेगा।'

मैंने पूछा—कितने दिन तक मुझे वहाँ काम करना पड़ेगा। मुझे वेतन क्या मिलेगा?'

'एक साल से ज्यादह तुम्हारा काम न रहेगा। आने-जाने का फर्स्ट क्लास का किराया और भोजन-ख़र्च के अलावा १०५ पौण्ड दे देंगे।'

यह वकालत नहीं; नौकरी थी। परन्तु मुझे तो जैसे-तैसे हिन्दुस्तान छोड़ देना था। सोचा कि नई दुनिया देखेंगे और नया अनुभव मिलेगा सो अलग। १०५ पौण्ड भाई साहब को भेज दूंगा तो घर-ख़र्च में कुछ मदद हो जायगी। यह सोचकर मैंने तो वेतन के सम्बन्ध में बिना कुछ खींचा-खींच किये सेठ अबदुल-करीम की बात मान ली और दक्षिण आफ्रिका जाने के लिए तैयार हो गया।

———

(६)

नेटाल पहुँचा

विलायत जाते समय जो वियोग-दुःख हुआ था वह दक्षिण आफ्रिका जाते हुए न हुआ। माताजी चल ही वसी थीं। मुझे दुनिया का और सफर का अनुभव वहुत-कुछ हो गया था। राजकोट और वंबई तो आया-जाया करता ही था। इस कारण अब की बार सिर्फ पत्नी का ही वियोग दुःखकर था। विलायत से आने के बाद एक दूसरे बालक की प्राप्ति हो गई थी। हम दम्पती के प्रेम में अभी विषय का अंश तो था ही। फिर भी उसमें निर्मलता आने लगी थी। मेरे विलायत से लौटने के बाद हम बहुत थोड़ा समय साथ रहे थे और मैं, ऐसा-वैसा क्यों न हो, उसका शिक्षक बन चुका था। इधर पत्नी में बहुत-कुछ सुधार करा चुका था और उन्हें कायम रखने के लिए भी साथ रहने की आवश्यकता हम दोनों को मालूम होती थी। परन्तु आफ्रिका मुझे आकर्षित कर रहा था। उसने इस वियोग को सहन करने की शक्ति दे दी थी। 'एक साल के बाद तो हम मिलेंगे ही' यह कह कर दिलासा देकर मैंने राजकोट छोड़ा, और बंबई पहुँचा।

दादा अब्दुल्ला के बंबई के एजण्ट के मार्फत मुझे टिकिट लेना

था। परन्तु जहाज पर कैबिन खाली न थी। यदि मैं यह चूक जाऊँ तो फिर एक मास तक मुझे वंबई में हवा खानी पड़ेगी। एजण्ट ने कहा—हमने तो खूब दौड़-धूप कर ली। हमें टिकिट नहीं मिलता। हाँ, डेक में जाँय तो बात दूसरी है। भोजन का इन्तज़ाम सलून में हो सकता है।' ये दिन मेरे फर्स्टक्लास की यात्रा के थे। वैरिस्टर भला कहीं डेक में सफर कर सकता है ? मैंने डेक में जाने से इनकार कर दिया। मुझे एजण्ट पर शक भी हुआ। यह बात मेरे मानने में न आई कि पहले दरजे का टिकिट मिल ही नहीं सकता। एजण्ट से पूछ कर खुद मैं ही टिकिट लाने चला। जहाज़ पर पहुँचा। बड़े अफसर से मिला। पूछने पर उसने शुद्ध भाव से उत्तर दिया—'हमारे यहाँ मुश्किल से इतनी भीड़ होती है। परन्तु मोजांबिक के गवर्नर-जनरल इसी जहाज़ से जा रहे हैं। इससे सारी जगह भर गई है।'

'तब क्या आप किसी प्रकार मेरे लिए जगह नहीं कर सकते!'

अफसर ने मेरी ओर देखा। हँसा, और बोला—'एक उपाय है। मेरी केबिन में एक बैठक खाली रहती है। उसमें यों हम यात्रियों को नहीं बैठने देते। पर आपके लिए मैं जगह दे देने को तैयार हूँ।' मैं खुश हुआ। अफसर को धन्यवाद दिया। सेठ से कहकर टिकिट मंगाया। एप्रिल १८९३ ई० में मैं बड़ी उमंग के साथ अपना तकदीर आजमाने के लिए दक्षिण आफ्रिका रवाना हुआ।

पहला बन्दर लामू मिला। कोई तेरह दिन में वहाँ पहुँचे। रास्ते में कप्तान के साथ खासा स्नेह हो गया था। कप्तान को शतरंज खेलने का शौक था। पर वह अभी नौसिखिया था।

उसे अपने से कम जानकार खिलाड़ी की ज़रूरत थी और उसने मुझे खेलने के लिए बुलाया। मैंने शतरंज का खेल कभी न देखा था हाँ, सुन खूब रक्खा था। खेलने वाले कहा करते कि इसमें बुद्धि की ख़ासी परीक्षा होती है। कप्तान ने कहा—मैं तुम्हें सिखाऊँगा। में उसे मनचाहा शिष्य मिला; क्योंकि मुझ में धीरज काफी था। मैं हारता ही रहता। ज्यों-ज्यों मैं हारता, कप्तान बड़े उत्साह और उमंग से सिखाता। मुझे यह खेल पसंद आया। परन्तु जहाज़ से नीचे वह कभी मेरे साथ न उतरा। राजा-रानी की चालें जानने से अधिक मैं न सीख सका।

लामू बन्दर आया। जहाज़ वहां तीन-चार घण्टे ठहरने वाला था। मैं बन्दर देखने को नीचे उतरा। कप्तान भी गया था। उसने मुझ से कहा था—'यहाँ का समुद्र दगाबाज़ है, तुम जल्दी वापस आ जाना।'

गाँव छोटा-सा था। वहाँ डाक घर में गया तो हिन्दुस्तानी आदमी देखे। मुझे खुशी हुई। उनके साथ बातें कीं। हबशियों से मिला। उनकी रहन-सहन में दिलचस्पी पैदा हुई। उसमें कुछ समय चला गया। डेक के और यात्री भी थे। उनसे परिचय हो गया था। वे भोजन पका कर आराम से खाना खाने नीचे उतरे थे। मैं उनकी नाव में बैठा। समुद्र में ज्वार खासा था। हमारी नाव में बोझ भी काफी था। तनाव इतना ज़ोर का था कि नाव की रस्सी जहाज़ की सीढ़ी के साथ किसी तरह न बंधती थी। नाव जहाज़ के पास जा जाकर फिर हट जाती। जहाज़ रवाने होने की पहली सीटी हुई। मैं घबड़ाया। कप्तान ऊपर से देख रहा था। उसने पाँच मिनिट जहाज़ को रोक लिया। जहाज़ के पास

एक मछवा था। उसे १०) देकर एक मित्र ने किराये किया। मछवे ने मुझे नाव में से उठा लिया। जहाज़ की सीढ़ी ऊपर चढ़ चुकी थी। रस्सी के बल मैं ऊपर खींचा गया। और जहाज़ चलने लगा! दूसरे यात्री रह गये। कप्तान की उस चेतावनी का मतलब अब समझा।

लामू से मुम्बासा और वहाँ से जंजीबार पहुंचे। जंजीबार में तो बहुत ठहरना था—८ या १० दिन। यहाँ से नये जहाज़ में बैठना था।

कप्तान के प्रेम की सीमा न थी। इस प्रेम ने मेरे लिए विपरीत रूप धारण किया। उसने मुझे अपने साथ सैर करने आने के लिए बुलाया। एक अंग्रेज़ मित्र को भी बुलाया था। हम तीनों कप्तान के मछवे में उतरे। इस सैर का मर्म मैं बिलकुल न जानता था। कप्तान को क्या ख़बर, कि ऐसी बातों में मैं बिलकुल अनजान होऊँगा। हम तो हबशी औरतों के मुहल्ले में पहुँचे। एक दलाल हमें वहाँ ले गया। तीनों एक एक कमरे में दाख़िल हुए। पर मैं तो शर्म का मारा कमरे में घुसा ही बैठा रहा। उस बेचारी बाई के मन में क्या क्या विचार आये होंगे, यह तो वही जानती होगी। कप्तान ने आवाज़ लगाई। मैं तो जैसा अंदर घुसा था वैसा ही बाहर वापस आ गया। कप्तान मेरा भोलापन समझ गया। शुरू में तो मुझे बड़ी ही शर्म मालूम हुई। परन्तु इस काम को तो मैं किसी तरह पसन्द कर ही नहीं सकता था। इससे शर्म चली गई और मैंने ईश्वर का उपकार माना कि उस बहन को देखकर मेरे मन में किसी प्रकार का विकार तक न उत्पन्न हुआ। मुझे अपनी इस कमजोरी पर बड़ी ग्लानि हुई कि मैं कमरे में प्रवेश करने से इन-

कार करने का साहस क्यों न कर सका।

मेरे जीवन में इस प्रकार की यह तीसरी परीक्षा थी। कितने ही नवयुवक शुरूआत में निर्दोष होते हुए भी झूठी शर्म से बुराई में लिप्त हो जाते होंगे। मेरा बचाव मेरे पुरुषार्थ के बदौलत न हुआ था। यदि मैंने कमरे में जाने से साफ इन्कार कर दिया होता तो पुरुषार्थ समझा जा सकता था। मेरे इस बचाव के लिए तो एकमात्र ईश्वर का ही उपकार मानना चाहिए। इस घटना से ईश्वर पर मेरी आस्था दृढ़ हुई और झूठी शर्म छोड़ने का साहस भी कुछ आया।

जंजीवार में एक सप्ताह रहना था। इसलिए एक मकान किराये लेकर मैं शहर में रहा। खूब घूम-फिर कर शहर को देखा। जंजीवार की हरियाली का ख़याल सिर्फ मलाबार में ही हो सकता है। वहाँ के विशाल वृक्ष, बड़े बड़े फल, इत्यादि देखकर मैं तो चकित रह गया।

जंजीवार से मोजांबिक और वहाँ से लगभग मई में अंत में नेटल पहुँचा।

---

(७)

कुछ अनुभव

नेटाल का बंदर डरबन कहलाता है और नेटाल बंदर भी कहते हैं। मुझे लिवाने अबदुल्ला सेठ आये थे। जहाज़ धक्के पर आया। नेटाल के लोग जहाज़ पर अपने मित्रों को लेने आये थे। उसीसे मैं समझ गया कि यहाँ हिन्दुस्तानियों का विशेष आदर नहीं है। अबदुल्ला सेठ को पहचाननें वाले लोग उनके साथ जैसा बरताव करते थे उसमें एक प्रकार की क्षुद्रता दिखाई देती थी और उससे मेरे दिल को चोट पहुचती थी। अबदुल्ला सेठ इस हिकारत के आदी हो गये थे। मुझ पर जिनकी नज़र पड़जाती वे मुझे कुतूहल से देखते थे। मेरा लिवास ऐसा था कि मैं दूसरे भारतवासियों से कुछ पृथक् मालूम होता था। उस समय मैं फ्राकफोट आदि पहने था और सिर पर बंगाली तर्ज़ की पगड़ी दिये था।

मुझे घर लिवा ले गये। वहाँ अबदुल्ला सेठ के कमरे के पास का कमरा मुझे दिया गया। वे मुझे नहीं समझ पाये थे, मैं उन्हें नहीं समझ पाया था। उनके भाई की दी हुई चिठ्ठी पढ़ी और अधिक पशोपेश में पड़े। उन्होंने समझा कि भाई ने तो यह सफ़ेद

हाथी बँधवा दिया। मेरा साहबी ठाट-बाट उन्हें ख़र्चीला मालूम हुआ। मेरे लिए उस समय खास काम था नहीं। उनका मामला तो ट्रान्सवाल में चल रहा था। तुरंत ही वहाँ भेज कर क्या करते? फिर यह भी एक सवाल था कि मेरी काबलियत और ईमानदारी का विश्वास भी किस हद तक किया जाय? प्रिटोरिया में खुद मेरे साथ वे रह नहीं सकते। मुद्दाअलेह प्रिटोरिया में रहते थे। इसका बुरा असर मुझपर होने लगे तो? और यदि वे मामले का काम मुझे न दें तो और काम तो उनके कर्मचारी मुझसे भी अच्छा कर सकते थे। फिर कर्मचारी से यदि भूल हो जाय, तो कुछ कह सुन भी सकते थे। पर मैं करूँ तो? काम या तो कारकुनी का था या मुक़द्दमे का—तीसरा था नहीं। ऐसी हालत में यदि मुकदमे का काम मुझे न सौंपें तो घर बैठे मेरा खर्च उठाना पड़ता था।

अबदुल्ला सेठ पढ़े-लिखे बहुत कम थे। अक्षर-ज्ञान कम था; पर अनुभव-ज्ञान बहुत था। उनकी बुद्धि तेज़ थी, और वे खुद भी इस बात को जानते थे। रफ़्त से अंगरेज़ी इतनी जान ली थी कि बोलचाल का काम चला लेते। परन्तु इतनी ही अंगरेज़ी के बल पर अपना सारा काम निकाल लेते थे। बैंक के मैनेजरों से बातें कर लेते, योरपियन व्यापारियों से सौदा कर लेते, वकीलों को अपना मामला समझा देते। हिन्दुस्तानियों में उनका काफ़ी मान था। उनकी दुकान उस समय हिन्दुस्तानियों में सबसे बड़ी थी, अथवा बड़ी दुकानों में से थी। उनका स्वभाव वहमी था।

वे इस्लाम का बड़ा अभिमान रखते थे। तत्वज्ञान की बातों के शौक़ीन थे। अरबी न जानते थे; फिर भी कुरान शरीफ की तथा आम तौर पर इस्लामी धर्म-साहित्य की वाकफ़ियत उन्हें

अच्छी थी। दृष्टान्त तो जबान पर हाज़िर रहते थे। उनके सहवास से मुझे इस्लाम का अच्छा व्यवहार-ज्ञान हुआ। जब हम एक दूसरे को जान-पहचान गये, तब वे मेरे साथ बहुत धर्म-चर्चा किया करते।

दूसरे या तीसरे दिन मुझे डरबन की अदालत देखने ले गये। वहाँ कितने ही लोगों से परिचय कराया। अदालत में अपने वकील के पास मुझे बिठाया। मजिस्ट्रेट मेरे मुंह की ओर देखता रहा। उसने कहा—अपनी पगड़ी उतार लो। मैंने इन्कार किया और अदालत से बाहर चला आया।

मेरे नसीब में तो यहाँ भी लड़ाई ही लिखी थी।

पगड़ी उतरवाने का रहस्य अबदुल्ला सेठ ने मुझे समझाया, मुसलमानी लिबास पहनने वाला अपनी मुसलमानी पगड़ी यहाँ पहन सकता है। दूसरे भारतवासियों को अदालत में जाते हुए अपनी पगड़ी उतार लेनी चाहिए।

इस सूक्ष्म भेद को समझाने के लिए यहाँ कुछ बातें विचार के साथ लिखनी होंगी।

मैंने इन दो तीन दिन में ही यहाँ देख लिया था कि हिन्दुस्तानियों ने यहाँ अपने-अपने जत्थे बना लिये थे। एक जत्था था मुसल्मान व्यापारियों का—वे अपने को 'अरब' कहलाते थे। दूसरा जत्था था हिन्दू अथवा पारसी कारकुन-पेशा लोगों का। हिन्दू कारकुन अधर में लटकता था। कोई अपने को 'अरब' में शामिल कर लेता। पारसी अपने को पर्शियन कहते। तीनों एक दूसरे से सामाजिक सम्बन्ध रखते थे। एक चौथा और बड़ा समूह था। तामिल, तेलगू और उत्तरी भारत के गिरमिटिया अथवा गिरमिट-

मुक्त भारतीयों का। गिरमिट 'एग्रिमेंट' का विगडा हुआ रूप है, इसका अर्थ है इकरारनामा, जिसके द्वारा गरीब हिन्दुस्तानी ५ साल मजूरी करने की शर्त पर नेटाल जाते थे। गिरमिट से गिरमिटिया बना है। इस समुदाय के साथ औरों का व्यवहार काम-संबंधी ही रहता था। इन गिरमिटियों को अंग्रेज कुली कहते। उनकी संख्या बहुत बड़ी थी, इसलिए तमाम हिन्दुस्तानियों को कुली कहते। कुली की जगह 'सामी' भी कहते। सामी एक प्रत्यय है जो बहुतेरे तामिल नामों के अन्त में लगता है। सामी का अर्थ है स्वामी। स्वामी का अर्थ हुआ पति। अतएव सामी शब्द पर जब कोई भारतीय विगड़ पड़ता और यदि उसकी हिम्मत पड़ी तो उस अंग्रेज से कहता—'तुम मुझे सामी तो कहते हो; पर जानते हो सामी के मानी क्या होते हैं? सामी 'पति' को कहते हैं। क्या मैं तुम्हारा पति हूँ?' यह सुनकर कोई अंग्रेज शरमिंदा हो जाता, कोई खीज उठता और ज्यादह गालियाँ देने लगता और मौका पड़े तो मार भी वैठता। क्योंकि उसके नजदीक तो 'सामी' शब्द घृणा-सूचक होता। उसका अर्थ पति करना मानों उसका अपमान करना था।

इस कारण मुझे कुली-वैरिस्टर कहते। व्यापारी कुली-व्यापारी कहलाते। कुली का मूल अर्थ 'मजूर' तो एक ओर रह गया। व्यापारी कुली शब्द से चिढकर कहता—'मैं कुली नहीं, मैं तो अरब हूँ, अथवा 'मैं व्यापारी हूँ। कोई विनयशील अंग्रेज हो तो यह सुनकर माफी भी माँग लेता।

ऐसी स्थिति में पगड़ी पहनने का सवाल विकट हो गया। पगड़ी उतार देने का अर्थ था मान-भंग सहन करना। मैंने तो

यह तरकीब सोची कि हिन्दुस्तानी पगड़ी को उतार कर अंग्रेज़ी टोप पहना करूँ, जिससे उसे उतारने में मान-भंग का भी सवाल न रह जाय और मैं इस झगड़े से भी बच जाऊँ।

अबदुल्ला सेठ को यह तजवीज पसंद न हुई। उन्होंने कहा— 'यदि आप इस समय ऐसा परिवर्तन करेंगे तो उसका विपरीत अर्थ होगा। जो लोग देशी पगड़ी पहने रहना चाहते होंगे उनकी स्थिति विषम हो जायगी। फिर आपके सिरपर तो अपने ही देश की पगड़ी शोभा देती है। आप यदि अंग्रेज़ी टोप लगावेंगे तो लोग 'वेटर' समझेंगे।'

इन वचनों में दुनियावी समझदारी थी, देशाभिमान था, और कुछ संकुचितता भी थी। दुनियवी समझदारी तो स्पष्ट ही है। देशाभिमान के बिना पगड़ी पहनने का आग्रह नहीं हो सकता था। संकुचितता के विना 'वेटर' की उपमा न सूझती। गिरमिटिया भारतीयों में हिन्दू, मुसल्मान और ईसाई तीन विभाग थे। जो गिरमिटिया ईसाई हो गये उनकी सन्तति ईसाई थी। १८९३ ई० में भी उनकी संख्या बड़ी थी। वे सब अँग्रेजी लिवास में रहते। उनका अच्छा हिस्सा होटल में नौकरी करके जीविका उपार्जन करना। इसी समुदाय को लक्ष्य करके अंग्रेज़ी टोप पर अबदुल्ला सेठ ने वह टीका की थी। उसके अन्दर यह धारणा विद्यमान् थी कि होटल में 'वेटर' बनकर रहना हलका काम है। आज भी यह विश्वास बहुतों के मन में कायम है।

समष्टि रूप से अबदुल्ला सेठ की बात मुझे अच्छी मालूम हुई। मैंने पगड़ी वाली घटना पर, पगड़ी तथा मेरे पक्ष का समर्थन, अखबारों में किया। अखबारों में उस पर खूब चर्चा चली। 'अनवेल-

कम विज़िटर—'अनिमंत्रित अतिथि'—के नाम से मेरा नाम अख़बारों में आया, और तीन ही चार दिन के अन्दर अनायास ही दक्षिण आफ्रिका में मेरी प्रख्याति हो गई। किसीने मेरा पक्ष-समर्थन किया, किसी ने मेरी उद्धतता की भर पेट निंदा की।

मेरी पगड़ी तो लगभग अन्ततक कायम रही। कब उतरी, यह बात हम अन्तिम भाग में देखेंगे।

---

(८)

प्रिटोरिया जाते हुए

डरवन-स्थित ईसाई भारतीयों के सम्पर्क में भी मैं तुरंत आया। वहाँ की अदालत के दुभाषिया श्री पॉल रोमन कैथोलिक थे। उनसे परिचय किया पर और प्रोटेस्टंट मिशन के शिक्षक स्वर्गीय श्र सुभान गाड्फ्रे से भी मुलाकात की। उन्हींके पुत्र जेम्स गाड्फ्रे पिछले साल यहां दक्षिण आफ्रिका के भारतीय प्रतिनिधि मण्डल में आये थे। इन्हीं दिनों स्वर्गीय पारसी रुस्तमजी से जान पहचान हुई। और इसी समय स्वर्गीय आदमजी मियांखान से परिचय हुआ। ये सब लोग आपस में विना काम एक दूसरे से न मिलते थे, अब इसके वाद वे मिलने-जुलने लगेंगे।

इस तरह मैं परिचय बढा रहा था कि, इसी बीच दुकान के वकील का पत्र मिला कि मुकदमे की तैयारी होनी चाहिए तथा या तो अबदुल्ला सेठ को खुद प्रिटोरिया जाना चाहिए अथवा दूसरे किसी को वहाँ भेजना चाहिए।

यह पत्र अबदुल्ला सेठ ने मुझे दिखाया और पूछा—'आप प्रिटोरिया जायंगे?' मैंने कहा—मुझे मामला समझा दीजिए तो कह सकूँ। अभी तो मैं नहीं जान सकता कि वहाँ क्या करना होगा।'

उन्होंने अपने गुमास्तों के जिम्मे मामला समझाने का काम किया।

मैंने देखा कि मुझे तो अ आ-इ ई से शुरूआत करना होगी जंजीबार में उतर कर वहाँ की अदालत देखने गया था। एक पारसी वकील किसी गवाह का बयान ले रहा था और जमा-नामे के सवाल पूछ रहा था। मुझे जमा-नामे की कुछ खबर न पड़ती थी। वही-खाता न तो स्कूल में सीखा था और न विलायत में।

मैंने देखा कि इस मुकदमे का दारोमदार वही खातों पर है। जिसे वही-खाता का ज्ञान हो वही मामले को समझ-समझा सकता है। गुमाश्ता जमा-नामे की बातें करता और मैं चक्कर में पड़ता जाता। मैं नहीं जानता था कि पी-नोट क्या चीज होती है। कोष में यह शब्द मिलता नहीं। मैंने गुमाश्तों के सामने अपना अज्ञान प्रकट किया और उनसे जाना कि पी-नोट का अर्थ है प्रामिसरी नोट। वही-खाते की पुस्तक खरीद कर पढ़ी। कुछ आत्म-विश्वास हुआ। मामला समझ में आया। मैंने देखा कि अबदुल्ला सेठ नामा लिखना नहीं जानते थे; पर अनुभव ज्ञान इतना बढ़ा-चढ़ा था कि नामे की उलझनें चट् चट् सुलझाते जाते। मैंने उनसे कहा—'मैं प्रिटोरिया जाने के लिए तैयार हूँ।'

'आप कहाँ ठहरेंगे'—सेठ ने पूछा।

'जहाँ आप कहेंगे।' मैंने उत्तर दिया।

'तो मैं अपने वकील को लिखूंगा। वे आपके ठहरने का इन्तजाम कर देंगे। प्रिटोरिया में मेरे मेमन मित्र हैं। उन्हें भी मैं लिखूंगा तो—पर आपका उनके यहाँ ठहरना उचित न होगा। वहाँ अपने प्रतिपक्ष की पहुँच वहुत है। आपको जो मैं खानगी चिट्ठियें लिखूं वे यदि उनमें से कोई पढ़ लें तो अपना मामला

बिगड़ सकता है। उनके साथ जितना कम सम्बन्ध हो उतना ही अच्छा।'

मैंने कहा—आपके वकील जहाँ ठहरावेंगे वहीं ठहरूंगा। अथवा मैं कोई दूसरा मकान रख लूंगा। आप बेफ़िक्र रहिए। आपकी एक भी खानगी बात बाहर न जायगी। पर मैं मिलता-जुलता सबसे रहूंगा। मैं तो प्रतिपक्ष वालों से भी मित्रता करना चाहता हूँ। यदि हो सके तो मैं तो मामले को आपस में भी निपटाने की कोशिश करूंगा। आखिर तैयब सेठ हैं तो आपके रिश्तेदार ही न?'

प्रतिवादी स्वर्गीय सेठ तैयब हाजी खानमहम्मद अबदुल्ला सेठ के नज़दीकी रिश्तेदार थे।

मैंने देखा कि अबदुल्ला सेठ कुछ चौंके; पर अब मुझे डरबन पहुँचे छः सात दिन हो गये थे। हम एक-दूसरे को जानने-समझने लगे थे। अब मैं 'सफेद हाथी' प्रायः नहीं रह गया था। वे बोले—

'हाँ.....आ.....आ। यदि समझौता हो जाय तो उससे बढ़कर उमदा बात क्या हो सकती है? पर हम तो परस्पर रिश्तेदार हैं, इसलिए एक दूसरे को अच्छी तरह जानते हैं। तैयब सेठ आसानी से मान लेने वाले शख़्स नहीं हैं। हम यदि भोले-भाले बनकर रहें तो वे हमारे पेट की बात निकाल कर पीछे से फँसा मारेंगे। ऐसी हालत में आप जो कुछ करें बहुत सोच-समझ कर होशियारी से करें।'

मैं—"आप बिलकुल चिन्ता न करें। मुकदमे की बात तो तैयब सेठ क्या और दूसरे क्या, किसी से मैं क्यों करने लगा? पर यदि दोनों आपस में समझ लें तो वकीलों के घर न भरना पड़ेंगे।

सातवें या आठवें दिन मैं डरबन से रवाना हुआ। मेरे लिए पहले दरजे का टिकट लिया गया। सोने की जगह के लिए वहाँ ५ शिलिंग का एक अलहदा टिकट लेना पड़ता था। अबदुल्ला सेठ ने आग्रह के साथ कहा कि सोने का टिकट ले लो, पर मैंने, कुछ तो हठ में, कुछ मद में और कुछ पांच शिलिंग बचाने की नीयत से, इन्कार कर दिया।

अबदुल्ला सेठ ने मुझे चेताया—'देखना, यह मुल्क और है, हिन्दुस्तान नहीं। खुदा की महरबानी है। आप पैसे का खयाल न करना। अपने आराम का सब इन्तज़ाम कर लेना।'

मैंने उन्हें धन्यवाद दिया और कहा कि आप मेरी चिन्ता न कीजिएगा।

नेटाल की राजधानी मेरीत्सबर्ग में ट्रेन कोई ९ बजे पहुँची। यहाँ सोनेवालों को बिछौने दिये जाते थे। एक रेलवे के नौकर ने आ कर पूछा—'आप बिछौना चाहते हैं?'

मैंने कहा—'मेरे पास मेरा बिछौना है।'

वह चला गया। इस बीच एक यात्री आया। उसने मेरी ओर देखा। मुझे हिन्दुस्तानी देख कर चकराया। बाहर गया। और एक-दो कर्मचारियों को ले कर आया। किसी ने मुझसे कुछ न कहा। अन्त को एक अफसर आया। उसने कहा—'चलो, तुमको दूसरे डब्बे में जाना होगा।'

मैंने कहा—'पर मेरे पास पहले दरजे का टिकट है।'

उसने उत्तर दिया—'परवा नहीं, मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम्हें आखिरी डब्बे में बैठना होगा।'

'मैं कहता हूँ कि मैं डरवन से इसी डब्बे में बिठाया गया हूँ और इसीमें जाना चाहता हूँ।'

अफ़सर बोला—'यह नहीं हो सकता। तुम्हें उतरना होगा और नहीं तो सिपाही आ कर उतारेगा।'

मैंने कहा—'तो अच्छा, सिपाही आकर भले ही मुझे उतारे, मैं अपने आप न उतरूंगा।'

सिपाही आया। उसने हाथ पकड़ा और धक्का मार कर मुझे नीचे गिरा दिया। मेरा सामान नीचे उतार लिया। मैंने दूसरे डब्बे में जाने से इन्कार किया। गाड़ी चल दी। मैं वेटिंगरूम में बैठा। हैंडबॅग अपने साथ रक्खा। दूसरे सामान को मैंने हाथ न लगाया। रेलवे वालों ने सामान कहीं रखवा दिया।

मौसम जाड़े का था। दक्षिण आफ्रिका में ऊँची जगहों पर बड़े ज़ोर का जाड़ा पड़ता है। मेरित्सवर्ग ऊँचाई पर था—इससे खूब जाड़ा लगा। मेरा ओवर-कोट मेरे सामान में रह गया था। सामान मांगने की हिम्मत न चली। कहीं फिर बे-इज़्ज़ती न हो। जाड़े में सिकुड़ता और ठिठुरता रहा। कमरे में रोशनी न थी। आधी-रात के समय एक मुसाफिर आया। ऐसा जान पड़ा मानों वह कुछ बात करना चाहता हो, पर मेरे मन की हालत ऐसी न थी कि बातें करता।

मैंने सोचा, मेरा कर्त्तव्य क्या है?—'या तो मुझे अपने हक़ों के लिए लड़ना चाहिए, या वापस लौट जाना चाहिए। अथवा जो बेइज्जती हो रही है, उसे बरदाश्त करके प्रिटोरिया पहुँचूँ और मुक़दमे का काम ख़तम करके देश चला जाऊँ। मुक़दमे को अधूरा छोड़ कर भाग जाना तो कायरता होगी। मुझ पर जो बीत रही है

वह तो ऊपरी चोट है—वह तो भीतर के महारोग का बाह्य लक्षण है। यह महारोग है रंग-द्वेष। यदि इस गहरी बीमारी को उखाड़ फेंकने का सामर्थ्य हो तो उसका उपयोग करना चाहिए। उसके लिए जो कुछ कष्ट और दुःख सहन करने पड़ें, सहना चाहिए। इन अन्यायों का विरोध उसी हद तक करना चाहिएजिस हद तक उसका संबंध रंग-द्वेष दूर करने से हो।'

ऐसा संकल्प करके मैंने, जिस तरह हो, दूसरी गाड़ी से आगे जाने का निश्चय किया।

सुबह मैंने जनरल मैनेजर को तार द्वारा एक लम्बी शिकायत लिख भेजी। दादा अब्दुल्ला को भी समाचार भेजे। अब्दुल्ला सेठ तुरंत जनरल मैनेजर से मिले। जनरल मैनेजर ने अपने आदमियों का पक्ष तो लिया, पर कहा कि मैंने स्टेशनमास्टर को लिखा है कि गांधी को त्रिला खर-खशा अपने मुकाम पर पहुंचा दो। अब्दुल्ला सेठ ने मेरित्सवर्ग के हिन्दू व्यापारियों को भी मुझसे मिलने तथा मेरा प्रबंध करने के लिए तार दिया तथा दूसरे स्टेशनों पर भी ऐसे तार दे दिये। इससे व्यापारी लोग स्टेशन पर मुझ से मिलने आये। उन्होंने अपने पर होने वाले अन्यायों का जिक्र मुझ से किया और कहा कि आप पर जो कुछ बीता है वह कोई नई बात नहीं है। पहले-दूसरे दरजे में जो हिन्दुस्तानी सफ़र करते हैं उन्हें क्या कर्मचारी और क्या मुसाफ़िर दोनों सताते हैं। सारा दिन इन्हीं बातों के सुनने में गया। रात हुई। गाड़ी आई। मेरे लिए जगह तैयार थी। डरबन में सोने के लिए जिस टिकट को लेने से इन्कार किया था, वही मेरित्सवर्ग में लिया।

ट्रेन मुझे चार्ल्सटाउन ले चली।

(९)

और कष्ट

चार्ल्सटाउन ट्रेन सुवह पहुँचती है। चार्ल्सटाउन से जोहानिसवर्ग तक पहुँचने के लिए उस समय ट्रेन न थी। घोड़ा-गाड़ी थी और बीच में एक रात स्टैंडरटन में रहना पड़ता था। मेरे पास घोड़ा-गाड़ी का टिकट था। मेरे एक दिन पिछड़ जाने से यह टिकट रद्द न होता था। फिर अवदुल्ला सेठ ने चार्ल्सट्राउन के घोड़ागाड़ी वाले को तार भी दे दिया था। पर उसे तो वहाना वनाना था। इसलिए मुझे एक अनजान आदमी समझ कर कहा—'तुम्हारा टिकट तो रद्द हो गया है।' मैंने उचित उत्तर दिया। यह कहने का कि 'टिकट रद्द हो गया है' कारण तो और ही था। मुसाफ़िर सव घोड़ा-गाड़ी के अन्दर बैठते हैं। पर मैं समझा जाता था 'कुली' और अनजान मालूम होता था, इसलिए घोड़ागाड़ी वाले की यह नीयत थी कि मुझे गोरे मुसाफिरों के साथ न वैठाना पड़े तो अच्छा। घोड़ागाड़ी में, वाहर की तरफ़, अर्थात् हाँकने वाले के पास दायें-वायें दो वैठकें थीं। उनमें से एक वैठक पर घोड़ागाड़ी-कम्पनी का एक अफसर गोरा वैठता। वह अन्दर वैठा और मुझे हांकने वाले के पास वैठाया। मैं समझ गया कि यह विलकुल

अन्याय है, अपमान है। परन्तु मैंने इसे पी जाना उचित समझा। मैं ज़बरदस्ती तो अन्दर बैठ नहीं सकता था। यदि झगड़ा छेड़ दूँ तो घोड़ागाड़ी चल दे और फिर मुझे एक दिन देर हो, और फिर दूसरे दिन का हाल परमात्मा ही जाने। इसलिए मैंने समझदारी अख़्त्यार की और बाहर ही बैठ गया। मन में तो बड़ा खिजता था।

कोई तीन बजे घोड़ागाड़ी पारडीकोप पहुची। अब उस गोरे अफसर को मेरी जगह बैठने की इच्छा हुई। उसे सिगरेट पीना थी। शायद खुली हवा भी खानी हो। सो उसने एक मैलासा बोरा हाँकने वाले के पास से लिया और पैर रखने के तख़्ते पर बिछा कर मुझ से कहा—'सामी, तू यहाँ बैठ, मैं हाँकने वाले के पास बैठूँगा।' इस अपमान को सहन करना मेरे सामर्थ्य के बाहर था। इसलिए मैंने डरते डरते उससे कहा—'तुमने मुझे जो यहाँ बैठाया, सो इस अपमान को तो मैंने सहन कर लिया; मेरी जगह तो थी अन्दर; पर तुमने अन्दर बैठ कर मुझे यहाँ बैठाया; अब तुम्हारा दिल बाहर बैठने को हुआ और तुम्हें सिगरेट पीना है, इसलिए तुम मुझे अपने पैरों के पास बिठाना चाहते हो। मैं चाहे अन्दर चला जाऊँ, पर तुम्हारे पैरों के सास बैठने के लिए तैयार नहीं।'

यह मैं किसी तरह कही रहा था कि मुझ पर थप्पड़ों की वर्षा होने लगी और मेरा हाथ पकड़ कर वह नीचे खींचने लगा। मैंने बैठक के पास लगे पीतल के सीकचों को जोर से पकड़ रक्खा, और निश्चय कर लिया कि पहुंची टूट जाने पर भी सीकचे न छोड़ूँगा। मुझ पर जो कुछ बीत रही थी, वह अन्दर वाले यात्री देख रहे थे। वह मुझे गालियाँ दे रहा था, खींच रहा था और मार भी रहा था; फिर भी मैं चुप था। वह तो था बलवान् और

मैं बलहीन। कुछ मुसाफिरों को दया आई और किसी ने कहा—'अजी, बेचारे को वहाँ बैठने क्यों नहीं देते ? फिजूल उसे क्यों पीटते हो ? वह ठीक तो कहता है। वहाँ नहीं तो उसे हमारे पास अन्दर बैठने दो।' वह बोल उठा—हरगिज नहीं। पर जरा सिट-पिटा गया। पीटना छोड़ दिया। मेरा हाथ भी छोड़ दिया। हाँ, दो-चार गालियाँ अलबत्ते और दे डालीं। फिर एक हान्टेटाट नौकर, जो दूसरी तरफ़ बैठा था, उसे अपने पाँव के पास बैठाया और खुद बाहर बैठा। मुसाफिर अन्दर बैठे। सीटी बजी। घोड़ागाड़ी चली। मेरी छाती धक् धक् कर रही थी। मुझे भय था कि मैं जीते जी मुकाम पर पहुँच सकूँगा या नहीं। वह गोरा मेरी ओर त्यौरी चढ़ा चढ़ा कर देखता रहता। ऊँगली का इशारा कर कर के बकता रहा—'याद रख, स्टैंडरटन तो पहुँचने दे, फिर तुझे मजा चखाऊँगा।' मैं चुप साध कर बैठा रहा और ईश्वर से सहायता के लिए प्रार्थना करता रहा।

रात हुई। स्टैंडरटन पहुंचे। कितने ही हिन्दुस्तानियों के चहरे दिखे। कुछ तसल्ली हुई। नीचे उतरते ही हिन्दुस्तानियों ने कहा—'हम आपको ईसा सेठ की दुकान पर ले जाने के लिए खड़े हैं। दादा अब्दुल्ला का तार आया था'। मुझे बड़ा हर्ष हुआ। उनके साथ सेठ ईसा हाजी सुमार की दुकान पर गया। सेठ तथा उनके गुमाश्ते मेरे आस-पास बैठ गये। मुझ पर जो-जो बीती, मैंने कह सुनाया। सुनकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ और अपने कडुवे अनुभव सुना-सुना कर मुझे आश्वासन देने लगे। मैं चाहता था कि घोड़ा-गाड़ी कम्पनी के एजण्ट को अपनी बीती सुना दूँ। मैंने उन्हें चिट्ठी लिखी। उस गोरे ने जो धमकी दी थी, सो भी लिख दिया और

मैंने यह भी आश्वासन चाहा कि कल मुझे दूसरे यात्रियों के साथ अन्दर बिठाया जाय। एजण्ट ने मुझे संदेशा भेजा—'स्टैंडरटन से बड़ी घोड़ागाड़ी जाती है, और हाँकने वाले आदि की बदली होती है। जिस शख्स की शिकायत आपने की है वह कल उस पर न रहेगा। आपको दूसरे यात्रियों के साथ ही जगह मिलेगी।' इस बात से मुझे कुछ राहत मिली। उस गोरे पर तो दावा-फ़रयाद करने की मेरी इच्छा ही न थी, इसलिए यह पिटाई का प्रकरण यहीं खतम हो गया। सुबह मुझे ईसा सेठ के आदमी घोड़ा-गाड़ी पर ले गये। मुझे अच्छी जगह मिली। बिला किसी दिक़्क़त के रात को जोहानिसबर्ग पहुँचा।

स्टैंडरटन छोटा सा गांव था। जोहानिसबर्ग भारी शहर। वहाँ भी अबदुल्ला सेठ ने तार तो दे ही दिया था। मुझे महम्मद-क़ासम कमरुद्दीन की दुकान का पता-ठिकाना भी लिख दिया था। उनका आदमी घोड़ागाड़ी के ठहरने की जगह आया तो था; पर न मैंने उसे देखा, न वही मुझे पहचान सका। मैंने होटल में जाने का इरादा किया। दो-चार होटलों के नाम-पते पूछ लिये थे। गाड़ी की। ग्रैंड नैशनल होटल में ले चलने के लिए उससे कहा। वहाँ पहुँचते ही मैनेजर के पास गया। जगह मांगी। मैनेजर ने ज़रा मुझे नीचे से ऊपर तक देखा। शिष्टाचार और सौजन्य के साथ कहा—'मुझे अफ़सोस है, तमाम कमरे भरे हुए हैं।' यह कहकर मुझे विदा किया। तब मैंने गाड़ी वाले से कहा—'महम्मदक़ासम कमरुद्दीन की दुकान पर चलो।' वहाँ तो अबदुलग़नी सेठ मेरी राह ही देख रहे थे। उन्होंने मेरा स्वागत किया। मैंने होटल में बीती कह सुनाई। वे खिलखिलाकर हँस पड़े। 'भला, होटल में वे हमें ठहरने देंगे?'

मैंने पूछा—क्यों ?

'यह तो आप तब जानेंगे जब कुछ दिन यहाँ रहलेंगे। इस देश में तो हमीं रह सकते हैं। क्योंकि हमें रुपया पैदा करना है। इसलिए बहुतेरे अपमान सहन करते हैं, और पड़े हुए हैं।' यह कहकर उन्होंने ट्रान्सवाल में होनेवाले कष्टों और अन्यायों का इतिहास कह सुनाया।

इन अबदुलग़नी सेठ का परिचय हमें आगे चलकर अधिक करना पड़ेगा। उन्होंने कहा—'यह मुल्क आपके जैसे लोगों के लिए नहीं है। देखिए न, आपको कल प्रिटोरिया जाना है। उसमें तो आपको तीसरे दरजे में ही जगह मिलेगी। ट्रान्सवाल में नेटाल से ज़्यादह कष्ट है। यहाँ तो हमारे लोगों को दूसरे और पहले दरजे के टिकट मुत्लक देते ही नहीं।'

मैंने कहा—'आप लोगों ने इसके लिए पूरी कोशिश न की होगी।'

अबदुलग़नी सेठ बोले—'हमने लिखा-पढ़ी तो शुरू की है; पर हमारे बहुतेरे लोग तो पहले दूसरे दरजे में बैठने की इच्छा भी क्यों करने लगे ?'

मैंने रेलवे के क़ानून-क़ायदे मंगाये। उन्हें देखा। उनमें कुछ गुंजायश निकली। ट्रान्सवाल के पुराने क़ानून-क़ायदे बारीकी के साथ नहीं बनाये जाते थे। फिर रेलवे के क़ानूनों का तो पूछना ही क्या ?

मैंने सेठ से कहा—'मैं तो फर्स्ट क्लास में ही जाऊंगा। और यदि इस तरह न जा सका तो फिर प्रिटोरिया यहाँ से सेंतीस ही मील है। मैं घोड़ागाडी करके चला जाऊंगा।'

अबदुलग़नी सेठ ने इस बात की ओर मेरा ध्यान खींचा कि

उसमें कितना तो खर्च लगेगा और कितना समय जायगा। पर मेरी बात मान ली और स्टेशन मास्टर को चिट्ठी लिखी। पत्र में उन्होंने लिखा कि मैं बैरिस्टर हूँ, हमेशा पहले दरजे में सफ़र करता हूँ। तुरंत प्रिटोरिया पहुँचने की ओर उनका ध्यान दिलाया और उन्हें लिखा कि पत्र के उत्तर की राह देखने के लिए समय न रह जायगा अतएव मैं खुद ही स्टेशन पर इसका जवाब लेने आऊंगा और पहले दरजे का टिकट मिलने की आशा रक्खूंगा। ऐसी चिट्ठी लिखाने में मेरी एक मस्लहत थी। मैंने सोचा कि लिखित उत्तर तो स्टेशन मास्टर 'ना' ही दे देगा। फिर उसको 'कुली' बैरिस्टर के रहन-सहन की पूरी कल्पना न हो सकेगी। इसलिए यदि मैं सोलहों आना अंग्रेजी वेश-भूषा में उसके सामने जाकर खड़ा हो जाऊंगा और उससे बातें करूंगा तो वह समझ जायगा और मुझे टिकट दे देगा। इसलिए मैं फ्राककोट, नेकटाई इत्यादि डॉट कर स्टेशन पहुँचा। मास्टर के सामने गिनी निकाल कर रक्खी और पहले दरजे का टिकिट मांगा।

उसने कहा—'आपही ने वह चिट्ठी लिखी है?'

मैंने कहा—जी हाँ। में बड़ा खुश होऊँगा, यदि आप मुझे टिकट देदेंगे। मुझे आज ही प्रिटोरिया पहुँच जाना चाहिए।

स्टेशन मास्टर हँसा। उसे दया आई। बोला मैं ट्रान्सवालर नहीं हूँ। मैं हालैंडर हूँ। आपके मनोभाव को समझ सकता हूँ। आपके साथ मेरी सहानुभूति है। मैं आपको टिकिट देदेना चाहता हूँ। पर एक शर्त है—'यदि रास्ते में आपको गार्ड उतार दे और तीसरे दरजे में बिठा दे तो आप मुझे दिक न करें, अर्थात् रेल्वे-कम्पनी पर दावा न करें। मैं चाहता हूँ कि अपकी यात्रा निर्विघ्न

समाप्त हो। मैं देखरहा हूँ कि आप एक भले आदमी हैं।' यह कह कर उसने टिकट दे दिया। मैंने उन्हें धन्यवाद दिया और अपनी तरफ़ से निश्चिन्त किया। अबदुलग़नी सेठ पहुँचाने आये थे। इस कौतुक को देखकर उन्हें हर्ष हुआ, आश्चर्य भी हुआ; पर मुझे चेताया—'प्रिटोरिया राजीखुशी पहुँच गये तो समझना गंगापार हुए। मुझे डर है कि गार्ड आपको पहले दरजे में आराम से न बैठने देगा, और उसने बैठने दिया तो मुसाफिर न बैठने देंगे।'

मैं तो पहले दरज़े के डब्बे में जा बैठा। ट्रेन चली। जर्मिस्टन पहुँचने पर गार्ड टिकट देखने के लिए निकला। मुझे देखते ही झल्ला उठा। उंगली से इशारा कर के कहा—'तीसरे दरजे में जा बैठ।' मैंने अपना पहले दरजे का टिकट दिखाया। उसने कहा—'इसकी परवा नहीं, चला जा, तीसरे दरजे में।'

इस डब्बे में सिर्फ़ एक अंगरेज़ यात्री था। उसने उस गार्ड को डाँटा—'तुम इनको क्यों सताते हो? देखते नहीं, इनके पास पहले दरजे का टिकट है? मुझे इनके बैठने से जरा भी कष्ट नहीं।' यह कह कर उसने मेरी ओर देखा और कहा'—आप तो आराम से बैठे रहिए।'

गार्ड गुनगुनाया—'तुझे कुली के पास बैठना हो तो बैठ, मेरा क्या बिगड़ता है?' और चलता बना।

रात को कोई ८ बजे ट्रेन प्रिटोरिया पहुँची।

---

(१०)

प्रिटोरिया में पहला दिन

मैंने आशा रक्खी थी कि प्रिटोरिया स्टेशन पर दादा अब्दुल्ला के वकील की तरफ से कोई न कोई आदमी मुझे मिलेगा। मैं यह तो जानता था कि कोई हिन्दुस्तानी तो मुझे लिवाने आवेगा नहीं; क्योंकि किसी भी भारतीय के यहाँ न रहने का अभिवचन मैंने दिया था। वकील ने किसी भी आदमी को स्टेशन पर नहीं भेजा। पीछे मुझे मालूम हुआ कि जिस दिन मैं पहुँचा, रविवार था और वे बिना असुविधा उठाये किसी को न भेज सकते थे। मैं असमंजस में पड़ा। कहाँ जाऊँ? मुझे भय था कि होटल में कहीं जगह मिलने की नहीं। १८९३ का प्रिटोरिया स्टेशन १९१४ के प्रिटोरिया स्टेशन से भिन्न था। मंद-मंद बत्तियाँ जल रही थीं। मुसाफिर भी बहुत न थे। मैंने सोचा कि जब सब यात्री चले जायँगे, तब अपना टिकट टिकटकलेक्टर को दूँगा और उससे किसी मामूली होटल अथवा मकान का पता पूछ लूँगा, अन्यथा स्टेशन पर ही पड़कर रात काट दूँगा। इतनी पूछ-ताछ करने को जी न होता था, क्योंकि अपमानित होने का भय था। स्टेशन खाली हुआ। मैंने टिकटकलेक्टर को टिकट देकर पूछ-ताछ

आरंभ की। उसने विनयपूर्वक उत्तर दिये। पर मैंने देखा कि उससे अधिक सहायता न मिल सकती थी। उसके नज़दीक एक अमेरिकन हवशी खड़ा था। वह मुझ से बातें करने लगा—

'मालूम होता है, आप बिल्कुल अनजान हैं, और यहाँ आपका कोई साथी नहीं है। आइए। मेरे साथ चलिए, मैं आपको एक छोटे से होटल में ले चलता हूँ। उसका मालिक अमेरिकन है और उसे मैं अच्छी तरह जानता हूँ। मैं समझता हूँ, वह आपको जगह दे देगा।' मुझे कुछ शक तो हुआ; पर मैंने उसे धन्यवाद दिया और उसके साथ जाना स्वीकार किया। वह मुझे जान्स्टन के फेमिली होटल में ले गया। पहले उसने मि० जान्स्टन को एक ओर ले जाकर कुछ बातचीत की। मि० जान्स्टन ने मुझे एक रात के लिए जगह देना मंजूर किया। वह भी इस शर्त पर कि मेरा खाना मेरे कमरे में पहुँचा दिया जायगा।

'मैं आपको यकीन दिलाता हूँ कि मैं तो काले-गोरे का भेद-भाव नहीं रखता। पर मेरे ग्राहक सब गोरे लोग ही हैं। और यदि मैं आपको भोजन-शाला में ही भोजन कराऊँ तो मेरे ग्राहकों को आपत्ति होगी। और शायद मेरी ग्राहकी टूट जाय।' मि० जान्स्टन ने कहा।

मैंने उत्तर दिया—'मैं तो यह भी आप का उपकार समझता हूँ जो आपने एक रात के लिए भी रहने का स्थान मुझे दिया। इस देश की हालत से मैं कुछ-कुछ वाक़िफ हो गया हूँ। आपकी कठिनाई मैं समझ सकता हूँ। आप मुझे खुशी से मेरे कमरे में खाना भिजवा दीजिएगा। कल तो मैं दूसरा प्रबंध कर लेने की आशा रखता हूँ।'

कमरा मिला। अन्दर गया। एकान्त मिलते ही भोजन की राह देखता हुआ विचारों में लीन हो गया। इस होटल में अधिक मुसाफिर नहीं रहते थे। थोड़ी ही देर में वेटर को भोजन लाते हुए देखने के बजाय मि० जोन्सन को देखा। उन्होंने कहा—'मैंने आपसे यह कहा तो कि खाना यहीं भिजवा दूंगा, पर बाद को मुझे शर्म मालूम हुई। इसलिए मैंने अपने ग्राहकों से आपके संबंध में बात-चीत की और उनसे पूछा तो उन्होंने कहा कि उनके भोजनालय में आकर भोजन करने में हमें कोई ऐतराज़ नहीं है। इसलिए आप चाहें तो भोजनशाला में आ कर भोजन करें और अब जब तक आप चाहें यहाँ रहें।'

मैंने दुबारा उसका उपकार माना और भोजनशाला में खाने गया। आराम से भोजन किया।

दूसरे दिन सुबह वकील के यहाँ गया। उनका नाम था ए० डब्ल्यू बेकर। उनसे मिला। अब्दुल्ला सेठ ने उनका थोड़ा बहुत परिचय दे रक्खा था, इसलिए उनकी पहली मलाकात से मुझे कुछ आश्चर्य न हुआ। वे मुझ से बड़े भाव के साथ मिले और मुझ से अपना कुछ हाल-चाल पूछा, जो मैंने उन्हें बता दिया। उन्होंने कहा—'बैरिस्टर की हैसियत से तो आपका यहाँ कुछ भी उपयोग न हो सकेगा। हमने अच्छे से अच्छे बैरिस्टर इस मामले में कर लिये हैं। मुक़दमा मुद्दत तक चलेगा और उसमें कई गुत्थियाँ हैं। इसलिए आपसे तो मैं इतना ही काम ले सकूँगा कि आवश्यक वकफ़ियत वगैरह मुझे मिल जाय। हाँ, हमारे मवक्किल से पत्र व्यवहार करना अब आसान हो जायगा। और जो बातें मुझे जानना होंगी वे आपके मार्फ़त उनसे मंगाई जा सकेंगी, यह लाभ जरूर है। आपके

लिए मकान तो मैंने अब तक नहीं खोजा है। सोचा था कि आपसे मिल लेने के बाद ही खोजना ठीक होगा। यहाँ रंग-भेद ज़बरदस्त है। इसलिए घर मिलना आसान भी नहीं है। परन्तु एक बाई को मैं जानता हूँ। वह ग़रीब है। भटियारे की औरत है। मैं समझता हूं वह आपको अपने यहाँ रहने देगी। उसे भी कुछ मिल जायगा। चलो हम वहीं चलें।'

वह यह कह कर मुझे वहाँ ले गये। मि० बेकर ने पहले बाई के साथ अकेले में बातचीत की। उसने मुझे अपने यहाँ टिकाना स्वीकार किया। ३५ शिलिंग प्रति सप्ताह देना ठहरा।

मि० बेकर वकील और साथ ही कट्टर पादरी भी थे। अभी वे मौजूद हैं। अब तो सिर्फ पादरी का ही काम करते हैं। वकालत छोड़ दी है। खा-पीकर सुखी हैं। अब तक मुझ से चिट्ठी-पत्री करते रहते हैं। चिट्ठी-पत्री का विषय एक ही होता है। इसाई-धर्म की उत्तमता की चर्चा वे भिन्न भिन्न रूप में अपने पत्रों में किया करते हैं, और यह प्रतिपादन करते हैं कि ईसा-मसीह को ईश्वर का एक-मात्र पुत्र तथा तारनहार माने बिना परम शान्ति कभी नहीं मिल सकती।

हमारी पहली ही मुलाकात में मि० बेकर ने धर्म सम्बन्धी मेरी मनोदशा जान ली। मैंने उनसे कह दिया—'जन्मतः मैं हिंदू हूँ। पर मुझे उस धर्म का विशेष ज्ञान नहीं। दूसरे धर्मों का ज्ञान भी कम है। मैं कहाँ हूँ, क्या मानता हूँ, मुझे क्या मानना चाहिए, यह सब नहीं जानता। अपने धर्म का गहरा अध्ययन करना चाहता हूँ। दूसरे धर्मों का भी यथाशक्ति अध्ययन करने का विचारहै।'

यह सब सुन कर मि० बेकर प्रसन्न हुए और मुझे कहा—'मैं खुद दक्षिण आफ्रिका जनरल मिशन का एक डिरेक्टर हूँ। मैंने अपने खर्च से एक गिरजा बनाया है। उसमें मैं समय समय पर धर्म-सम्बन्धी व्याख्यान दिया करता हूँ। मैं रङ्ग-भेद नहीं मानता। मेरे साथ और लोग भी काम करने वाले हैं। हमेशा एक बजे हम कुछ समय के लिए मिलते हैं और आत्मा की शांति तथा प्रकाश (ज्ञान के उदय) के लिए प्रार्थना करते हैं। उसमें आप आया करेंगे तो मुझे खुशी होगी। वहाँ अपने साथियों का भी परिचय आपसे कराऊँगा। वे सब आप से मिल कर प्रसन्न होंगे। और मुझे विश्वास है कि आपको भी उनका समागम प्रिय होगा। आपको कुछ धर्म-पुस्तकें भी मैं पढ़ने के लिए दूँगा। मैं खास तौर पर सिफारिश करता हूँ कि आप उन्हें पढ़ें।'

मैंने मिस्टर बेकर को धन्यवाद दिया और कहा कि जहाँ तक हो सकेगा आपके मण्डल में एक बजे प्रार्थना के लिए आया करूँगा।

'तो कल एक बजे आप यहीं आइएगा, हम साथ ही प्रार्थना-मन्दिर चलेंगे।' हम अपने अपने स्थानों को बिदा हुए। अधिक विचार करने की फुरसत मुझे न थी। मि० जान्स्टन के पास गया। बिल चुकाया। नये घर गया। वहीं भोजन किया। मकान मालकिन भली-मानुस थी। उसने मेरे लिए अन्न-भोजन तैयार किया था। इस कुटुम्ब के साथ हिलमिल जाने में मुझे समय न लगा। खा-पीकर मैं दादा अब्दुल्ला के उन मित्र से मिलने गया, जिनके नाम उन्होंने पत्र दिया था। उनसे परिचय किया। उनसे हिंदुस्तानियों के कष्टों का और हाल मालूम हुआ। उन्होंने मुझे

अपने यहाँ रहने का आग्रह किया। मैंने उनका धन्यवाद दिया और अपने लिए जो प्रबन्ध हो गया था, उसका हाल सुनाया। उन्होंने ज़ोर देकर मुझ से कहा कि जिस किसी बात की जरूरत हो, मुझे खबर कीजिएगा।

शाम हुई। खाना खाया और अपने कमरे में जाकर विचारों के भँवर में जा गिरा। मैंने देखा कि हाल अभी तो मेरे लिए कोई काम है नहीं। अबदुल्ला सेठ को खबर की। मि० बेकर जो मित्रता बढ़ा रहे हैं इसका क्या अर्थ है? इनके धर्म-बन्धुओं के द्वारा मुझे कितना ज्ञान प्राप्त होगा? ईसाई-धर्म का अध्ययन मैं किस हद तक करूँ? हिन्दू-धर्म का साहित्य कहाँ से प्राप्त करूँ? उसे जाने बिना ईसाई-धर्म का स्वरूप मैं कैसे समझ सकूँगा? मैं एक ही निर्णय कर पाया। जो चीज़ मेरे सामने आ जाय उसका अध्ययन मैं निष्पक्ष रह कर करूँ और मि० बेकर के समुदाय को जिस समय ईश्वर जो बुद्धि दे वह उत्तर दे दिया करूँ। जब तक मैं अपने धर्म का ज्ञान पूरा पूरा न कर सकूँ तब तक मुझे दूसरे धर्म को अंगीकार करने का विचार न करना चाहिए। यह विचार करते हुए मुझे नींद आ गई।

---

(११)

ईसाइयों से परिचय

दूसरे दिन एक बजे मैं मि० बेकर के प्रार्थना-समाज में गया। वहाँ कुमारी हैरिस, कुमारी गेब, मि० कोट्स आदि से परिचय हुआ। सब ने घुटने टेक कर प्रार्थना की। मैंने भी उनका अनुकरण किया। प्रार्थना में जिसका जो मन चाहता ईश्वर से माँगता। दिन शांति के साथ बीते, ईश्वर हमारे हृदय के द्वार को खोलो, इत्यादि तो होता ही है। मेरे लिए भी प्रार्थना की गई। 'हमारे साथ जो यह नया भाई आया है, उसे तू राह दिखाना। जो शान्ति तूने हमें प्रदान की है वह इसे भी देना। जिस ईसा-मसीह ने हमें मुक्त किया है, वह इसे भी मुक्त करे। यह सब हम ईसा-मसीह के नाम पर माँगते हैं।' इस प्रार्थना में भजन-कीर्त्तन न होते। किसी विशेष बात की याचना ईश्वर से करके अपने अपने घर चले जाते। यह समय सबके दोपहर के भोजन का होता था, इसलिए सब इस तरह प्रार्थना करके भोजन करने चले जाते। प्रार्थना में पाँच मिनिट से अधिक समय न लगता।

कुमारी हैरिस और कुमारी गेब इनकी अवस्था प्रौढ़ थी।

मि० कोट्स क्वेकर थे। ये दोनों महिलायें साथ रहतीं। उन्होंने मुझे हर रविवार ४ बजे चाय पीने के लिए अपने यहाँ आमंत्रित किया। मि० कोट्स जब मिलते तब हर रविवार को उन्हें मैं अपना साप्ताहिक धार्मिक रोजनामचा सुनाता। मैंने कौन कौन सी पुस्तकें पढ़ी, उनका क्या असर मेरे दिल पर हुआ, इसकी चर्चा होती। ये कुमारिकायें अपने मीठे अनुभव सुनातीं और अपने को मिली परम शान्ति की बातें करतीं।

मि० कोट्स एक शुद्ध भाव वाले कट्टर युवक क्वेकर थे। उनसे मेरा घनिष्ट सम्बन्ध हो गया। हम बहुत बार साथ घूमने भी जाते। वे मुझे दूसरे ईसाइयों के यहाँ ले जाते।

कोट्स ने मुझे किताबों से लाद दिया। ज्यों-ज्यों वे मुझे पहचानते जाते त्यों-त्यों जो पुस्तकें उन्हें ठीक मालूम होतीं, उसे पढ़ने के लिए देते। मैंने भी केवल श्रद्धा के वशीभूत होकर उन्हें पढ़ना मंजूर किया। इन पुस्तकों पर हम चर्चा भी करते।

ऐसी पुस्तकें मैंने १८९३ में बहुत पढ़ीं। अब सब के नाम तो मुझे याद नहीं रहे हैं। कुछ ये थीं—सिटी टेम्पल वाले डा० पारकर की टाका, पियर्सन की 'मेनी इनफालिबल प्रूफ्स', बटलर कृत 'एनेलाजी' इत्यादि। कितनी हो बातें समझ में न आतीं, कितनी ही पसन्द आतीं, कितनी ही न आतीं। यह सब मैं कोट्स से कहता। 'मैनी इनफालिबल प्रूफ्स' के मानी हैं 'बहुत दृढ़ प्रमाण' अर्थात् बाइबिल में रचयिता ने जिस धर्म का अनुभव किया, उसके प्रमाण। इस पुस्तक का असर मुझपर बिलकुल न हुआ। पारकर की टीका नीति-वर्द्धक मानी जा सकती है। परन्तु वह उन लोगों को सहायता न कर सकती जिन्हें ईसाई-

धर्म की प्रचलित धारणाओं पर सन्देह है। वलटर की 'एनेलाजी' बहुत क्लिष्ट और गंभीर पुस्तक मालूम हुई। उसे पाँच-सात बार पढ़ना चाहिए। वह नास्तिक को आस्तिक बनाने के लिए लिखी गई मालूम हुई। उसमें ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए जो युक्तियाँ दी गई हैं, उनसे मुझे लाभ न हुआ; क्योंकि यह मेरी नास्तिकता का युग न था। परन्तु जो युक्तियाँ ईसामसीह के अद्वितीय अवतार के संबंध में अथवा उसके मनुष्य और ईश्वर के बीच सन्धि-कर्त्ता होने के विषय में दी गई थीं, उनकी छाप मेरे दिल पर न पड़ी।

पर कोट्स पीछे हटने वाले आदमी न थे। उनके स्नेह की सीमा न थी। उन्होंने मेरे गले में वैष्णव की कण्ठी देखी। उन्हें यह वहम मालूम हुआ, और देखकर दुःख हुआ। 'यह अन्ध-विश्वास तुम जैसे को शोभा नहीं देता। लाओ तोड़ दूँ।'

'यह कण्ठी नहीं तोड़ी जा सकती। माताजी की प्रसादी है।'

'पर तुम्हारा इस पर विश्वास है ?'

'मैं इसका गूढ़ार्थ नहीं जानता। यह भी नहीं भासित होता कि यदि इसे न पहनूँ तो कोई अनिष्ट हो जायगा। परन्तु जो माला मुझे माताजी ने प्रेम-पूर्वक पहनाई है, जिसे पहनाने में उसने मेरा श्रेय माना, उसे मैं बिना प्रयोजन नहीं निकाल सकता। समय पाकर जीर्ण होकर जब वह अपने-आप टूट जायगी तब दूसरी मँगा कर पहरने का लोभ मुझे न रहेगा। पर इसे नहीं तोड़ सकता।'

कोट्स मेरी इस दलील की क़द्र न कर सके। क्योंकि उन्हें तो मेरे धर्म के प्रति ही अनास्था थी। वे तो मुझे अज्ञान कूप से

उबारने की आशा रखते थे। वे मुझे यह बताना चाहते थे कि अन्य धर्मों में थोड़ा-बहुत सत्यांश भले ही हो, परन्तु पूर्ण सत्य-रूप ईसाई-धर्म को स्वीकार किये बिना मोक्ष नहीं मिल सकता, और ईसामसीह की मध्यस्थी के बिना पाप प्रक्षालन नहीं हो सकता, तथा पुण्य कर्म सब निरर्थक हैं। कोट्स ने जिस प्रकार पुस्तकों से परिचय कराया उसी प्रकार उन ईसाइयों से भी कराया जिन्हें वे कट्टर समझते थे। इनमें एक प्लीमथब्रदर्स, का परिवार था।

'प्लीमथ ब्रदरन' नामक एक ईसाई-सम्प्रदाय है। कोट्स के कराये बहुतेरे परिचय मुझे अच्छे मालूम हुए। ऐसा जान पड़ा कि वे लोग ईश्वर-भीरु थे। परन्तु इस परिवार वालों ने मेरे सामने यह दलील पेश की—'हमारे धर्म की खूबी ही तुम नहीं समझ सकते। तुम्हारी बातों से मैं देखता हूँ कि तुम हमेशा बात बात में अपनी भूलों का विचार करते रहते हो, हमेशा उन्हें सुधारना पड़ता है, न सुधरें तो उनके लिए प्रायश्चित करना पड़ता है। इस क्रियाकांड से तुम्हें मुक्ति कब मिल सकती है? तुम को शांति तो मिल ही नहीं सकती। हम पापी हैं, यह तो आप क़बूल ही करते हैं। अब देखो हमारे धर्म-मन्तव्य की परिपूर्णता! हमारा प्रयत्न व्यर्थ है। फिर भी मुक्ति की तो जरूरत हुई है। अब पाप का बोझ उठे किस तरह? हम उसे ईसा मसीह पर ढो देते हैं। वह तो ईश्वर का एक-मात्र निष्पाप पुत्र है। उसका बरदान है कि जो मुझे मानता है वह सब पापों से छूट जाता है। ईश्वर की यह अगाध उदारता है। ईसामसीह को इस मुक्ति-योजना को हम ने स्वीकार किया है, इसलिए हमारे पाप हमें लिप्त नहीं होते। पाप तो होते ही हैं।

इस जगत् में बिना पाप के कोई कैसे रह सकता है ? इसीलिए ईसामसीह ने सारे संसार के पापों का प्रायश्चित एक बारगी कर लिया । उसके यहां बलिदान पर जिस की श्रद्धा है वही शांति प्राप्त कर सकता है । कहाँ तुम्हारी शांति, कहाँ हमारी शांति !'

यह दलील मुझे बिल्कुल न जँची। मैंने नम्रता-पूर्वक उत्तर दिया—'यदि सर्व-मान्य ईसाई-धर्म यही हो जैसा कि आप ने बयान किया है, तो इससे मेरा काम नहीं चल सकता । मैं पाप के परिणाम से मुक्ति नहीं चाहता; मैं तो पाप-प्रवृत्ति से, पापकर्म से मुक्ति चाहता हूँ । जब तक वह न मिलेगी, मेरी अशांति मुझे प्रिय लगेगी ।',

प्लीमथ ब्रदर ने उत्तर दिया—'मैं तुमको निश्चय से कहता हूँ कि तुम्हारा यह प्रयत्न व्यर्थ है । मेरी बात पर फिर से विचार करना ।'

और इन महाशय ने जैसा कहा था वैसा कर भी दिखाया था । जान बूझ कर बुरा काम कर दिखाया ।

परन्तु तमाम ईसाइयों की मान्यता ऐसी नही होती, यह बात तो मैं इनसे परिचय होने के पहले भी जान चुका था । कोट्स खुद पाप-भीरु थे । उनका हृदय निर्मल था । वे हृदय-शुद्धि की संभवनीयता पर विश्वास रखते थे । वे बहनें भी इसी विचार की थीं । जो जो पुस्तकें मेरे हाथों में आईं, उनमें कितनी ही भक्ति-पूर्ण थीं । इसलिए प्लीमथ ब्रदर्स के परिचय से कोट्स को जो चिंता हुई थी उसे मैंने शांत किया और उन्हें विश्वास दिलाया कि प्लीमथ-ब्रदर की अनुचित धारणा के आधार पर मैं सारे ईसाई-धर्म के खिलाफ अपनी राय न बना लूँगा । मेरी कठिनाइयां तो बाइबिल तथा उसके रूढ़ अर्थ के संबंध में थीं ।

(१२)

भारतीयों से परिचय

ईसाइयों के परिचयों के संबंध में और अधिक लिखने के पहले उन्हीं दिनों में हुए अन्य अनुभवों का वर्णन करना आवश्यक है।

नेटाल में जो स्थान दादा अवदुल्ला का था, वही प्रिटोरिया में सेठ तैयब हाजी खानमहम्मद का था। उनके बिना वहां एक भी सार्वजनिक काम नहीं हो सकता था। उनसे मैंने पहले ही सप्ताह में परिचय कर लिया। प्रिटोरिया के प्रत्येक भारतीय के संपर्क में आने का अपना विचार मैंने उन पर प्रगट किया। भारतीयों की स्थिति का निरीक्षण करने की अपनी इच्छा उन पर प्रदर्शित कर के इस कार्य में उनकी सहायता मांगी। उन्होंने खुशी से देना स्वीकार किया।

पहला काम जो मैंने किया वह था समस्त भारतीयों की एक सभा करना जिसमें उनके सामने वहाँ की स्थिति का चित्र रक्खा जाय। सेठ हाजी महम्मद हाजी जुसब, जिनके नाम मुझे परिचय-पत्र मिला था, उनके वहाँ सभा की गई। उसमें प्रधानतः मेमन व्यापारी शरीक हुए थे। कुछ हिन्दू भी थे। प्रिटोरिया में हिंदुओं की आवादी बहुत कम थी।

जीवन में मेरा यह पहला भाषण था। मैंने तैयारी ठीक की थी। मुझे 'सत्य' पर बोलना था। व्यापारियों के मुँह से मैं यह सुनता आया था कि व्यापार में सच्चाई से काम नहीं चल सकता। उस समय मैं यह बात नहीं मानता था। आज भी नहीं मानता हूँ। व्यापार और सत्य दोनों एक साथ नहीं चल सकते, ऐसा कहने वाले व्यापारी-मित्र आज भी मौजूद हैं। वे व्यापार को व्यवहार कहते हैं, सत्य को धर्म कहते हैं और युक्ति पेश करते हैं कि व्यवहार एक चीज़ है, धर्म दूसरी। व्यवहार में शुद्ध सत्य से काम नहीं चल सकता। वे मानते हैं कि उसमें तो यथाशक्ति ही सत्य बोला और चला जा सकता है। मैंने अपने भाषण में इस बात का प्रबल विरोध किया और व्यापारियों को उनके दुहरे कर्त्तव्य का स्मरण दिलाया। विदेश में आने के कारण उनकी जबाबदेही देश से अधिक बढ़ गई है; क्योंकि मुट्ठीभर हिन्दुस्तानियों के रहन-सहन से लोग करोड़ों भारतवासियों का अन्दाज़ लगाते थे।

मैंने देख लिया था कि अंगरेज़ों के रहन-सहन के मुक़ाबले में हिन्दुस्तानी गंदे रहते हैं और उनको मैंने यह त्रुटि दिखाई।

हिन्दू, मुसल्मान, पारसी, ईसाई अथवा गुजराती, मदरासी, पंजाबी, सिंधी, कच्छी, सूरती इत्यादि भेदों को भुला देने पर ज़ोर दिया। और अन्त को यह सूचित किया कि एक मंडल की स्थापना करके भारतीयों के कष्टों और दुःखों का इलाज अधिकारियों से मिल कर, प्रार्थना-पत्र आदि के द्वारा करना चाहिए। और अपनी तरफ़ से यह कहा कि इसके लिए मुझे जितना समय मिल सकेगा बिना वेतन देता रहूँगा।

मैंने देखा कि सभा पर अच्छा असर हुआ।

चर्चा हुई। कितनों ही ने कहा कि हम हकीकतें ला ला कर देंगे। मुझे हिम्मत आई। मैंने देखा कि सभा में अंगरेज़ी जानने वाले कम थे। मुझे लगा कि ऐसे परदेश में यदि अंगरेज़ी का ज्ञान अधिक हो तो अच्छा। इसलिए मैंने कहा कि जिन्हें फ़ुर्सत हो उन्हें अंगरेज़ी सीख लेना चाहिए। बड़ी उम्र में भी पढ़ सकते हैं, यह कह कर उन लोगों की मिसालें दीं जो प्रौढ़ावस्था में पढ़े थे। कहा—'यदि पढ़ने वाले तैयार हों तो मैं खुद पढ़ाने के लिए तैयार हूँ।' कुछ लोग एक साथ वर्ग बना कर पढ़ने के लिए तथा कुछ अपनी सुविधा देख कर, तथा उन्हें घर पढ़ाने जाने पर पढ़ने के लिए तैयार हुए। इनमें दो मुसलमान थे। एक था नाई, एक था कारकुन। एक हिन्दू छोटासा दुकानदार था। मैं सब की सुविधा के अनुकूल हुआ। अपनी पढ़ाने की योग्यता और क्षमता के सम्बन्ध में तो मुझे अविश्वास था ही नहीं। मेरे शिष्य भले ही थक गये हों, पर मैं न थका। कभी उनके घर जाता तो उन्हें फ़ुरसत न रहती। मैंने धीरज न छोड़ा। किसी को अंगरेजी का पंडित तो होना ही न था। परन्तु दो विद्यार्थियों ने कोई आठ मास में अच्छी प्रगति कर ली। दो ने बहीखाता का तथा चिट्ठी-पत्री लिखने का ज्ञान प्राप्त कर लिया। नाई को तो इतना ही पढ़ना था कि वह अपने ग्राहकों से बात-चीत कर सके। दो आदमी अपनी इस पढ़ाई के बदौलत ठीक कमाने का भी सामर्थ्य प्राप्त कर सके।

सभा के परिणाम से मुझे सन्तोष हुआ। ऐसी सभा हर मास अथवा हर हफ्ता करने का निश्चय हुआ।

न्यूनाधिक नियमित रूप में यह सभा होती तथा विचार-

विनिमय होता। इसके फलस्वरूप प्रिटोरिया में शायद ही कोई ऐसा भारतवासी होगा जिसे मैं पहचानता न होऊँ या जिसकी स्थिति से मैं वाकिफ़ न होऊँ। भारतीयों की स्थिति की ऐसी जानकारी प्राप्त करलेने का परिणाम यह हुआ कि मुझे प्रिटोरिया-स्थित ब्रिटिश एजण्ट से परिचय प्राप्त करने की इच्छा हुई। मैं मि० जेकोब्स डिवेट से मिला। उनके मनोभाव हिन्दुस्तानियों की ओर थे। पर उनकी पहुँच कम थी। फिर भी उन्होंने भरसक सहायता करने का आश्वासन दिया और कहा—'जब ज़रूरत हो तो मिल लिया करो।' रेलवे अधिकारियों से लिखा-पढ़ी की और उन्हें दिखाया कि उन्हीं के क़ायदों के अनुसार हिन्दुस्तानियों की यात्रा में रोक-टोक नहीं हो सकती। इसके उत्तर में यह पत्र मिला कि साफ़-सुथरे और अच्छे कपड़े पहनने वाले भारतवासियों को ऊपर के दरजे के टिकट दिये जावेंगे। इससे पूरी सुविधा तो न हुई। क्योंकि अच्छे कपड़ों का निर्णय तो आखिर स्टेशन मास्टर ही करता न?

ब्रिटिश एजंट ने मुझे हिन्दुस्तानियों से संबंध रखने वाली चिट्ठियाँ दिखाईं। तैयब सेठ ने भी ऐसे पत्र दिये। उनसे मैंने जाना कि आरेंज फ्री स्टेट से हिन्दुस्तानियों के पैर किस प्रकार निर्दयता से उखाड़े गये। संक्षेप में कहूँ तो प्रिटोरिया में मैं भारतवासियों की आर्थिक, सामाजिक, और राजनैतिक स्थिति का गहरा अध्ययन कर सका। मुझे इस समय यह बिलकुल पता न था कि यह अध्ययन आगे चल कर बड़ा काम आवेगा। क्योंकि मैं तो एक साल के बाद अथवा मामला जल्दी तय हो जाय तो उसके पहले देश चला जाने वाला था।

पर ईश्वर ने कुछ और ही सोचा था।

(१३)

कुलीपन का अनुभव

ट्रान्सवाल तथा आरेंज फ्री स्टेट के भारतीयों की दशा का पूरा चित्र देने का यह स्थान नहीं है। उसके लिए पाठकों को 'दक्षिण आफ्रिका के सत्याग्रह का इतिहास' पढ़ना चाहिए। परन्तु उसकी रूपरेखा यहाँ दे देना आवश्यक है।

आरेंज फ्रीस्टेट में तो १८८२ ईसवी में अथवा उसके पहले, एक क़ानून बना कर भारतीयों के तमाम अधिकार छीन लिये गये थे। सिर्फ होटल में 'वेटर' बनकर रहने अथवा ऐसी ही किसी तरह की मेहनत-मजदूरी करके रहने की आज़ादी भारतीयों को रह गई थी। जो भारतीय व्यापारी वहाँ थे, उन्हें नाम-मात्र के लिए मावज़ा दे कर वहाँ से हटा दिया। उन्होंने प्रार्थना-पत्र इत्यादि तो भेजे-भिजाये, पर नक्कारे में तूती की आवाज़ कौन सुनता ?

ट्रान्सवाल में, १८८५ में, सख़्त क़ानून बना। १८८६ में उसमें कुछ सुधार हुआ, जिसके फल-स्वरूप यह नियम बना कि तमाम हिंदुस्तानी प्रवेश-फीस के तौर पर ३ पौंड दें। ज़मीन की

मालिकी भी उन्हें सिर्फ उन्हीं जगहों में मिल सकती है, जो उनके लिए ख़ास तौर पर बताई जावें। पर वास्तव में तो किसी को मालिकी मिली न थी। और मताधिकार भी किसी को कुछ न था। ये तो कानून ऐसे थे जिनका संबंध एशिया-वासियों से था। परंतु जो कानून श्याम वर्ण के लोगों के लिए थे वे भी एशिया-वासियों पर लागू होते थे। उसके अनुसार भारतवासी फूटपाथ पर न चल सकते थे, रात को नौ बजे के बाद बिना परवाने के बाहर न निकल सकते थे। इस अंतिम कानून का अमल भारत-वासियों पर कहीं कम होता कहीं ज्यादह। जो 'अरब' कहलाते थे, उन पर बतौर महरबानी के, यह कानून लागू न भी किया जाता। पर यह बात थी पुलिस की मरज़ी पर अवलंबित।

अब मुझे यह देखना था कि इन दोनों कानूनों का अमल खुद मेरे साथ किस तरह होता है। मि० कोट्स के साथ मैं बहुत बार घूमने के लिए जाता। घर पहुँचते कभी दस भी बज जाते। ऐसी अवस्था में यह आंशका रहा करती कि कहीं मुझे पुलिस पकड़ न ले। पर मेरी अपेक्षा यह भय कोट्स को ज्यादह था। क्योंकि अपने हब्शियों को तो परवाने वही देते थे। मुझे परवाना कैसे दे सकते थे? मालिक को परवाना देने का अधिकार सिर्फ नौकर के ही लिए था। यदि मैं लेना चाहूँ और कोट्स भी देने को तैयार हों तो भी वे नहीं दे सकते थे। क्योंकि ऐसा करना दग़ा समझा जाता।

इस कारण मुझे कोट्स अथवा उनके कोई मित्र वहाँ के सर-कारी वकील डा० क्राउज़े के पास ले गये। हम दोनों एक ही 'इन' के बैरिस्टर निकले। यह बात कि मुझे नौ बजे के बाद रात

को परवाना लेने की जरूरत है, उन्हें बड़ी नागवार मालूम हुई। उन्होंने मेरे साथ समवेदना प्रदर्शित की। मुझे परवाना देने के बदले अपनी तरफ से एक पत्र दे दिया। उसका आशय यह था कि मैं कहीं भी किसी समय चला जाऊँ तो पुलिस मुझे रोक-टोक न करे। हमेशा मैं इस पत्र को अपने साथ रखता। उसका उपयोग तो किसी भी दिन न करना पड़ा, पर इसे एक दैव-योग ही समझना चाहिए।

डा० क्राउज़े ने मुझे अपने घर चलने का निमंत्रण दिया। हम दोनों में खासी मित्रता सी हो गई, कभी कभी मैं उनके घर जाने लगा, उनके द्वारा, उनके अधिक प्रख्यात् भाई से मेरा परिचय हुआ। वे जोहान्सबर्ग में पब्लिक प्रासीक्यूटर थे, उनपर बोअर-युद्ध के समय अंगरेज़ अधिकारी के खून करने की साजिश का अभियोग लगाया गया था। और उन्हें सात साल क़ैद की सजा मिली थी। बेंचरों ने उनकी सनद भी छीन ली थी। लड़ाई खतम होने के बाद, यह डा० क्राउज़े जेल से छूटे, और फिर सम्मान-सहित ट्रान्सवाल की अदालत में वकालत करने लगे। इन परिचयों से मुझे बाद को सार्वजनिक कार्य्यों में खासा लाभ मिला। और मेरा सार्वजनिक काम बहुत सुगम हो गया।

फूटपाथ पर चलने का प्रश्न जरा मेरे लिए गंभीर परिणाम वाला साबित हुआ। मैं हमेशा, प्रेसिडेंट-स्ट्रीट में होकर एक खुले मैदान में घूमने जाता। इस मुहल्ले में प्रेसीडेंट क्रूगर का घर था। इस घर में आडम्बर का नाम निशान न था। उसके आस-पास कम्पाउंड तक न था। दूसरे पड़ोसी घरों में, और इसमें कुछ फर्क न मालूम होता था। कितने ही लखपतियों के घर, प्रिटोरिया में इस

घर से भारी आलीशान और चहारदिवारी वाले थे। प्रेसिडेंट की सादगी प्रख्यात थी। यह घर किसी राज्यधिकारी का है, इसका अंदाज सिर्फ उस संतरी को देखकर हो सकता था जो उसके सामने टहलता रहता। संतरी किसी को रोकता-टोकता नहीं। उसकी बदली होती रहती। एक बार एक संतरी ने, बिना चिताये, बिना यह कहे कि फुटपाथ से उतर जाओ, मुझे धक्का मार दिया, लात जमा दी और फुटपाथ से उतार दिया! मैं तो भौंचक रह गया! ज्योंही मैं, लात जमाने का कारण पूँछता हूँ, कोर्ट्स् ने, जो घोड़े पर सवार होकर उस समय उसी रास्ते से जा रहे थे, आकर कहा—

"गांधी, मैंने यह सब देख लिया है, तुम यदि मुकदमा चलाना चाहो तो मैं गवाही दूँगा। मुझे बहुत अफसोस होता है कि, तुम पर इस प्रकार का हमला हुआ।" मैंने कहा 'इसमें अफसोस की बात ही क्या है, संतरी बेचारा क्या पहचानता? उसके नजदीक तो, काले काले सब बराबर। हबशियों को फुटपाथ से इसी तरह उतारता होगा। इसलिए मुझे भी धक्का मार दिया। मैंने तो अपना यह नियम ही बना लिया है, कि मेरे ज़ातखास पर जो भी कुछ बीते, उसके लिए कभी अदालत न जाऊँ, इसलिए मुझे इसे अदालत में नहीं ले जाना।

'यह तो तुमने अपने स्वभाव के अनुसार ही कहा है, पर और भी विचार कर देखना ऐसे आदमी को, कुछ सबक तो ज़रूर सिखाना चाहिए। यह कह कर उन्होंने उस संतरी को दो.चार बातें कहीं। मैं सारी बात न समझ सका। संतरी डच था और डच भाषा में उसके साथ बात-चीत हुई थी। संतरी ने मुझसे माफ़ी माँगी, मैं तो उसे माफ़ी दे ही चुका था।'

पर उसके बाद से मैंने, उस रास्ते जाना छोड़ दिया। दूसरे संतरी इस घटना को क्या जानते? मैं आप हो कर लात खाने क्यों जाऊँ? इसलिए मैंने दूसरे रास्ते होकर घूमने जाना पसंद किया। इस घटना ने, वहाँ के हिन्दुस्तानी निवासियों के प्रति मेरे मनोभाव और भी तीव्र कर दिये। उनसे मैंने दो बातों की चर्चा की। एक तो यह कि इन कानूनों के लिए बृटिश एजंट से बात कर ली जाय, और दूसरी यह कि मौक़ा पड़ने पर बतौर नमूने के एक मुकदमा चलाया जाय।

इस प्रकार मैंने, भारतवासियों के कष्टों का पढ़कर, सुनकर, तथा अनुभव करके अध्ययन किया। मैंने देखा कि आत्म-सम्मान की रक्षा चाहने वाले भारतवासी के लिए, दक्षिण आफ्रीका अनुकूल नहीं। यह दशा कैसे बदली जा सकती है? इसीके विचार में मेरा मन दिन दिन व्यग्र रहने लगा। पर अभी तो मेरा मुख्य धर्म था, दादा अबदुल्ला के मुकदमे को संभालना।

---

(१४)

मुकद्मे की तैयारी

प्रिटोरिया में मुझे जो एक वर्ष मिला, वह मेरे जीवन में अमूल्य था। सार्वजनिक काम करने की अपनी शक्ति का कुछ अंदाज मुझे यहाँ हुआ, सार्वजनिक सेवा सीखने का अवसर मिला। धार्मिक भावना अपने आप तीव्र होने लगी, और सच्ची वकालत भी, कहना चाहिए, मैं यहीं सीखा। नया बैरिस्टर पुराने बैरिस्टर के दफ्तर में रहकर जो सीखता है वह मैं यहाँ सीख पाया। यहाँ मुझे इस बात पर विश्वास हुआ कि एक वकील की हैसियत से मैं बिल्कुल अयोग्य न रहूँगा। वकील होने की कुंजी भी मेरे हाथ यहीं आ कर लगी।

दादा अबदुल्ला का मामला छोटा न था। दावा ४०,०००) पौंड का अर्थात् ६ लाख रुपये का था। वह व्यापार के सिल्सिले में था और उसमें जमा-नामे की बहुतेरी गुत्थियां थीं। उसके कुछ अंश का आधार था प्रामिसरी नोटों पर और कुछ का था नोट देने के वचन का पालन करने पर। सफाई में यह कहा जाता था कि प्रामिसरी नोट जालसाजी करके लिये गये थे और पूरा मावजा

नहीं मिला था। इसमें हकीकत की तथा कानूनी गुंजायशें बहुतेरी थीं। वही खाते की उलझनें बहुत थीं।

दोनों ओर से अच्छे से अच्छे सालिसिटर और बैरिस्टर खड़े हुए थे। इस कारण मुझे उन दोनों के काम का अनुभव प्राप्त करने का बढ़िया अवसर हाथ आया। मुद्दई का मामला सालिसिटर के लिए तैयार करने का तथा हकीकतों को ढूँढने का सारा बोझ मुझीपर था। इससे मुझे यह देखने का अवसर मिलता था कि मेरे तैयार किये काम में से सालिसिटर अपने काम में कितनी बातें लेते हैं और सालिसिटरों के तैयार किये मामले में से बैरिस्टर कितनी बातों को काम में लेते हैं। मैं समझ गया कि इस मामले को तैयार करने में मुझे अपनी ग्रहण शक्ति और व्यवस्था शक्ति का अन्दाज ठीक-ठीक हो जायगा।

मैंने मामला तैयार करने में पूरी-पूरी दिलचस्पी ली। मैं उसमें लवलीन हो गया। आगे-पीछे के तमाम कागज-पत्रों को पढ़ डाला। मवक्किल के विश्वास और होशियारी की सीमा न थी। इससे मेरा काम बड़ा सरल हो गया था। मैंने वही-खाता का सूक्ष्म अध्ययन कर लिया। गुजराती कागज़ पत्र बहुतेरे थे। उनके अनुवाद भी मैं करता था। इससे उल्था करने की क्षमता भी बढ़ी।

मैंने खूब उद्योग से काम लिया। यद्यपि, जैसा कि मैं ऊपर लिख चुका हूँ, धार्मिक चर्चा आदि में तथा सार्वजनिक कामों में मेरा दिल खूब लगता था, उनके लिए समय भी देता था, तथापि ये बातें मेरे नज़दीक गौण थीं। मुकदमे की तैयारी को ही मैं प्रधानता देता था। उसके लिए कानून वगैरह देखने का अपना दूसरा कोई काम होता तो उसे मैं पहले कर लेता। इसके फल-स्वरूप

मामले की हकीकतों का मुझे इतना ज्ञान हो गया कि खुद मुद्दई-मुद्दालेह को भी शायद न हो। क्योंकि मेरे पास तो दोनों के कागज थे।

मुझे स्वर्गीय मि० पिंकट के शब्द याद आये। उनका समर्थन, बाद को, दक्षिण आफ्रिका के सुप्रसिद्ध बैरिस्टर स्वर्गीय मि० लैनर्डे ने एक अवसर पर किया था। 'हकीकत तीन-चौथाई कानून है'। यह मि० पिंकट का वाक्य था। एक मामले में मैं जानता था कि न्याय सर्वथा मेरे मवक्किल के पक्ष में था, परन्तु कानून उसके खिलाफ जाता हुआ दिखाई दिया। मैं निराश हो कर मि० लैनर्डे से साहायता लेने के लिए दौड़ा। उन्हें भी हकीकत के आधार पर मामला मजबूत मालूम हुआ। वे बोल उठे— 'गांधी' मैं एक बात सीखा हूँ। यदि हकीकतों का ज्ञान हमें पूरा-पूरा हो तो कानून अपने आप हमारे अनुकूल हो जायगा। सो हम इस मामले की हकीकत को देखें।' यह कह कर उन्होंने सुझाया कि एक बार और हकीकतों का खूब मनन कर लो और फिर मुझ से मिलो।' उसी हकीकत की फिर छान-बीन करते हुए, उसका मनन करते हुए मुझे वह दूसरी तरह दिखाई दी और उससे संबंध रखने वाला दक्षिण आफ्रिका में हुआ एक पुराना मामला भी हाथ लगा। मारे खुशी के मैं मि० लैनर्डे के यहां पहुँचा। वे खुश हो उठे, और बोले—'बस, अब हम इस मामले को जीत लेंगे। बेंच पर कौन से जज होंगे, यह जरा ध्यान में रखना होगा।'

जब दादा अबदुल्ला के मामले की तैयारी कर रहा था तब हकीकत की महिमा मैं इस दरजे तक न परख सका था। हकीकत के मानी हैं सत्य बात, सत्य बात पर आरूढ़ रहने से कानून अपने आप हमारी सहायता के अनुकूल हो जाता है।

मैंने देख लिया था कि मेरे मवक्किल का पक्ष बहुत मजबूत है। कानून को उसकी मदद के लिए आना ही पड़ेगा।

पर साथ ही मैंने यह भी देखा कि मामला लड़ते लड़ते दोनों रिश्तेदार, एक ही शहर के रहने वाले, बरबाद हो जायँगे। मामले का अन्त क्या होगा, यह किसी को खबर न हो सकती थी। अदालत में तो मामला जहाँ तक जी चाहे लंबाया जा सकता है। लंबाने से दो में से किसी को लाभ न था। इस कारण मामला यदि जल्दी तय होता हो तो उसे करने की इच्छा दोनों पक्षवालों को थी।

मैंने तैयब सेठ से अनुरोध किया। आपस में निपटारा कर लेने की सलाह दी। मैंने कहा कि आप अपने वकील से मिलिए। दोनों के विश्वास-पात्र पंच को यदि वे नियुक्त कर दें तो मामला जल्दी तय हो सकता है। वकीलों के खर्च का बोझ इतना चढ़ रहा था कि उसमें बड़े बड़े व्यापारी भी खप जायँ। दोनों इतनी चिन्ता से मुकदमा लड़ रहे थे कि कोई भी बेफिक्री से दूसरा कोई काम न कर पाते थे। और दोनों में मन-मुटाव जो बढ़ता जाता था सो अलग ही। मेरे मन में वकालत पर घृणा उत्पन्न हुई। वकील का तो यह काम ही ठहरा कि एक दूसरे को जिताने की कानूनी गुंजाइशें खोज रक्खें। जीतने वाले को सारा खर्च कभी नहीं मिलता, यह बात मैंने इस मामले में पहले-पहल जानी। वकील मवक्किल से एक फीस लेता है; और मवक्किल को प्रतिवादी से दूसरी रकम मिलती है। दोनों रकमें जुदा जुदा होती है। मुझे यह सब बड़ा नागवार गुजरा। मेरी अन्तरात्मा ने कहा कि इस समय मेरा धर्म है दोनों में मित्रता करा देना, दोनों रिश्तेदारों में

मिलाप करा देना, मैंने समझौते के लिए जी-तोड़ कर मिहनत की। तैयब सेठ ने बात मान ली। अन्त को पंच मुकर्रर हुए। मुकदमा चला। दादा अबदुल्ला की जीत हुई।

पर मुझे इतने से सन्तोष न हुआ। यदि पंच के फैसले का अमल एक बारगी हो तो तैयबहाजी खानमहम्मद इतना रुपया एकाएक न दे सकते थे। दक्षिण आफ्रिका स्थित पोरबंदर के मेमन व्यापारियों में एक आपसी का अलिखित कायदा था कि खुद चाहे मर जायँ, पर दिवाला न निकालें। तैयब सेठ ३७,००० पौण्ड और खर्च एक मुश्त नहीं दे सकते थे। वे एक पाई कम न देना चाहते थे। दिवाला भी नहीं निकालना था। ऐसी दशा में एक ही रास्ता था दादा अबदुल्ला उन्हें अदायगी के लिए काफी मीयाद दें। दादा अबदुल्ला ने उदारता से काम लिया और काफी मीयाद दे दी। पंच मुकर्रर कराने में जितना श्रम मुझे हुआ उससे कहीं अधिक लंबी किश्तें कराने में हुआ। दोनों पक्ष खुश रहे। दोनों की प्रतिष्ठा बढ़ी। मेरे सन्तोष की तो सीमा न रही। मैं सच्ची वकालत सीखा। मनुष्य के गुण—उज्ज्वल पक्ष को खोजना सीखा। मनुष्य हृदय में प्रवेश करना सीखा। मैंने देखा कि वकील का कर्तव्य है फरीकैन में पड़ी खाई को पाट देना। यह शिक्षा मेरे हृदय में इतने ज़ोर के साथ अंकित हो गई कि अपने बीस साल के वकील-जीवन में अधिक समय मेरा सैकड़ों फरीकैन में समझौता कराने में बीता। इसमें मैंने गवांया कुछ नहीं। धन खोया, यह भी नहीं कह सकते। और आत्मा को तो किसी तरह नहीं खोया।

---

(१५)

धार्मिक मन्थन

अब फिर ईसाई-मित्रों के सम्पर्क पर विचार करने का समय आया है।

मेरे भविष्य के सम्बन्ध में मि० बेकर की चिन्ता बढ़ती जा रही थी। वे मुझे वेलिंग्टन कन्वेन्शन में ले गये। प्रोटेस्टेंट ईसाइयों में, कुछ कुछ वर्षों के बाद, धर्म-जागृति अर्थात् आत्म-शुद्धि के लिए विशेष प्रयत्न किये जाते हैं। इसे धर्म की पुनःप्रतिष्ठा अथवा धर्म का पुनरुद्धार कहा करते हैं। ऐसा सम्मेलन वेलिंग्टन में था। उसके सभापति वहाँ के प्रख्यात धर्मनिष्ठ पादरी रेवरंड एण्ड्र्यू मरे थे। मि० बेकर को ऐसी आशा थी कि इस सम्मेलन में होने वाली जागृति, वहाँ आने वाले लोगों के धार्मिक उत्साह, उनका शुद्ध भाव, मुझ पर ऐसा गहरा असर डालेगा कि मैं ईसाई हुए बिना न रह सकूंगा।

परन्तु मि० बेकर का अन्तिम आधार था प्रार्थना-बल। प्रार्थना पर उनकी भारी श्रद्धा थी। उनका विश्वास था कि अन्तःकरण पूर्वक की गई प्रार्थना को ईश्वर अवश्य सुनता है वे कहते 'प्रार्थना के ही बल पर मुलर (एक विख्यात भावुक ईसाई) जैसे लोग

अपना काम चलाते हैं। प्रार्थना की यह महिमा मैंने तटस्थ भाव से सुनी। मैंने उनसे कहा कि यदि मेरी अन्तरात्मा पुकार उठे कि मुझे ईसाई होजाना चाहिए तो दुनिया की कोई ताकत मुझे रोक नहीं सकती। अन्तरात्मा की पुकार के अनुसार चलने की आदत तो मैं कितने ही वर्षों से डाल चुका था। अन्तरात्मा के अधीन होते हुए मुझे आनंद आता। उसके विपरीत आचरण करना मुझे कठिन और दुःखदायी होता था।

हम वेलिंग्टन गये। मुझ 'श्यामल साथी' को साथ रखना मि० वेकर को भारी पड़ा। कई बार उन्हें मेरे कारण असुविधा भोगनी पड़ती। रास्ते में हमें मुकाम करना था। क्योंकि मि० वेकर का संघ रविवार को सफर न करता था और बीच में रविवार पड़ता था। बीच में तथा स्टेशन पर मुझे होटल में होटल वाले ने ठहराने से, तथा चख-चख होने के बाद ठहराने पर, भोजनालय में भोजन करने देने से इंकार कर दिया। पर मि० वेकर आसानी से हार खाने वाले न थे। वे होटल में ठहरनेवालों के हक पर अड़े रहे। परन्तु उनकी कठिनाइयों को मैंने अनुभव जरूर किया। वेलिंग्टन में भी मैं उनके पास ही ठहरा था। वहाँ भी उन्हें छोटी-छोटी सी बातों में असुविधा होती थी। वे उन्हें ढाँकने का शुभ प्रयत्न करते थे; फिर भी वे मेरे ध्यान में आ जाया करती थीं।

सम्मेलन में भावुक ईसाइयों का अच्छा सम्मेलन हुआ। उनकी श्रद्धा देखकर मुझे आनंद हुआ। मि० मरे से परिचय हुआ। मैंने देखा कि मेरे लिए बहुतेरे लोग प्रार्थना कर रहे थे। उनके कितने ही भजन मुझे बहुत मीठे मालूम हुए।

सम्मेलन तीन दिन तक हुआ। सम्मेलन में सम्मिलित होने

वालों की धार्मिकता को तो मैं समझ सका, उसकी कद्र भी कर सका; परन्तु अपनी मान्यता—अपने धर्म—में परिवर्तन करने का कारण न दिखाई दिया। मुझे यह न मालूम हुआ कि मैं अपने को ईसाई कहलाने पर ही स्वर्ग को जा सकता हूँ या मोक्ष पा सकता हूँ। जब मैंने यह बात अपने भले ईसाई मित्रों से कही तब उन्हें दुःख तो हुआ; पर मैं लाचार था।

मेरी कठिनाइयां गहरी थीं। यह बात कि 'ईसामसीह ही एक-मात्र ईश्वर का पुत्र है, जो उसको मानता है उसीका उद्धार होता है, मुझे न पटी। ईश्वर के यदि कोई पुत्र हो सकता है तो फिर हम सब उसके पुत्र हैं। ईसामसीह यदि ईश्वर-सम है, ईश्वर ही है, तो मनुष्य-मात्र ईश्वर-सम हैं, ईश्वर हो सकते हैं। ईसा की मृत्यु से और उसके लहू से संसार के पाप धुल जाते हैं, इस बात को अक्षरशः मानने के लिए बुद्धि किसी तरह तैयार न होती। रूपक के रूप में वह सत्य भले ही हो। फिर ईसाई मत के अनुसार तो मनुष्य को ही आत्मा होती है, दूसरे जीवों को नहीं, और देह के नाश के साथ ही उनका भी सर्वथा नाश हो जाता है पर मेरा मत इसके विपरीत था।

ईसा को मैं एक त्यागी, महात्मा, दैवी शिक्षक मान सकता था; परन्तु एक अद्वितीय पुरुष नहीं। ईसा की मृत्यु से संसार को एक भारी उदाहरण मिला; परन्तु उसकी मृत्यु में कोई गुह्य चमत्कारी प्रभाव था, इस बात को मेरा हृदय न मान सकता था। ईसाइयों के पवित्र जीवन में से मुझे कोई ऐसी बात न मिली जो दूसरे धर्मवालों के जीवन में न मिलती थी। उनकी तरह दूसरे र्मवालों के जीवन में भी परिवर्तन होता हुआ मैंने देखा था।

सिद्धान्त की दृष्टि से ईसाई-सिद्धान्तों में मुझे अलौकिकता न दिखाई दी। त्याग की दृष्टि से हिन्दू-धर्म वालों का त्याग मुझे बढ़कर मालूम हुआ। ईसाई-धर्म को मैं सम्पूर्ण अथवा सर्वोपरि धर्म न मान सका।

अपना यह हृदय-मन्थन मैंने, समय पाकर, ईसाई-मित्रों के सामने रक्खा। उसकाजवाब वे सन्तोष-जनक न दे सके।

परन्तु एक ओर जहाँ मैं ईसाई-धर्म को ग्रहण न कर सका तहां दूसरी ओर हिन्दू-धर्म की सम्पूर्णता अथवा सर्वोपरिता का भी निश्चय मैं उस समय न कर सका। हिन्दू-धर्म की त्रुटियां मेरी आंखों के सामने घूमा करतीं। अस्पृश्यता यदि हिन्दू-धर्म का अंग हो तो वह मुझे सड़ा हुआ अथवा बढ़ा हुआ मालूम हुआ। अनेक सम्प्रदायों, और जात-पांत का अस्तित्व मेरी समझ में न आया। वेद ईश्वर-प्रणीत है, इसका क्या अर्थ ? वेद यदि ईश्वर-प्रणीत हैं तो फिर कुरान और बाइबिल क्यों नहीं है ?

जिस प्रकार ईसाई-मित्र मुझ पर असर डालने का उद्योग कर रहे थे उसी प्रकार मुसल्मान मित्र भी कोशिश कर रहे थे। अब-दुल्ला सेठ मुझे इस्लाम का अध्ययन करने के लिए ललचा रहे थे। उसकी खूबियों का बयान तो वे हमेशा करते रहते।

मैंने अपनी दिक्कतें रायचन्द भाई को लिखीं। हिन्दुस्तान के दूसरे धर्म-शास्त्रियों से भी पत्र-व्यवहार किया। उनके उत्तर भी आये। परन्तु रायचन्द भाई के पत्र ने मुझे कुछ शान्ति दी। उन्होंने लिखा कि धीरज रक्खो, और हिन्दू-धर्म का गहरा अध्ययन करो। उनके एक वाक्य का भावार्थ यह था—'हिन्दू-धर्म में जो सूक्ष्म और गूढ़ विचार हैं, जो आत्मनिरीक्षण है, दया है, वह दूसरे धर्म में नहीं

है—निष्पक्ष होकर विचार करते हुए मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ।'

मैंने सेल कृत कुरान खरीदी और पढ़ना शुरू की दूसरी इस्लामी पुस्तकें भी मंगाई। विलायत के ईसाई मित्रों से लिखा-पढ़ी की। उनमें से एक ने एडवर्ड मेटलेंड से जान-पहचान कराई। उनके साथ चिट्ठी-पत्री हुई। उन्होंने एना किंग्सफर्ड के साथ मिलकर 'परफेक्ट वे' (उत्तम मार्ग) नामक पुस्तक लिखी थी। वह मुझे पढ़ने के लिए भेजी। प्रचलित ईसाई-धर्म का उसमें खण्डन था। 'बाइबिल का नवीन अर्थ, नामक पुस्तक भी उन्होंने मुझे भेजी। ये पुस्तकें मुझे पसंद आईं। उनसे हिन्दू-मत को पुष्टि मिली। टॉलस्टाय की 'वैकुण्ठ तुम्हारे हृदय में हैं' नामक पुस्तक ने मुझे मुग्ध कर लिया। उसकी बड़ी गहरी छाप मुझपर पड़ी। इस पुस्तक की स्वतंत्र विचार शैली, उसकी प्रौढ नीति, उसके सत्य के सामने मि० कोट्स की दी हुई तमाम पुस्तकें शुष्क मालूम हुईं।

इस प्रकार मेरा यह अध्ययन मुझे ऐसी दिशा में ले गया जिसे ईसाई-मित्र न चाहते थे। एडवर्ड मेटलेंड के साथ मेरा पत्र-व्यवहार काफी समय तक रहा। कवि (रायन्चद भाई) के साथ तो अन्त तक रहा उन्होंने कितनी ही पुस्तकें भेजी। उन्हें भी पढ़ गया उनमें 'पंची करण' 'मणि रत्नमाला' योग वासिष्ठ 'मुमुक्षु प्रकरण' हरिभद्र सूरि का 'षड दर्शन समुच्चय' इत्यादि थे।

इस प्रकार यद्यपि मैं ऐसे रास्ते चल पड़ा जिसका खयाल ईसाई-मित्रों ने न किया था, फिर भी उनके समागम ने जो धर्म-जिज्ञासा मुझ में जागृत कर दी थी उसके लिए तो मैं उनका चिर कालीन ऋणी हूँ। उनसे मेरा यह संबंध मुझे हमेशा याद रहेगा। ऐसे मीठे और पवित्र संबंध आगे और भी बढ़ते गये हैं, घटे नहीं हैं।

(१६)

को जाने कल की

खबर नहिं इस जुग में पल की
समझ मन को जाने कल की ?

मुकदमा खतम हो जाने के बाद मेरे प्रिटोरिया में रहने का कोई प्रयोजन न रहा था। मैं डरबन गया। वहाँ जाकर घर—भारतवर्ष लौटने की तैयारी की। अबदुल्ला सेठ भला मुझे आदर—सत्कार किये बिना क्यों जाने देने लगे? उन्होंने सिडेनहैम में मेरे लिए खान-पान का जलसा किया। सारा दिन उसमें लगने वाला था।

मेरे पास कितने ही अख़बार रक्खे हुए थे। उन्हें मैं देख रहा था। एक अख़बार के कोने में एक छोटी सी ख़बर छपी थी—नाम था 'इन्डियन फ्रेंचाइज' । इसका अर्थ हुआ—'हिन्दुस्तानी मताधिकार' । ख़बर का भावार्थ यह था कि नेटल की धारा-सभा के सभ्यों को चुनने का जो अधिकार हिन्दुस्तानियों को था वह छीन लिया जाय। इसके विषय में एक क़ानून धारासभा में पेश था और उस पर चर्चा हो रही थी। मैं उस क़ानून के बारे में कुछ न जानता था। जलसे में किसी को इस मसविदे

की खबर न थी, जो कि भारतीयों के अधिकारों को छीनने के लिए तैयार किया था।

मैंने अब्दुल्ला सेठ से ज़िक्र किया। उन्होंने कहा—'इन बातों में हम क्या समझें? हमारे तो व्यापार पर अगर कोई आफत आवे तो खबर पड़ सकती है। देखिए आरेंज फ्री स्टेट में हमारे व्यापार की जड़ उखड़ गई। उसके लिए हमने कोशिश भी की। पर हम तो ठहरे अपंग। अख़बार पढ़ते हैं—पर अपने भाव राव को बातें ही समझ लेते हैं। क़ानून-क़ायदे की बातों का हमें क्या पता चले? हमारे आँख-कान जो कुछ हैं गोरे वकील हैं'।

'पर यहीं पैदा हुए और अंगरेज़ी पढ़े-लिखे इतने नौजवान हिन्दुस्तानी जो यहाँ हैं?' मैंने कहा।

अजी भाई साहब? अब्दुल्ला सेठ ने सिर पर हाथ मारते हुए कहा—'उनसे क्या उम्मीद की जाय? वे बेचारे इन बातों में क्या समझें? वे तो हमारे पास तक नहीं फटकते और सच पूछिए तो हम भी उन्हें नहीं पहचानते। वे हैं ईसाई इसलिए पादरियों के पंजे में। और पादरी लोग हैं गोरे, वे सरकार के तावे हैं।'

मेरी आँखें खुलीं। इस दल को अपनाना चाहिए। ईसाई-धर्म का क्या यही अर्थ? क्या ईसाई हो जाने से उनका नाता देश से टूट गया? और विदेशी हो गये?

पर मुझे तो देश वापस लौटना था, अतएव इन विचारों को मूर्त रूप न दिया। अब्दुल्ला सेठ से कहा—

'पर यदि यह बिल ज्यों का त्यों पास हो गया तो आपको बहुत भारी पड़ेगा। यह तो भारतवासियों के अस्तित्व को मिटा डालने का पहला कदम है इससे हमारा स्वाभिमान नष्ट होगा।'

'जो कुछ हो। इस फरेंचाइज़ (इस तरह अंगरेज़ी के कितने ही शब्द देशी भाषा में रूढ़ हो गये थे। 'मताधिकार' कहने से कोई नहीं समझता) का इतिहास सुन लीजिए। इस मामले में हमारी समझ काम नहीं देती। पर हमारे बड़े वकील मि० ऐस्कम्ब को तो आप जानते ही हैं। वे जबरदस्त लड़वैये हैं। उनकी तथा यहाँ के फुरजा के इन्जीनियर की खूब चख-चख चला करती है। मि० ऐस्कंब के धारासभा में जाने में यह लड़ाई बाधक हो रही थी। इसलिए उन्होंने हमें हमारी स्थिति का ज्ञान कराया। उनके कहने से हमने अपने नाम मताधिकार-पत्र में दर्ज करा लिए और अपने तमाम मत मि० ऐस्कंब को दिये। अब आप समझ जायंगे कि हम इस मताधिकार की कीमत आपके इतनी क्यों नहीं आँकते हैं? पर आप की बात अब हमारी समझ में आ रही है अच्छा तो, अब आप क्या सलाह देते हैं?

यह बात दूसरे मिहमान ग़ौर से सुन रहे थे। उनमें से एक ने कहा—'मैं आप से सच्ची बात कह दूँ? यदि आप इस जहाज़ से न जायँ और एकाध महीना यहाँ रह जायँ तो आप जिस तरह बतायें हम लड़ने को तैयार हैं।'

एक दूसरे ने कहा—'यह बात ठीक है। अबदुल्ला सेठ, आप गांधीजी को रोक लीजिए।'

अबदुल्ला सेठ थे उस्ताद आदमी। वे बोले—'अब इन्हें रोकने का अख़त्यार मुझे नहीं। अथवा जितना मुझे है उतना ही आपको भी है। पर आपकी बात है ठीक। हम सब मिल कर इन्हें रोक लें। पर ये तो बॅरिस्टर हैं। इनकी फीस का क्या होगा?

फीस की बात से मुझे दुःख हुआ। मैं बीच में बोला—

'अबदुल्ला सेठ, इसमें फीस क्या सवाल ? सार्वजनिक सेवा में फीस किस बात की ? यदि मैं रहूँ तो एक सेवक की हैसियत से रह सकता हूँ। इन सब भाइयों से मेरा पूरा परिचय नहीं है। पर यदि आप यह समझते हों कि ये सब लोग मिहनत करेंगे तो मैं एक महीना ठहर जाने के लिए तैयार हूँ। पर एक बात है। मुझे तो आप को कुछ देना-वेना नहीं पड़ेगा, पर ऐसे काम बिना रुपये-पैसे के नहीं चल सकते। हमें तार वगैरह देना पड़ेंगे—कुछ छपाना वगैरह भी पड़ेगा। इधर-उधर जाना-आना पड़ेगा। उसका किराया आदि लगेगा। मौका पड़ने पर यहाँ के वकीलों की भी सलाह लेनी पड़ेगी। मैं यहाँ के सब क़ानून-क़ायदों को अच्छी तरह नहीं जानता। क़ानून की पुस्तकें देखनी होंगी। फिर ऐसे काम अकेले हाथों नहीं हो सकते। कई लोगों के सहयोग की जरूरत होगी।'

बहुत सी आवाज़ आवाज सुनाई दीं—'खुदा की महर है। रुपये-पैसे की फिक्र न कीजिए। आदमी भी मिल जायंगे। आप सिर्फ ठहरना मंजूर कर लें। तो बस है।'

वह जलसा कार्यकारिणी समिति के रूप में परिणत हो गया। मैंने सुझाया कि खा-पी जल्दी फारिग हो कर हम लोग घर पहुंचें। मैंने मन में लड़ाई की रूप-रेखा बांधी। यह जान लिया कि मताधिकार कितने लोगों को है। मैंने भी एक मास ठहर जाने का निश्चय किया।

इस प्रकार ईश्वर ने दक्षिण अफ्रिका में मेरे स्थायी रूप से रहने की नींव डाली और आत्म-सम्मान के संग्राम का बीजारोपण हुआ।

---

(८७)

बस गया

१८९३ ईसवी में सेठ हाजी महम्मद हाजी दादा नेटाल की भारतीय जाति के अग्रगण्य नेता माने जाते थे। साम्पत्तिक स्थिति में सेठ अबदुल्ला हाजी आदम मुख्य थे; परन्तु वे तथा दूसरे लोग भी सार्वजनिक कामों में सेठ हाजी महम्मद को ही प्रथम स्थान देते थे। इसलिए उनकी अध्यक्षता में, अबदुल्ला सेठ के मकान में, एक सभा की गई। उसमें फ्रेंचाइज बिल का विरोध करने का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। स्वयंसेवकों की सूची बनी। इस सभा में नेटाल में जन्मे हिन्दुस्तानी, अर्थात् ईसाई नवयुवक भी बुलाये गये थे। मि० पॉल डरबन की अदालत के दुभाषिया थे। मि० सुबहान गार्डफ्रे मिशन स्कूल के हेडमास्टर थे। वे भी सभा में उपस्थित हुए थे। और उनके प्रभाव से ईसाई नवयुवक अच्छी संख्या में आये थे। इन सब लोगों ने स्वयंसेवकों में अपना नाम लिखाया। सभा में व्यापारी भी बहुतेरे थे। उनमें जानने योग्य नाम ये हैं। सेठ दाउद महम्मद, महम्मद कासम, कमरुद्दीन, सेठ आदमजी मियाँ खान, ए० कोलन्दवेल्लु पिल्ले, सी० लछीराम, रंगस्वामी पड़ियाची, आमद जीवा इत्यादि।

पारसी रुस्तमजी तो थे ही। कारकुन लोगों में पारसी माणेकजी, जोशी, नरसीराम, इत्यादि, दादा अब्दुल्ला की तथा दूसरी बड़ी दुकानों के कर्मचारी थे। सार्वजनिक काम में पड़ते हुए, इन लोगों को ज़रा आश्चर्य्य हुआ। इस तरह सार्वजनिक काम में निमंत्रित तथा सम्मिलित होने का उन्हें यह पहला अनुभव था। सिर आई विपत्ति के मुक़ाबले के लिए नीच-ऊँच, छोटे-बड़े, मालिक-नौकर, हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, गुजराती, मदरासी, सिन्धी, इत्यादि भेद-भाव जाते रहे। सब भारत की संतान और सेवक थे।

फ्रेंचाइज बिल दुबारा पढ़ा जा चुका था अथवा पढ़ा जाने वाला था। उस समय धारा-सभा में जो भाषण हुए, उनमें यह बात कही गई कि कानून इतना सख्त था, फिर भी हिन्दुस्तानियों की ओर से उसका कुछ विरोध न हुआ। वह भारतीय प्रजा की लापरवाही, और मताधिकार की अपात्रता का प्रमाण था।

मैंने सभा को सारी हक़ीकत समझा दी। पहला काम तो यह हुआ कि धारा सभा के अध्यक्ष को तार दिया जाय कि वे बिल पर आगे विचार स्थगित कर दें। ऐसा ही तार मुख्य प्रधान सर जान राबिन्सन को भी भेजा, तथा एक और तार दादा अबदुल्ला के मित्र के नाते मि० एस्कम्ब को गया। तार का जवाब मिला कि बिल की चर्चा दो दिन तक स्थगित रहेगी। इससे सब लोगों को खुशी हुई।

अब दरख्वास्त का मस्विदा तैयार हुआ। उसकी तीन प्रतियाँ भेजी जाने वाली थीं। अखबारों के लिए भी एक प्रति तैयार करनी थी। उस पर जितनी अधिक सहियाँ ली जा सकें लेनी थीं। यह सब काम एक रात में पूरा करना था। वे शिक्षित स्वयं सेवक

तथा दूसरे लोग लगभग सारी रात जगे। उनमें एक मि० आर्थर थे, जो बुड्ढे थे और जिनका खत अच्छा था। उन्होंने सुंदर हरफों में दरख्वास्त की नकल की। औरों ने उसकी और नकल की। एक बोलता जाता और पाँच लिखते जाते। इस तरह पाँच नकलें एक साथ हो गईं। व्यापारी स्वयंसेवक अपनी-अपनी गाड़ियां लेकर अथवा, अपने खर्चे से गाड़ियाँ किराया करके सहियाँ लेने दौड़ पड़े।

दरख्वास्त गई, अखबारों में छपी। उस पर अनुकूल टिप्पणियाँ निकलीं! धारा-सभा पर भी उसका असर हुआ। उसकी चर्चा भी खूब हुई। दरख्वास्त में जो दलीलें पेश की गईं थीं, उनपर आपत्तियाँ उठाई गईं। परन्तु खुद उठाने वालों को ही वे लचर मालूम हुईं! इधर बिल तो आखिर पास हो ही गया।

सब जानते थे कि यही हो कर रहेगा। पर इतने आन्दोलन से हिन्दुस्तानियों में नवीन जीवन आ गया। सब लोग इस बात को समझ गये कि हम सब का समाज एक है। अकेले व्यापारिक अधिकारों के लिए ही नहीं, बल्कि अपने क़ौमी अधिकारों के लिए भी, लड़ना सब का धर्म है।

इस समय लार्ड रिपन उपनिवेश-मंत्री थे। प्रस्ताव हुआ कि उन्हें, एक भारी दरख्वास्त लिखकर पेश की जाय। इस पर जितनी अधिक मिले सहियाँ ली जाँय। यह काम एक दिन में नहीं हो सकता था। स्वयंसेवक तैनात हुए और सब ने थोड़ा थोड़ा काम का बोझा उठा लिया।

दरख्वास्त तैयार करने में मैंने बड़ा परिश्रम किया। जितना साहित्य मेरे हाथ लगा सब पढ़ डाला। हिन्दुस्थान में हमें एक

तरह का मताधिकार है, इस सिद्धान्त की बात को तथा हिन्दुस्तानियों की आबादी बहुत थोड़ी है, इस व्यावहारिक दलील को मैंने अपना मध्यबिंदु बनाया।

दरख्वास्त पर दस हज़ार आदमियों के दस्तखत हुए एक सप्ताह में दरख्वास्त भेजने के लिए आवश्यक सहियाँ प्राप्त हो गई। इतने थोड़े समय में नेटाल में दस हजार दस्तख़त प्राप्त करने को पाठक ऐसा वैसा काम न समझें। सारे नेटाल में से दस्तखत प्राप्त करने थे। लोग इस काम से अपरिचित थे। इधर यह निश्चय किया गया था, कि तब तक किसी की सही न ली जाय, जब तक कि वे दरख्वास्त का आशय न समझ लें। इसलिए ख़ास तौर पर स्वयंसेवकों को भेजने से ही सहियाँ मिल सकती थीं। गाँव दूर दूर थे। ऐसी अवस्था में ऐसे काम उसी हालत में जल्दी हो सकते हैं, जब, बहुतेरे काम करने वाले, निश्चय पूर्वक काम में जुट पड़ें। ऐसा ही हुआ भी। सब ने उत्साह पूर्वक काम किया। इनमें से सेठ दाउद महम्मद, पारसी रुस्तमजी, आदमजी मियांखान, और आमद जीवाजी की मूर्तियाँ आज़ भी मेरी आँखों के सामने आ जाती हैं। वे बहुतेरों के दस्तखत लाये थे। दाऊद सेठ दिन भर अपनी गाड़ी लिये लिये घूमते। किसी ने जेब-खर्च तक न माँगा।

दादा अबदुल्ला का मकान तो धर्मशाला अथवा सार्वजनिक कार्य्यालय जैसा हो गया था। शिक्षित भाई तो मेरे पास डटे ही रहते। उनका तथा दूसरे कर्मचारियों का खाना पीना दादा अबदुल्ला के ही यहाँ होता। इस तरह सब लोगों ने काफी खर्चा उठाया।

दरख्वास्त गई, उसकी एक हजार प्रतियाँ छपवाई गई थीं। उस दरख्वास्त ने हिन्दुस्तान के देश-सेवकों को नेटाल का पहली बार परिचय कराया। जितने अखबारों का तथा देश के नेताओं का नाम-ठाम मैं जानता था, सबको इस दरख्वास्त की नकलें भेजी गई थीं।

'टाइम्स आफ इन्डिया' ने उस पर अग्रलेख लिखा और भारतीयों की मांग का खासा समर्थन किया। विलायत में भी प्रार्थना-पत्र की नकलें तमाम दल के नेताओं को भेजी गई थीं। वहाँ लन्दन 'टाइम्स' ने उसकी पुष्टि की। इस कारण बिल के मंजूर न होने की आशा होने लगी।

अब ऐसी हालत हो गई कि मैं नेटाल न छोड़ सकता था। लोगों ने मुझे चारों ओर से आ घेरा और बड़ा आग्रह करने लगे कि अब मैं नेटाल में ही स्थायी-रूप से रह जाऊँ। मैंने अपनी कठिनाइयाँ उन पर प्रकट कीं। अपने मन में मैंने यह निश्चय कर लिया था कि मैं यहाँ सर्व-साधारण के खर्च पर न रहूँगा।

अपना अलग इन्तज़ाम करने की आवश्यकता मुझे दिखाई दी। घर भी अच्छा और अच्छे मुहल्ले में होना चाहिए—इस समय मेरा यही मत था। मेरा ख्याल था कि दूसरे बॅरिस्टरों की तरह ठाठ-बाट से रहने में अपने समाज का मान-गौरव बढ़ेगा। मैंने देखा कि इस तरह तो मैं ३०० पौंड साल के बिना काम न चला सकूंगा। मैंने निश्चय किया कि यदि यहाँ के लोग इतनी आमदनी के लायक़ वकालत का इन्तजाम करा देने का जिम्मा लें तो मैं रह जाऊंगा।

'पर इतनी रकम तो यदि आप सार्वजनिक कामों के लिए लें तो भी कोई बात नहीं, और इतनी रकम जुटाना हमारे लिए कोई

कठिन बात भी नहीं है। वकालत में जो कुछ मिल जाय वह आपका।' साथियों ने कहा।

'इस तरह मैं आर्थिक सहायता नहीं ले सकता। अपने सार्वजनिक काम का मैं इतना मूल्य नहीं समझता। इसमें मुझे वकालत का आडम्बर थोड़े ही रचना है—मुझे तो लोगों से काम लेना है। इसका मावज़ा मैं द्रव्य के रूप में कैसे ले सकता हूँ? फिर आप लोगों से भी तो मुझे सार्वजनिक कामों के लिए धन लेना है। यदि मैं अपने लिए रुपया लेने लगूँ तो आपसे बड़ी बड़ी रकमें लेते हुए मुझे संकोच होगा, और अपनी गाड़ी रुक जायगी। लोगों से तो मैं हर साल ३०० पौंड से अधिक ही खर्च करा दूँगा।' मैंने उत्तर दिया।

'पर हम तो आपको अब अच्छी तरह जान गये हैं। आप अपने लिए थोड़े ही चाहते हैं? आपके रहने का खर्चा तो हमी लोगों को न देना चाहिए?'

'यह तो आपका स्नेह और तात्कालिक उत्साह आपसे कहलवा रहा है। यह हम कैसे मान लें कि यही स्नेह और यही उत्साह सदा कायम रह सकेगा? मुझे तो आपको कभी कड़वी बातें भी कहना पड़ेंगी। उस समय भी मैं आपके स्नेह का पात्र रह सकूँगा या नहीं, सो ईश्वर जाने। पर असली बात यह कि सार्वजनिक काम के लिए रुपया-पैसा मैं न लूँ। आप लोग सिर्फ अपने मामले मुक़दमे देने के लिए वचन दें तो मेरे लिए काफी है। यह भी शायद आपको भारी मालूम होगा। मैं कोई गोरा बैरिस्टर नहीं हूँ। यह भी पता नहीं कि अदालत मुझे दाद देगी या नहीं। यह भी नहीं कह सकता कि पैरवी कितनी अच्छी

कर सकूँगा। इसलिए मुझे पहले से महनताना देने में भी आपको जोखिम उठाना पड़ेगी। इतने पर भी यदि आप मुझे महनताना दें तो यह तो मेरी सेवाओं के बदौलत ही न होगा?'

इस चर्चा का परिणाम यह आया कि कोई २० व्यापारियों ने मिलकर मेरे एक वर्ष की आय का प्रबन्ध कर दिया। इसके अलावा दादा अबदुल्ला जो विदाई के समय मुझे रकम भेट करने वाले थे उसके बदले उन्होंने मुझे आवश्यक फर्नीचर ला दिया और मैं नेटाल में रह गया।

---

(१८)

वर्ण-द्वेष

अदालतों का चिह्न है तराजू। उसे पकड़ रखने वाली एक निष्पक्ष, अंधी परन्तु समझदार बुढ़िया है। उसे विधाता ने अंधा बनाया है कि जिससे वह मुँह देख कर तिलक न लगावे; बल्कि योग्यता को देख कर लगावे। इसके विपरीत, नेटाल की अदालत से तो मुँह देख कर तिलक लगवाने के लिए वहाँ की वकील-सभा ने कमर कसी थी। अदालत ने इस अवसर पर अपने चिह्न की लाज रखली।

मुझे वकालत की सनद लेना थी। मेरे पास बंबई हाई कोर्ट का प्रमाण-पत्र था। विलायत का प्रमाण-पत्र बंबई अदालत के दफ्तर में था। वकालत की मंजूरी की दरख्वास्त के साथ नेकचलनी के दो प्रमाण-पत्रों की आवश्यकता समझी जाती थी। मैंने सोचा कि यदि ये प्रमाण-पत्र गोरे लोगों के हों तो ठीक होगा। इसलिए अबदुल्ला सेठ की मार्फत मेरे सम्पर्क में आये दो प्रसिद्ध गोरे व्यापारियों के प्रमाण-पत्र लिये। दरख्वास्त किसी वकील की मार्फत दी जानी चाहिए और मामूली कायदा यह था कि ऐसी दरख्वास्त अटर्नी-जनरल बिना फीस के पेश करता है। मि० ए-

स्कम्ब अटर्नी-जनरल थे। हम जानते ही हैं कि अबदुल्ला सेठ के वे वकील थे, मैं उनसे मिला और उन्होंने खुशी से मेरी दरख्वास्त पेश करना मंजूर किया।

इतने ही में बिला खोज-ख़बर एकाएक वकील सभा की तरफ से मुझे नोटिस मिला। नोटिस में मेरे वकालत करने के ख़िलाफ विरोध की आवाज़ उठाई गई थी। इसमें एक कारण यह बताया गया था कि मैंने वकालत की दरख्वास्त के साथ असल प्रमाण-पत्र की नकल नहीं पेश की थी। परन्तु विरोध की असली बात यह थी कि जिस समय अदालत में वकीलों को दाखिल करने के संबंध में नियम बने, उस समय किसी ने भी यह ख़याल न किया होगा कि वकालत के लिए कोई काला या पीला आदमी आ कर दरख्वास्त देगा। नेटाल गोरों के साहस का फल है और इसलिए यहाँ गोरों की ही प्रधानता रहनी चाहिए। यदि काले वकील भी अदालत में आने लगेंगे तो धीरे धीरे गोरों की प्रधानता चली जायगी और उनकी रक्षा की दीवारें टूट जायंगी।

इस विरोध के समर्थन के लिए वक़ील-सभा ने एक प्रख्यात वकील को अपनी तरफ से खड़ा किया था। इस वकील का भी संबंध दादा अबदुल्ला से था। उनकी मार्फत उन्होंने मुझे बुलाया। उन्होंने शुद्ध भाव से मुझ से बात-चीत की। मेरा इतिहास पूछा। मैंने सब कह सुनाया। तब वे बोले—

'मुझे आपके खिलाफ कुछ नहीं कहना। मुझे यह भय था कि आप कहीं यहाँ पैदा हुए कोई धूर्त होंगे। फिर आपके पास असली प्रमाण-पत्र नहीं है। इससे मेरे शक की पुष्टि मिल गई। ऐसे लोग भी हैं जो दूसरे के प्रमाण-पत्रों को इस्तैमाल कर लेते हैं।

आपने जो गोरों के प्रमाण-पत्र पेश किये हैं उनका असर मेरे दिल पर न हुआ। वे आपको क्या पहचानें ? आपके साथ उनका परिचय ही कितना ?

'पर यहाँ तो मेरे लिए सभी नये हैं। अबदुल्ला सेठ से भी मेरी पहचान यहीं हुई।' मैं बीच में बोला।

'हाँ, पर आप कहते हैं कि वे आपके गाँव के हैं। और आपके पिता वहाँ के दीवान थे, अतएव आपके परिवार के लोगों को तो वे पहचानते ही हैं न ? यदि उनका लिखित बयान पेश कर दें तो मुझे भी उज्र न होगा। मैं वकील-सभा को लिख भेजूँगा कि आपका विरोध मुझ से न होगा।'

मुझे गुस्सा आया, पर मैंने रोका। मुझे लगा—'यदि मैंने अबदुल्ला सेठ का ही प्रमाण-पत्र पेश किया होता, तो उसकी कोई परवा न करता और गोरों की जान-पहचान माँगी जाती। फिर मेरे जन्म के साथ वकालत-संबंधी मेरी योग्यता का क्या सम्बन्ध हो सकता है ? यदि मैं ख़राब अथवा ग़रीब मा-बाप का पुत्र होऊँ तो यह बात मेरी लियाक़त की जाँच में मेरे ख़िलाफ किस लिए कही जाय ? पर मैंने इन सब विचारों को रोक कर उत्तर दिया—

'हालाँ कि मैं यह नहीं मानता कि इन सब बातों के पूछने का अधिकार वकील-सभा को है; फिर भी जैसा आप चाहते हैं, हलफिया बयान मैं पेश करा देने को तैयार हूँ।'

अबदुल्ला सेठ का हलफिया बयान लिखा और वह वकील को दिया। उन्होंने सन्तोष प्रकट किया। पर वकील-सभा को सन्तोष न हुआ। उसने अपना विरोध अदालत में भी उठाया। अदालत

ने मि० एस्कंब का जवाब सुने बिना ही सभा का विरोध अस्वीकार कर दिया। प्रधान न्यायाधीश ने कहा—

'इस दलील में कुछ जान नहीं कि प्रार्थी ने असली प्रमाण-पत्र नहीं पेश किया। यदि उसने झूठी सौगन्ध खाई होगी तो उस-पर अदालत में झूठी कसम खाने का मुकदमा चल सकेगा और उसका नाम वकीलों की सूची से हटा दिया जायगा। अदालत की धाराओं में काले-गोरे का भेद-भाव नहीं है। हमें मि० गांधी को वकालत करने से रोकने का अधिकार नहीं। उनकी दरख्वास्त मंजूर की जाती है। मि० गांधी आप आकर शपथ ले सकते हैं।'

मैं उठा। रजिस्ट्रार के पास जा कर शपथ ली। लेते ही प्रधान न्यायाधीश ने कहा—'अब आप को अपनी पगड़ी उतार देनी चाहिए। वकील की हैसियत से, वकील की पोशाक के संबंध में अदालत का जो नियम है, उसका पालन आपको करना होगा।'

मैंने अपनी मर्यादा समझ ली। डरबन के मॅजिस्ट्रेट की अदालत में पगड़ी पहने रहने की बात पर जो मैं अड़ा रहा था सो यहाँ न रह सका। पगड़ी उतारी, उतारने के विरोध में दलील तो थी। पर मुझे तो अब बड़ी लड़ाइयाँ लड़नी थीं। पगड़ी पहन रखने की हठ में मेरी युद्ध-कला की समाप्ति न होती थी। उलटा इससे उसमें बट्टा लग जाता।

अबदुल्ला सेठ तथा दूसरे मित्रों को मेरी यह नरमी (या कमजोरी?) अच्छी न लगी। वे चाहते थे कि वकील की हैसियत से भी मुझे पगड़ी पहन रखने की टेक कायम रखना थी। मैंने उन्हें समझाने की कोशिश की। 'जैसा देश वैसा वेश' कहावत का रहस्य समझाया। हिन्दुस्तान में यदि पगड़ी उतारने पर वहाँ

के गोरे अधिकारी अथवा जज मजबूर करें तो उसका विरोध किया जा सकता है। नेटाल जैसे देश में, और फिर अदालत के एक सदस्य की हैसियत से, मुझे अदालत के रिवाज का विरोध शोभा नहीं देता।'

यह तथा दूसरी दलीलें देकर मैंने मित्रों को कुछ शांत तो किया; पर मैं नहीं समझता कि एक ही बात को भिन्न परिस्थिति में भिन्न रीति से देखने के औचित्य को मैं, इस समय, उनके हृदय पर इस तरह अंकित कर सका जिससे उन्हें सन्तोष हो। परन्तु मेरे जीवन में आग्रह और अनाग्रह दोनों हमेशा साथ साथ चलते आये हैं। पीछे चल कर मैंने कई बार यह अनुभव किया है कि सत्याग्रह में यह बात अनिवार्य है। अपनी इस समझौता-वृत्ति के कारण मुझे कई बार अपनी जान जोखिम में डालना पड़ा है और मित्रों के असन्तोष को शिरोधार्य करना पड़ा है। पर सत्य तो वज्र की तरह कठोर और कोमल की तरह कोमल है।

वकील-सभा के विरोध ने दक्षिण आफ्रिका में मेरे लिए एक और विज्ञापन का काम कर दिया। कितने ही अखबारों ने मेरे खिलाफ उठाये गये विरोध की निन्दा की और वकीलों पर ईर्ष्या का इल्जाम लगाया। इस प्रसिद्धि से मेरा काम कुछ अंश में सरल हो गया।

---

(१६)

नेटाल इंडियन कांग्रेस

वकालत करना मेरे नजदीक गौण बात थी और हमेशा गौण ही रही। नेटाल में रहना सार्थक करने के लिए मुझे सार्वजनिक काम में ही तन्मय हो जाना जरूरी था। भारतीय मताधिकार प्रतिरोधक क़ानून के विरोध में आवाज उठाकर—महज़ दरख्वास्त भेज कर चुप न बैठा जा सकता था। उसका आन्दोलन होते रहने ही से उपनिवेशों के मंत्री पर असर हो सकता था। इसके लिए एक संस्था स्थापित करने की आवश्यकता दिखाई दी। अबदुल्ला सेठ के साथ मशवरा किया। दूसरे साथियों से भी मिला और हम लोगों ने एक सार्वजनिक संस्था खड़ी करने का निश्चय किया।

उसका नाम रखने में कुछ धर्म-संकट था। यह संस्था किसी पक्ष का पक्षपात नहीं करना चाहती थी। महासभा (कांग्रेस) का नाम कंजरवेटिव (प्राचीन) पक्ष में अरुचिकर था, यह मुझे मालूम था। परन्तु महासभा तो भारत का प्राण थी। उसकी शक्ति अवश्य बढ़नी चाहिए। उस नाम को छुपाने में अथवा धारण करने में संकोच रखने में कायरता की गंध आती थी। इसलिए

मैंने अपनी दलीलें पेश करके संस्था का नाम 'कांग्रेस' रखने का प्रस्ताव किया। और मई १८९४ को 'नेटाल इन्डियन कांग्रेस' का जन्म हुआ।

दादा अबदुल्ला का बैठकखाना भर गया था। लोगों ने उत्साह के साथ इस संस्था का स्वागत किया। संगठन बहुत सादा रक्खा था। चंदा भारी रक्खा था। जो हर मास कम से कम पांच शिलिंग देता वही सभ्य हो सकता था। धनिक लोगों से राजी खुशी जितना अधिक लिया जा सके लें यह तय हुआ। अबदुल्ला सेठ से हर मास दो पौण्ड लिखाये। दूसरे दो सज्जनों से भी इतना ही लिखाया। मैंने खुद भी सोचा कि मैं इसमें संकोच कैसे करूँ? इसलिए मैंने भी प्रति मास एक पौंड लिखाया यह रकम मेरे लिए कम न थी, पर मैंने सोचा कि यदि मेरा खर्च चलने वाला ही होगा तो फिर प्रति मास एक पौंड भारी न पड़ेगा ईश्वर ने मेरी नाव चलाई। एक पौंड वालों की संख्या खासी हो गई। दस शिलिंग वाले उससे अधिक हुए। इसके अलावा बिना सभ्य हुए भेट के तौर पर जो सज्जन जो देवें सो अलग।

अनुभव ने बताया कि उगाही किये बिना कोई चंदा नहीं दे जाता। डरबन के बाहर वालों के यहाँ बार बार जाना असंभव था। 'आरम्भ शूरता' दोष का परिचय हुआ। डरबन में भी बहुत चक्कर खाने पड़ते तब कहीं जाकर चन्दा मिलता। मैं मंत्री था। रुपया वसूल करने का जिम्मा मुझ पर था। मुझे अपने कारकुन को सारा दिन चंदा-वसूली में ही लगा रखने की नौबत आ गई। वह बेचारा भी उकता उठा। मैंने सोचा कि मासिक नहीं, वार्षिक चन्दा होना चाहिए और वह भी सब को पेशगी दे देना चाहिए।

सभा की गई। सबने इस बात को पसंद किया और तय हुआ कि कम से कम तीन पौंड वार्षिक चन्दा लिया जाय। इससे वसूली का काम आसान हो गया।

आरंभ में ही मैंने यह सीख लिया था कि सार्वजनिक काम को कभी कर्ज लेकर न चलाना चाहिए। और बातों में भले ही लोगों का विश्वास कर लें पर पैसे की बात में नहीं किया जा सकता। मैंने देख लिया था कि वादा कर चुकने पर भी, देने के धर्म का पालन कहीं भी नियमित रूप से नहीं होता। नेटाल के हिन्दुस्तानी इसके अपवाद न थे। इस कारण 'नेटाल इंडियन काग्रेस' ने कभी कर्ज करके कोई काम नहीं किया।

सभ्य बनाने में साथियों ने असीम उत्साह प्रकट किया था। उसमें बड़ी दिलचस्पी हो गई थी। उसमें अनमोल अनुभव मिलता था। बहुतेरे लोग खुशी-खुशी नाम लिखवा लेते और चंदा दे देते। हाँ, दूर-दूर के गांवों में जरा मुश्किल पेश आती। लोग सार्वजनिक काम की महिमा नहीं समझते थे। कितनी ही जगह तो लोग अपने यहाँ आने का न्यौता भेजते, अग्रसर व्यापारी के यहाँ ठहराते। परन्तु इस भ्रमण में हमें एक जगह शुरूआत में ही दिक्कत पेश हुई। वहाँ से छः पौंड मिलना चाहिए थे; पर वे तीन पौंड से आगे न बढते थे। यदि उनसे इतनी ही रकम लेलें तो औरों से इससे अधिक न मिलती। ठहराये हम उन्हीं के यहाँ गये थे। हम सब भूखे थे। पर जब तक चंदा न मिले तब तक भोजन कैसे करते ? खूब मिन्नत—खुशामद की। पर वे टस से मस न हुए। गांव के दूसरे व्यापारियों ने भी उन्हें समझाया। सारी रात इसी खींचातानी में गई। गुस्सा तो कई साथियों को आया; पर किसी

ने अपना सौजन्य न छोड़ा। ठेठ सुबह जा कर वे पसीजे और छः पौंड दिये। फिर हमलोगों ने खाना खाया। यह घटना टोंगाटा की हैं। इसका असर उत्तर किनारे पर ठेठ स्टेंगर तक तथा अंदर ठेठ चार्ल्सटाउन तक पड़ा। चन्दा वसूली का हमारा काम बड़ा सरल हो गया।

परन्तु केवल इतना ही प्रयोजन न था कि चन्दा एकत्र किया जाय। आवश्यकता से अधिक रुपया जमा न करने का तत्व भी मैंने मान लिया था।

सभा प्रति सप्ताह अथवा प्रति मास आवश्यकता के अनुसार होती। उसमें पिछली सभा की कार्रवाई पढी जाती और अनेक बातों पर चर्चा होती। चर्चा करने की तथा थोड़े में मतलब की बात कहने की आदत लोगों को न थी। लोग खड़े हो कर बोलने में सकुचाते। मैंने सभा के नियम उन्हें समझाये और लोगों ने उन्हें माना। इससे होने वाला लाभ उन्होंने देखा और ज़िन्हे सभाओं में बोलने का रफ्त न था वे सार्वजनिक कामों के लिए बोलने और विचारने लगे।

सार्वजनिक कामों में छोटी छोटी बातों में बहुत सा खर्च हो जाया करता है, यह मैं जानता था। शुरू में तो रसीदबुक तक न छपाने का निश्चय रक्खा था। मेरे दफ्तर में साइक्लोस्टाइल रक्खा था, उस पर रसीदें छपालीं। रिपोर्ट भी इसी तरह छपता। जब रुपया पैसा काफी आ गया, सभ्यों की संख्या बढ गई, तभी रसीदें इत्यादि छपाई गई। ऐसी किफायतशारी हर संस्था में आवश्यक है। फिर भी, मैं जानता हूँ कि हमेशा ऐसा नहीं होता है। इसलिए इस छोटीसी उगती हुई संस्था के संगोपन-काल का इतना वर्णन करना

मैंने ठीक समझा लोग रसीद लेने की परवा न करते; फिर भी उन्हें आग्रह-पूर्वक रसीद दी जाती। इस कारण हिसाब शुरू से ही पाई-पाई का साफ रहा। और मैं मानता हूँ कि आज भी नेटाल कांग्रेस के दफ्तर में १८९४ के वही खाते व्योरेवार मिल जायंगे। किसी भी संस्था का सविस्तर हिसाब उसकी नाक है। उसके विना वह संस्था अन्त को जा कर गंदी और प्रतिष्ठा हीन हो जाती है। शुद्ध हिसाव के विना शुद्ध सत्य की रखवाली असंभव है।

कांग्रेस का दूसरा अंग था, वहाँ जन्मे और शिक्षा पाये भारतीयों की सेवा करना। उनके लिए 'कालोनियल बॉर्न' इंडियन एजुकेशनल एसोसियेशन, की स्थापना की। उसमें मुख्यतः ये नवयुवक ही सभ्य थे। उनके लिए चंदा वहुत थोड़ा रक्खा गया था। इस सभा की बदौलत उनकी आवश्यकतायें मालूम होतीं, उनकी विचार-शक्ति बढती, व्यापारियों के साथ उनका संबंध बँधता, और खुद उन्हें भी सेवा का स्थान मिलता। यह संस्था एक वाद-विवाद समिति जैसी थी। उसकी नियम-पूर्वक बैठकें होतीं; भिन्न-भिन्न विषयों पर भाषण होते, निवंध पढे जाते। उसके सिलसिले में एक छोटासा पुस्तकालय भी स्थापित हुआ।

कांग्रेस का तीसरा अंग था बाहरी आन्दोलन। इसके द्वारा दक्षिण आफ्रिका के अंग्रेजों में तथा बाहर इंग्लैंड में और हिन्दुस्तान में वास्तविक स्थिति प्रकट की जाती थी। इस उद्देश में मैंने दो पुस्तिकायें लिखीं। पहली पुस्तिका थी—'दक्षिण आफ्रिका स्थित प्रत्येक अंग्रेज से अपील' उसमें नेटाल वाले भारतीयों की सामान्य स्थिति का दिग्दर्शन सप्रमाण कराया गया था। दूसरी थी—'भारतीय मताधिकार—एक अपील'। इसमें भारतीय मता-

धिकार का इतिहास अंकों और प्रमाणों सहित दिया गया था। इन दोनों पुस्तिकाओं को बड़े परिश्रम और अध्ययन के बाद मैंने लिखा था। उसका परिणाम भी वैसा ही निकला। पुस्तिकाओं का काफी प्रचार किया गया। इस हलचल के फल-स्वरूप दक्षिण आफ्रिका में भारतीयों के मित्र उत्पन्न हुए। इग्लैंड में तथा हिन्दुस्तान में सब दलों की ओर से मदद मिली और आगे कार्य करने की नीति और मार्ग निश्चित हुआ।

बालासुन्दरम्

जैसी जिसकी भावना होती है वैसा ही उसको फल मिला करता है। अपने पर यह नियम घटा हुआ मैंने अनेक बार देखा है। लोगों की, अर्थात् गरीबों की सेवा करने की मेरी प्रबल इच्छा ने गरीबों के साथ मेरा संबंध अनायास बांध दिया है।

'नेटाल इंडियन कांग्रेस' में यद्यपि उपनिवेशों में जन्मे भारतीयों ने प्रवेश किया था, कारकुन लोग शरीक हुए थे, फिर भी उसमें अभी मजूर, गिरमिटिया लोग सम्मिलित न हुए थे। कांग्रेस अभी उनकी न हुई थी। वे चंदा दे कर, उसके सदस्य हो कर, उसे अपना न समझते थे। कांग्रेस के प्रति उनका भाव पैदा तभी हो सकता था जब कांग्रेस उनकी सेवा करे। ऐसा अवसर अपने आप आ गया और सो भी ऐसे समय जब कि खुद अथवा कांग्रेस उसके लिए मुश्किल से तैयार थे। क्यों कि अभी मुझे वकालत शुरू किये दो-चार महीने भी मुश्किल से हुए होंगे। कांग्रेस भी बाल्यावस्था में ही थी। इन्हीं दिनों एक दिन एक मदरासी हाथ में फेंटा रख कर रोता हुआ मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। कपड़े उसके फटे पुराने थे। शरीर उसका कांप रहा था।

सामने के दो दाँत टूटे हुए थे और मुँह से खून वह रहा था। उसके मालिक ने उसे वेदर्दी से पीटा था। मैंने अपने तामिल जानने वाले मुन्शी से उसकी हालत पूछवाई। वालासुन्दरम् एक प्रतिष्ठित गोरे के यहाँ मजूरी करता था। मालिक किसी वात पर उस पर विगड़ पड़ा, आग ववूला होकर उसे वुरी तरह उसने पीट डाला जिससे वालासुन्दरम् के दो दाँत टूट गये।

मैंने उसे डाक्टर के यहाँ भेजा। उस समय गोरे डाक्टर ही वहाँ थे। मुझे चोट-संवन्धी प्रमाण-पत्र की जरूरत थी। उसे लेकर मैं वालासुन्दरम् को अदालत में ले गया। वालासुन्दरम् ने अपना वयान लिखवाया पढ़कर मजिस्ट्रेट मालिक पर वड़ा गुस्सा हुआ। उसने मालिक को तलव करने का हुक्म छोड़ा।

मेरी इच्छा यह न थी कि मालिक को सजा हो जाय। मुझे तो सिर्फ वालासुन्दरम् को उसकी नौकरी से छुड़वाना था। मैंने गिरमिट-सम्वन्धी कानून को अच्छी तरह देख लिया। मामूली नौकर यदि नौकरी छोड़ दें तो मालिक उसपर दीवानी दावा कर सकता है, फौजदारी में नहीं ले जा सकता। गिरमट और मामूली नौकरी में यों वड़ा फर्क था। पर मुख्य यह था कि ये गिरमिटिया मालिक को छोड़ दे तो वह फौजदारी जुर्म समझा जाता था और इसलिए उसे क़ैद भोगनी पड़ती। इसी कारण सर विलियम विल्सन हण्टर ने इस हालत को 'गुलामी' जेल वताया है। गुलाम की तरह गिरमिटिया मालिक की सम्पत्ति समझी जाती। वालासुन्दरम् को मालिक के चंगुल से छुड़ाने के दो ही उपाय थे—या तो गिरमिटियों का अफ़सर, जो कानून के अनुसार उनका रक्षक समझा जाता था, गिरमिट रद्द कर दे या दूसरे के नाम पर चढ़ा अथवा

मालिक खुद उसे छोड़ने के लिए तैयार हो जाय। मैं मालिक से मिला। उससे कहा—'मैं आपको सज़ा कराना नहीं चाहता। आप जानते हैं कि हमें चोट सख़्त पहुँची है। यदि आप उसकी गिरमिट दूसरे के नाम चढ़ाने को तैयार होते हों तो मुझे सन्तोष हो जायगा।' मालिक तो यही चाहता था। फिर मैं उस रक्षक अफ़सर से मिला। उसने भी रजामंदी तो जाहिर की, पर एक शर्त पर कि मैं बालासुन्दरम् के लिए नया मालिक ढूँढ़ दूँ।

अब मुझे नया अँगरेज मालिक खोज़ना था। भारतीय गिरमिटियों को नहीं रख सकते थे। अभी थोड़े ही अँगरेजों से मेरी जान-पहचान हो पाई थी। एक से जाकर मिला। उसने मुझ पर महरबानी करके बालासुन्दरम् को रखना स्वीकार कर लिया। मैंने कृतज्ञता प्रदर्शित की। मजिस्ट्रेट ने मालिक को अपराधी करार दिया और यह बात नोट कर ली कि मुजरिम ने बालासुन्दरम् की गिरमिट दूसरे के नाम पर चढ़ा देना स्वीकार किया है।

बालासुन्दरम् के मामले की बात गिरमिटियों में चारों ओर फैल गई और मैं उनके बन्धु के नाम से प्रसिद्ध हो गया। मुझे यह सम्बन्ध प्रिय हुआ। मेरे दफ्तर में गिरमिटियों की बाढ़ आने लगी और मुझे उनके सुख-दुःख जानने की बड़ी सुविधा मिल गई।

बालासुन्दरम् के मामले की ध्वनि ठेठ मदरास तक जा पहुँची। उस इलाके के जिन जिन जगहों से लोग नेटाल की गिरमिट में जाते उन्हें गिरमिटियों ने इस बात का परिचय कराया। मामला कोई इतना महत्वपूर्ण न था; फिर भी लोगों को यह बात नई मालूम हुई कि उनके लिए कोई सार्वजनिक कार्यकर्त्ता तैयार

हो गया है। इस बात से उन्हें तसल्ली और उत्साह मिला।

मैंने लिखा है कि बालासुन्दरम् अपना फेंटा उतार कर उसे अपने हाथ में रखकर मेरे सामने आया था। इस दृश्य में बड़ा ही करुण-रस भरा हुआ है; यह हमें नीचा दिखाने वाली बात है। मेरी पगड़ी उतारने की घटना पाठकों को मालूम ही है। कोई भी गिरमिटिया तथा दूसरा नवागत हिन्दुस्तानी किसी गोरे के यहाँ जाता तो उसके सम्मान के लिए पगड़ी उतार लेता—फिर वह टोपी हो, या पगड़ी हो, या फेंटा हो। दोनों हाथ से सलाम करना काफी न था। बालासुन्दरम् ने सोचा कि मेरे सामने भी इसी तरह जाया जाता होगा। बालासुन्दरम् का यह दृश्य मेरे लिए पहला अनुभव था। मैं शरमिंदा हुआ। मैंने बालासुन्दरम् से कहा 'पहले फेंटा सिर पर बांध लो।' बड़े संकोच से उसने फेंटा बाँधा; पर मैंने देखा कि इसमें उसे बड़ी खुशी हुई। मैं अब तक यह गुत्थी न सुलझा सका कि दूसरों को नीचे झुकाकर लोग उसमें अपना सम्मान किस तरह मान सकते होंगे।

———

(२१)

तीन पौंड का कर

बालासुन्दरम् की घटना ने गिरमिटियों के साथ मेरा सम्बन्ध जोड़ दिया। परन्तु उनकी स्थिति का गहरा अध्ययन तो मुझे उनपर कर बैठाने की जो हल-चल चली उसके फल-स्वरूप करना पड़ा।

१८९४ में नेटाल सरकार ने गिरमिटिया हिन्दुस्तानियों पर प्रतिवर्ष २५ पौंड अर्थात् ३७५) का कर वैठाने का बिल तैयार किया। इस मसविदे को पढ़कर मैं तो दिग्मूढ़ ही हो गया। मैंने उसे स्थानिक कांग्रेस में पेश किया; कांग्रेस ने उसके लिए आवश्यक हल-चल करने का प्रस्ताव स्वीकार किया।

इस कर का ब्योरा थोड़ा सुन लें।

१८६० ईसवी के लगभग, जब कि नेटाल के गोरों ने देखा कि यहाँ ईख की खेती अच्छी हो सकती है, उन्होंने मजूरों की खोज करना शुरू की। यदि मजदूर न मिलें तो न गन्ने की फसल हो सकती थी, न गुड़-शक्कर बन सकता था। नेटाल के हवशी इस काम को न कर सकते थे। इसलिए नेटालवासी गोरों ने भारत-सरकार से लिखा पढ़ी करके हिन्दुस्तानी मजूरों को नेटाल

ले जाने की इजाजत हासिल कर ली। उन्हें लालच दिया गया था कि तुम्हें पाँच साल तो बँधकर हमारे यहाँ काम करना पड़ेगा—फिर आजाद हो। शोक से नेटाल में रहो। उन्हें जमीन का मालिकी-हक भी पूरा रक्खा गया था। उस समय गोरों की यह इच्छा थी कि हिन्दुस्तानी मजदूर पांच साल की गिरमिट पूरी करने के बाद खुशी से जमीन जोते और अपनी मिहनत का लाभ नेटाल को दे।

भारतीय कुलियों ने यह लाभ आशा से अधिक दिया। तरह तरह की साग-तरकारियाँ लगाईं। हिन्दुस्तान की कितनी ही मीठी तरकारियाँ बोईं। जो साग-तरकारी पहले से मिलती थीं उन्हें सस्ता कर दिया। हिन्दुस्तान से आम लाकर लगाया। पर इसके साथ ही वे व्यापार भी करने लगे। घर बनाने के लिए ज़मीनें खरीदीं और मजूर से अच्छे जमींदार और मालिक बनने लगे। मजूर की दशा से मालिक की दशा को पहुँचने वाले लोगों के पीछे स्वतंत्र व्यापारी भी वहाँ आये। स्वर्गीय सेठ अबुबकर आमद सबसे पहले व्यापारी थे जो वहाँ गये। उन्होंने अपना कारबार खूब जमाया।

गोरे व्यापारी चौंके। जब उन्होंने भारतीय कुलियों को बुलाया और उनका स्वागत किया तब उन्हें उनकी व्यापार-क्षमता का अंदाज न हुआ था। उनके किसान बनकर आजादी के साथ रहने में तो उस समय तक उन्हें आपत्ति न थी। परन्तु व्यापार में उनकी प्रतिस्पर्द्धा उन्हें नागवार हो गई।

यह है हिन्दुस्तानियों के खिलाफ आवाज़ उठाने का मूल कारण।

अब इसमें और बातें भी शामिल हो गईं। हमारी भिन्न और पृथक् रहन-सहन, हमारी सादगी, हमें थोड़े मुनाफे से होने वाला सन्तोष, आरोग्य के नियमों के विषय में हमारी लापरवाही, घर-आंगन को साफ रखने का आलस्य, उसे साफ-सुथरा रखने में कंजूसी, हमारे जुदे जुदे धर्म—ये सब बातें इस विरोध को बढ़ाने वाली थीं।

यह विरोध एक तो उस मताधिकार को छीन लेने के रूप में और दूसरा गिरमिटियों पर कर बिठाने के रूप में प्रत्यक्ष हुआ। कानून के अलावा भी तरह-तरह की खुटपञ्चरी चल रही थी सो अलग।

पहले तो यह तजवीज पेश हुई थी कि पांच साल पूरा होने पर गिरमिटिया जबरदस्ती वापस लौटा दिया जाय। वह इस तरह कि उसकी गिरमिट हिन्दुस्तान में जाकर पूरी हो। पर इस तजवीज को भारत-सरकार मंजूर न कर सकती थी। तब ऐसी तजवीज हुई कि—

१—मजदूरी का इकरार पूरा होने पर गिरमिटिया वापस हिन्दुस्तान चला जाय। अथवा

२—दो-दो वर्ष की गिरमिट नये सिरे से कराता रहे और ऐसी हर गिरमिट के समय उसके वेतन में कुछ वृद्धि होती रहे।

३—यदि वापस न जाय, और फिर से मजूरी का इकरार भी न करे तो उसे हर साल २५ पौंड कर देना चाहिए।

इस तजवीज को मंजूर कराने के लिए सर हेनरी बीन्स तथा मि० मेसन का शिष्ट-मण्डल हिन्दुस्तान भेजा गया। उस समय लार्ड एल्गिन वायसराय थे। उन्होंने पच्चीस पौंड का कर ना-

मंजूर कर दिया पर यह मान लिया कि सिर्फ ३ पौंड कर लिया जाय। मुझे उस समय भी लगा और आज भी लगता है कि वाइसराय ने यह जबरदस्त भूल की थी। उन्होंने इस बात में हिन्दुस्तान के हित का बिलकुल खयाल न किया। उनका यह धर्म कतई न था कि वे नेटाल के गोरों को इतनी सुविधाकर दें। यह भी तै हुआ कि तीन चार वर्ष बाद ऐसे हिन्दुस्तानी की स्त्री से, और उनके हर १६ वर्ष तथा उससे अधिक उम्र के प्रत्येक पुत्र से और १३ तथा उससे अधिक उम्रवाली हर एक लड़की से भी लिया जाय। इस तरह पति-पत्नी और दो बच्चों के परिवार के पास से—जिसमें पति को मुश्किल से बहुत से बहुत १४ शिलिंग मासिक मिलते हों—१२ पौंड अर्थात् १२०) कर लेना महाअत्याचार है। दुनियाँ में कहीं भी ऐसा कर ऐसी स्थिति वाले लोंगों से नहीं लिया जाता था।

इस करके विरोध में घोर लड़ाई छिड़ी। यदि नेटाल इंडियन कांग्रेस की ओर से बिल्कुल आवाज न उठी होती तो वायसराय शायद २५ पौंड भी मंजूर कर लेते। २५ पौंड के ३ पौंड होना भी, बिल्कुल संभव है, कांग्रेस के आंदोलन का ही परिणाम हो। पर संभव है मेरे इस अंदाज में भूल होती हो। संभव है कि भारत सरकार ने अपने आप ही २५ पौंड को अस्वीकार किया हो और बिना कांग्रेस के विरोध के ३ पौंड का कर स्वीकार कर लिया हो। फिर भी वह हिंदुस्तान के हित का तो भंग था ही। हिंदुस्तान के हित-रक्षक की हैसियत से ऐसा अमानुष कर वाइसराय को हरगिज न बैठाना चाहिए था।

पच्चीस से तीन पौंड (३७५ से ४५) होने के लिए कांग्रेस

क्या श्रेय ले ? कांग्रेस को तो यही बात खली कि वह गिर-मिटियों के हित की पूरी पूरी रक्षा न कर सकी। और कांग्रेस ने अपना यह निश्चय कि ३ पौंड का कर तो अवश्य रद्द हो जाना चाहिए, कभी ढीला न किया था। इस निश्चय को पूरा हुए आज २० वर्ष हो गये। उसमें अकेले नेटाल के ही नहीं, वरन् सारे दक्षिण अफ्रिका के भारतवासियों को कूदना पड़ा था। इसमें गोखले को निमित्त बनना पड़ा था। उसमें गिरमिटियों को पूरा पूरा योग देना पड़ा। उसके सिलसिले में कुछ लोगों को गोलियाँ खाकर भी मरना पड़ा। दस हज़ार से ऊपर हिंदुस्तानियों को जेल भोगनी पडी।

पर अन्त में सत्य का जय हुआ। हिंदुस्तानियों की तपश्चर्या के रूप में सत्य प्रत्यक्ष प्रकट हुआ। उसके लिए अटल श्रद्धा, धीरज और सतत आंदोलन की आवश्यकता थी। यदि लोग हार कर बैठ जाते, कांग्रेस लडाई को भूल जाती, और कर को अनि-वार्य समझ घुटने टेक देती तो आज तक यह कर गिरमिटियों से लिया जाता होता और इसके अपयश का टीका सारे दक्षिण आफ्रिका के भारतवासियों को तथा अखिल भारतवर्ष को लगता।

---

(२२)

धर्म-निरीक्षण

इस प्रकार जो मैं लोक-सेवा में तल्लीन हो गया था उसका कारण था आत्म-दर्शन की अभिलाषा। यह समझ कर कि सेवा के द्वारा ही ईश्वर की पहचान हो सकती है मैंने सेवा-धर्म स्वीकार किया था। भारत की सेवा मुझे सहज प्राप्त थी, उसमें मेरी रुचि थी। उसकी खोज मुझे न करना पडी थी। मैं तो सफर करने, काठियावाड के षड्यंत्रों से छूटने और आजीविका प्राप्त करने के लिए दक्षिण आफ्रिका गया था। पर पड़ गया ईश्वर की शोध में—आत्मदर्शन के प्रयत्न में। ईसाई-भाईयों ने मेरी जिज्ञासा बहुत तीव्र कर दी थी। वह किसी प्रकार शान्त न हो सकती थी और मैं शान्त होना चाहता भी तो ईसाई-भाई-बहन ऐसा न होने देते। क्योंकि डरबन में मि० स्पेन्सर वाल्टन ने जो कि दक्षिण आफ्रिका के मिशन के मुखिया थे, मुझे खोज निकाला। मैं भी एक उनका कुटुम्बी जन सा हो गया। इस सम्बन्ध का मूल है प्रिटोरिया में हुआ समागम। मि० वाल्टन का कुछ तर्ज और ही था। मुझे नहीं याद पड़ता कि उन्होंने कभी ईसाई बनने की बात मुझ से कही हो। बल्कि अपना सारा

जीवन खोलकर मेरे सामने रख दिया । अपने तमाम काम और हल-चल के निरीक्षण का अवसर मुझे दिया । उनकी धर्मपत्नी भी बड़ी नम्र परन्तु तेजस्वी थीं ।

मुझे इस दम्पती की कार्य-पद्धति पसंद आती थी, हमारे अन्दर जो मौलिक भेद थे उन्हें हम दोनों जानते थे । चर्चा द्वारा उन भेदों को मिटा देना असंभव था । जहाँ-जहाँ उदारता, सहिष्णुता और सत्य है वहाँ भेद भी लाभदायक होते हैं । मुझे इस दम्पती की नम्रता, उद्यमशीलता और कार्य-परायणता बड़ी प्रिय थी । इससे हम बार-बार मिला करते ।

इस संबंध ने मुझे जागरूक रक्खा । धार्मिक पठन के लिए जो फुरसत मुझे प्रिटोरिया में मिल गई थी वह तो अब असम्भव थी । परन्तु जो कुछ समय मिल जाता उसका उपयोग मैं स्वाध्याय में करता । मेरा पत्र-व्यवहार जारी ही था । रायचंद भाई मुझे पथ-प्रदर्शन कर रहे थे । किसी मित्र ने मुझे *नर्मदाशंकर की 'धर्म-विचार' नामक पुस्तक भेजी । उसकी प्रस्तावना से मुझे सहायता मिली । नर्मदा-शंकर के विलास-युक्त जीवन की बातें मैंने सुनी थीं । प्रस्तावना में उनके जीवन में हुए परिवर्तनों का वर्णन मैंने पढ़ा और उसने मुझे आकर्षित किया जिससे कि उस पुस्तक के प्रति मेरा आदर-भाव बढ़ा । मैंने ध्यानपूर्वक उसे पढ़ा । मैक्समूलर की पुस्तक 'हिन्दुस्तान से हमें क्या शिक्षा मिलती है ?' मैंने बड़ी दिलचस्पी से पढ़ी । थियासीफिकल सोसायटी द्वारा प्रकाशित

---

* गुजरात के एक प्रसिद्ध कवि ।

उपनिषदों का अनुवाद पढ़ा। हिन्दू-धर्म के प्रति मेरा आदर बढ़ा। उसकी खूबी मैं समझने लगा। परन्तु दूसरे धर्मों के प्रति मेरे मन में अभाव न हुआ। वाशिंग्टन अरविंग कृत महम्मद का चरित्र और कार्लाइल रचित 'महम्मद-स्तुति' पढ़ी। पैग़म्बर के प्रति मेरा आदर बढ़ा। 'जरथुस्त के वचन' नामक पुस्तक भी पढ़ी।

इस प्रकार मैंने भिन्न भिन्न सम्प्रदायों का कम-ज्यादह ज्ञान प्राप्त किया। आत्म-निरीक्षण बढ़ा। जो कुछ पढ़ा या पसंद हुआ उसपर चलने की आदत बढ़ी। इससे हिन्दू-धर्म में वर्णित प्राणायाम-विषयक कितनी ही क्रियायें, पुस्तकें पढ़कर मैं जैसी समझ सका था, शुरू कीं। पर कुछ सिलसिला जमा नहीं। मैं आगे न बढ़ सका। सोचा कि जब भारत लौटूंगा तब किसी शिक्षक से सीखूंगा। वह अब तक पूरा न हो पाया।

टालसटाय की पुस्तकों का स्वाध्याय बढाया। उनकी 'गोस्पेल इनब्रिफ' 'वाट टु डू' इत्यादि पुस्तकों ने मेरे दिल पर गहरी छाप डाली। विश्वप्रेम मनुष्य को कहाँ तक ले जाता है यह मैं उससे अधिकाधिक समझने लगा।

इन्हीं दिनों एक दूसरे ईसाई कुटुम्ब के साथ मेरा सम्बन्ध बँधा। उन लोगों की इच्छा से मैं वेस्लियन गिरजा में हर रविवार को जाता। प्रायः हर रविवार को मेरा शाम का खाना भी उन्हीं के यहाँ होता। वहाँ जो प्रवचन हुआ करते थे वे मुझे नीरस मालूम हुए। उपस्थिति जनों में मुझे भक्ति-भाव न दिखाई दिया। ग्यारह बजे एकत्र होने वाली यह मण्डली मुझे भक्तों की नहीं, बल्कि कुछ तो मनोविनोद के लिए और कुछ प्रथा के प्रभाव से एकत्र होने वाली संसारी जीवों की टोली मालूम हुई। कभी-कभी तो

इस सभा में अनिच्छा पूर्वक, मुझे नींद के झोंके आने लगते। मैं लज्जित होता। पर जब मैं अपने आस-पास वालों को भी झौंके खाते हुए देखता, मेरी लज्जा हलकी पड़ जाती। अपनी यह स्थिति मुझे अच्छी न मालूम हुई। अन्त को मैंने गिरजा जाना छोड़ दिया।

जिस परिवार के यहाँ मैं हर रविवार को जाता था वहाँ से भी मुझे इस तरह से छुट्टी मिली। गृहस्वामिनी, भोली, भली परन्तु संकुचित विचार वाली मालूम हुई। उनके साथ हर वक्त कुछ न कुछ धार्मिक चर्चा हुआ ही करती। उस समय मैं घर पर 'लाइट आव एशिया' पढ़ रहा था। एक दिन हम ईसा और बुद्ध की तुलना के फेर में पड़ गये—

"बुद्ध की दया को देखिए। मनुष्य जाति के आगे बढ़ कर वह दूसरे प्राणियों तक जा पहुँची। उसकी गोदी में किलोलें करने वाले मेमने का चित्र आँखों के सामने आते ही आपका हृदय प्रेम से नहीं उमड़ पड़ता? प्राणिमात्र के प्रति यह प्रेम मुझे ईसा के इतिहास में कहीं दिखाई नहीं देता।"

उस बहन को दुःख हुआ। मैं समझ गया। मैंने अपनी बात आगे न चलाई। हम भोजन करने गये। उनका कोई पाँच साल का हँसमुख बच्चा हमारे साथ था। बालक मेरे साथ होने पर मुझे फिर किस बात की जरूरत? उसके साथ मैंने दोस्ती तो पहले ही करली थी। मैंने उसकी थाली में पड़े मांस के टुकड़े का मज़ाक किया और मेरी रक़ाबी में शोभित नासपाती की स्तुति शुरू की। भोला-भाला बालक रीझा और नासपाती की स्तुति में शरीक हो गया।

परन्तु माता ? वह तो बेचारी दुःख में पड़ गई।

मैं चेता। चुप रहा। बात का विषय बदला।

दूसरे सप्ताह मैं सावधान रहकर उनके यहाँ गया तो; पर मेरा पाँव मुझे भारी मालूम हो रहा था। अपने-आप उनके यहाँ जाना बन्द कर देना मुझे न सूझा, न उचित मालूम हुआ। पर उस भली बहन ने ही मेरी कठिनाई हल कर दी। वह बोली, "मि० गांधी आप बुरा न मानें, आप की सोहबत का असर मेरे लड़के पर बुरा होने लगा है। अब वह रोज़ मांस खाने से आनाकानी करने लगा है और उस दिन की आपकी बातचीत की याद दिलाकर फल मांगता है। मुझे यह गवारा न हो सकेगा। मेरा बच्चा यदि मांस खाना छोड़ दे तो चाहे बीमार न हो, पर कमज़ोर ज़रूर हो जायगा। मैं यह कैसे देख सकती हूँ ? आपकी चर्चा हम प्रौढ़ लोगों में तो फायदे मंद हो सकती है, पर बच्चों पर तो उसका असर बुरा ही पड़ता है।"

'मिसेज़—मुझे खेद है। आप, माता के मनोभाव मैं समझ सकता हूँ। मुझे भी बाल बच्चे हैं। इस आपत्ति का अंत आसानी से हो सकता है। मेरी बातचीत की अपेक्षा मेरे खान-पान का और उसको देखने का असर बालकों पर बहुत ज्यादा होता है। इसलिए सीधा रास्ता यह है कि अब से रविवार को मैं आपके यहाँ न आया करूँ। हमारी मित्रता में इससे किसी प्रकार फर्क न आवेगा !'

'मैं आपका अहसान मानती हूँ' बाई ने खुश होकर उत्तर दिया।

---

(२३)

गृह-व्यवस्था

बम्बई में तथा विलायत में जो मैंने घर-गृहस्थी सजाई थी उसमें और नेटाल में जो घर बसाना पड़ा उसमें भेद था। नेटाल में कितना ही खर्च तो महज़ प्रतिष्ठा के लिए उठा रहा था। मैंने यह मान लिया था कि नेटाल में भारतीय बैरिस्टर की हैसियत से और भारतीयों के प्रतिनिधि की हैसियत से मुझे काफी खर्च रखना चाहिए। इस कारण अच्छे मुहल्ले में और अच्छा घर लिया था। घर को सजाया भी अच्छी तरह था। खान-पान सादा था; परन्तु अंगरेज़ मित्रों को भोजन के लिए बुलाया करता था और हिंदुस्तानी साथियों को भी निमन्त्रण दिया करता था इसलिए आपही खर्च और भी बढ़ गया।

नौकर की तंगी सभी जगह रहा करती है। किसी को नौकर बनाकर रखना आज तक मैंने जाना ही नहीं।

मेरे साथ एक साथी था। एक रसोइया रक्खा था। वह कुटुम्बी ही बन गया था। दफ़्तर में जो कारकुन थे उनमें से भी जो रक्खे जा सकते थे उन्हें घर में रक्खा था।

मैं मानता हूँ कि यह प्रयोग ठीक सफल हुआ। परन्तु उसमें मुझे संसार के कटु अनुभव भी मिले।

वह साथी बहुत होशियार और मेरी समझ के अनुसार वफादार था। पर मैं उसे न पहचान सका। दफ़्तर के एक कारकुन को मैंने घर में रक्खा था। इस साथी को उसकी ईर्ष्या हुई। उसने ऐसा जाल रचा कि जिससे मैं कारकुन पर शक लाऊँ। ये कारकुन बड़ी आज़ाद तबीयत के थे। उन्होंने घर और दफ्तर दोनों छोड़ दिये। मुझे दुःख हुआ। उनके साथ कहीं अन्याय न हुआ हो? यह ख़याल भीतर ही भीतर मुझे दुःख दे रहा था।

इसी बीच मेरे रसोइया को किसी कारण से दूसरी जगह जाना पड़ा। मैंने उसे अपने मित्र की सेवा शुश्रूषा के लिए रक्खा था। इसलिए उसकी जगह दूसरा रसोइया रक्खा। बाद को मैंने देखा कि यह शख़्स उड़ती चिड़िया मारने वाला था। पर वह मुझे इस तरह उपयोगी हो गया मानो मुझे उसीकी ज़रूरत रही हो।

इस रसोइया को रक्खे मुश्किल से दो-तीन दिन हुए होंगे कि इतने ही में उसने मेरे घर की एक भयंकर बुराई को ताड़ लिया, जो मेरे ध्यान में न आई थी और मुझे सचेत करने का निश्चय किया। मैं विश्वासशील और अपेक्षाकृत भला आदमी हूँ, यह धारणा लोगों की हो रही थी। इस कारण रसोइया को मेरे ही घर में फैली गंदगी भयानक मालूम हुई।

मैं दफ़्तर से दोपहर के भोजन के लिए एक बजे घर जाता। कोई बारह बजे होंगे कि यह रसोइया हाँपता हुआ आया और मुझ से कहा,—'आप को अगर कुछ देखना हो तो अभी मेरे साथ घर चलिए।'

मैंने कहा—'इसका क्या मतलब ? कहो भी तो क्या काम है ? ऐसे वक्त मेरे घर आने की क्या जरूरत और देखना भी क्या है ?'

'न आओगे तो पछताओगे । मैं आपको इससे ज्यादह नहीं कहना चाहता ।' रसोइया बोला ।

उसकी दृढ़ता से मैं खिंचा । अपने मुंशी को साथ लेकर घर गया । रसोइया आगे चला ।

घर पहुँचते ही वह मुझे दुमञ्जिले पर ले गया जिस कमरे में वह साथी रहता था । उसकी ओर इशारा करके ,कहा—'इस कमरे को खोलकर देखो ।'

अब मैं समझा । मैंने दरवाजा ठोंका । जवाब क्या मिलता ? मैंने बड़े जोर से दरवाजा ठोंका । दिवार काँप उठी । दरवाज़ा खुला । अंदर एक बदचलन औरत देखी । मैंने उससे कहा—'बहन तुम तो यहाँ से इसी दम चल दो । अब भूलकर यहाँ कदम मत रखना ।'

साथी से कहा—'आज से आपका-मेरा सम्बन्ध टूटा । मैं अब तक खूब धोखे में रहा और बेवकूफ़ बना । मेरे विश्वास का बदला यही मिलना चाहिए था ?'

साथी बिगड़ा । मुझे धमकी देने लगा—'तुम्हारी सब बातें प्रकट कर दूँगा ।'

'मेरे पास कोई गुप्त बात है ही नहीं । मैंने जो कुछ किया हो सो खुशी से प्रकट कर देना । पर तुम्हारा संबंध आज से बंद है ।'

साथी अधिक गरम हुआ । मैंने नीचे खड़े मुंशी से कहा—'तुम जाओ पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट से मेरा सलाम कहो और कहो कि मेरे एक साथी ने मेरे साथ विश्वासघात किया है । उसे मैं

अपने घर में रखना नहीं चाहता। फिर भी वह निकलने से इनकार करता है। महरबानी करके मदद भेजिए।'

अपराधी के बराबर दीन नहीं। मेरे इतना कहते ही वह ठंडा पड़ा। माफी माँगी। आजिज़ी से कहा—'सुपरिन्टेंडेंट के यहाँ आदमी न भेजिए।' और तुरन्त घर छोड़ देना स्वीकार किया। घर छोड़ा।

इस घटना ने ठीक समय पर मुझे सावधान किया। यह साथी मेरे लिए मोहरूप और अनिष्ट था, यह बात मैं अब जाकर स्पष्ट रूप से समझा। इस साथी को रखकर मैंने अच्छा काम करने के लिए बुरे साधन को अपनाया था। करेले की बेल में मैंने बेले के फूल की आशा रक्खी थी। साथी का चाल-चलन अच्छा न था। फिर भी मैंने मान लिया था कि वह मेरे साथ बेवफा न होगा। उसे सुधारने का प्रयत्न करते हुए मुझे खुद छींटे लगते-लगते बचे। अपने हितैषियों की सलाह का मैंने अनादर किया था। मोह ने मुझे अन्धा बना दिया था।

यदि इस दुर्घटना से मेरी आँखें न खुली होतीं, मुझे सत्य की खबर न पड़ी होती, तो सम्भव है कि मैं कभी वह स्वार्पण न कर सकता जो आज कर पाया हूँ। मेरी सेवा हमेशा अधूरी रहती; क्योंकि यह साथी मेरी प्रगति को रोके बिना नहीं रहता। मुझे उसके लिए बहुतेरा समय देना पड़ता। मुझे अंधेरे में रखने की, कुमार्ग में ले जाने की शक्ति उसमें थी। परन्तु 'जाको राखे साँइयाँ मारि न सक्के कोइ।' मेरी निष्ठा शुद्ध थी। इसलिए भूलें करते हुए भी मैं बच गया। और मेरे पहले अनुभव ने ही मुझे सावधान किया।

क्या जाने ईश्वर ने ही उस रसोइया को प्रेरणा न की हो ! वह रसोई बनाना न जानता था। परन्तु उसके आये बिना मुझे कोई सजग न कर पाता। वह बाई पहली ही बार मेरे घर में न आई थी। परन्तु इस रसोइया की तरह दूसरे की हिम्मत नहीं चलती; क्योंकि सब जानते थे कि मैं उस साथी पर बेहद विश्वास रखता था।

इतनी सेवा करके रसोइया उसी दिन और उसी क्षण चला गया—"मैं आपके यहाँ नहीं रह सकता। आप ठहरे भोले आदमी; यहाँ मुझ जैसों का काम नहीं।" मैंने भी उसे रहने का आग्रह नहीं किया।

उस कारकुन पर शक पैदा कराने वाला यह साथी ही था, यह बात मुझे अब जा कर मालूम हुई। मैंने उस कारकुन के साथ न्याय करने का बहुत उद्योग किया; पर मैं उसे पूरी तरह सन्तोष न दे सका। मुझे इस बात का सदा दुःख रहा। फूटा बरतन कितना ही सांधा जाय वह सांधा हुआ ही माना जायगा। ज्यों का त्यों साबित न हो पावेगा।

---

(२५)

देश की ओर

अब दक्षिण आफ्रिका में रहते हुए मुझे तीन साल हो गये थे। लोगों से मेरी जान-पहचान हो गई थी। वे मुझे जानने-बूझने लगे थे। १८९६ ईसवी में मैंने छः महीने के लिए देश जाने की इजाजत चाही। मैंने देखा कि दक्षिण आफ्रिका में मुझे बहुत समय तक रहना होगा। मेरी वकालत ठीक-ठीक चल निकली थी। सार्वजनिक कामों के लिए लोग मेरी आवश्यकता समझते थे। मैं भी समझता था। इसलिए मैंने दक्षिण आफ्रिका में सकुटुंब रहने का निश्चय किया और इसके लिए देश हो आना ठीक समझा। फिर यह भी देखा कि देश जाने से कुछ यहाँ का काम भी हो जायगा। देश में लोगों के सामने यहाँ के प्रश्न की चर्चा करने से उनकी अधिक दिलचस्पी पैदा हो सकेगी। तीन पौंड़ का कर एक बहता हुआ घाव था। जब तक वह उठ न जाता जी को चैन नहीं हो सकती थी।

पर यदि मैं देश जाऊँ तो फिर काँग्रेस का और शिक्षा-मंडल का काम कौन ज़िम्मे ले? दो साथियों पर नज़र गई। आदमजी मियांखान और पारसी रुस्तमजी। व्यापारी वर्ग में से बहुतेरे काम

करने वाले निकल आये थे। पर उनमें प्रथम पंक्ति में आने योग्य यही दो सज्जन ऐसे थे, जो मंत्री का काम नियमित रूप से कर सकने थे और जो दक्षिण आफ्रिका में जन्मे भारतवासियों के मन-हरण कर सकते थे। मंत्री के लिए मामूली अंगरेज़ी जानना तो आवश्यक था ही। इनमें से स्वर्गीय आदमजी मियाखान को मंत्री-पद देने की सिफारिश की और वह स्वीकृत हुई। अनुभव से यह पसन्दगी बहुत ही अच्छी साबित हुई। अपनी उद्योगशीलता, उदारता, मिठास और विवेक के द्वारा सेठ आदमजी मियाखान ने अपना काम संतोषजनक रीति से किया और सब को विश्वास हो गया कि मंत्री का काम करने के लिए वकील-बैरिस्टर की अथवा पदवीधारी बड़े अंगरेज़ीदां को जरूरत न थी।

१८९६ के मध्य में मैं पोंगोला जहाज से देश को रवाना हुआ। यह कलकत्ते जाने वाला जहाज था।

जहाज में यात्री बहुत थोड़े थे। दो अंगरेज अफसर थे। उनका मेरा अच्छा मेल बैठ गया। एक के साथ एक घंटा शतरंज खेलता। जहाज के डाक्टर ने मुझे एक तामिल-शिक्षक दिया। मैं उसे पढ़ने लगा।

नेटाल में मैंने देखा कि मुसलमानों के निकट परिचय में आने के लिए मुझे उर्दू सीखना चाहिए। तथा मदरासियों से संबंध बांधने के लिए तामिल जान लेना चाहिए।

उर्दू के लिए तो मैंने उन अंगरेज-मित्र के कहने से डेक के यात्रियों में से एक अच्छा मुंशी खोज निकाला था, और हम लोगों की पढ़ाई ठीक चली। अंगरेज अफसर की स्मरण-शक्ति मुझ से तेज थी। उर्दू अक्षरों को पहचानते हुए मुझे दिक्कत पड़ती। पर

वह तो एक वार शब्द देख लेने के वाद भूलता ही न था। मैंने अपनी मिहनत की मात्रा वढ़ाई भी; पर उसका मुकावला न कर सका।

तामिल की पढ़ाई भी ठीक चली। उसमें किसी की मदद न मिल सकती थी। पुस्तक लिखी भी इस तरह गई थी कि वहुत मदद की जरूरत न थी।

मुझे आशा थी कि देश जाने के वाद वह पढ़ाई जारी रह सकेगी। पर ऐसा न हो पाया। १८९३ के वाद मुझे पुस्तकें पढ़ने का अवसर प्रधानतः जेलों में ही मिला है। हाँ, इन दोनों भाषाओं का ज्ञान मैंने वढ़ाया तो; पर वह सव जेल ही में हुआ। तामिल का दक्षिण अफ्रिका की जेल में और उर्दू का यरवदा में। पर तामिल वोलने का अभ्यास कभी न हुआ। पढ़ना तो ठीक-ठीक आ गया था; पर पढ़ने का अवसर न आने से उसका रफ्त छूटता जाता है। इस वात का मुझे वरावर दुःख वना रहता है। दक्षिण आफ्रिका के मदरासी भाइयों से मैंने खूव प्रेम-रस पिया है। उनका स्मरण मुझे प्रतिक्षण रहता है। जव तक मैं किसी तामिल तेलगु को देखता हूँ तो उनकी श्रद्धा, उनकी उद्योगशीलता, वहुतों का निःस्वार्थ त्याग याद आये विना नहीं रहता और ये सव लगभग निरक्षर थे। जैसे पुरुष तैसी ही स्त्रियाँ। दक्षिण आफ्रिका की लड़ाई ही निरक्षरों की थी, और उसमें निरक्षर लड़वैया थे। वह गरीवों की लड़ाई थी और गरीव ही उसमें जूझे।

इन भोले और भले भारतवासियों का चित्त चुराने के लिए भाषा की भिन्नता कभी वाधक न हुई। वे टूटी-फूटी हिंदुस्तानी और अंगरेज़ी जानते थे और उससे हम अपना काम चला लेते।

पर मैं तो इस प्रेम का बदला चुकाने के लिए तामिल सीखना चाहता था। तामिल तो कुछ कुछ सीख ली। तेलुगू जानने का प्रयत्न हिन्दुस्तान में किया; परन्तु वर्ण-माला से आगे न बढ़ सका।

इस तरह तामिल-तेलुगु न पढ़ पाया। अब शायद ही पढ़ पाऊँ। इसलिए मैं यह आशा रख रहा हूँ कि ये द्राविड़ भाषा-भाषी हिन्दुस्तानी सीख लेंगे। दक्षिण आफ्रिका के द्राविड 'मद-रासी' तो अवश्य थोड़ी-बहुत हिन्दी बोलते हैं। मुश्किल है अंग-रेज़ी पढ़े-लिखों की। ऐसा मालूम होता है, मानों अंगरेज़ी का ज्ञान हमें अपनी भाषायें सीखने में बाधक हो रहा है।

पर यह तो विषयान्तर हो गया हमें अपनी यात्रा पूरी करनी चाहिए।

अभी पॉंगोला के कप्तान का परिचय कराना बाकी है। हम दोनों मित्र हो गये थे। यह कप्तान प्लीमथ ब्रदर के सम्प्रदाय का था। इसलिए जहाज़-विद्या की बातों की अपेक्षा आध्यात्मिक विद्या की ही बातें हम में अधिक हुईं। उसने नीति और धर्म-श्रद्धा में फ़र्क़ बताया। उसकी दृष्टि से बाइबिल की शिक्षा लड़कों का खेल था। उसकी खूबी उसकी सरलता है। बालक, स्त्री-पुरुष सब ईसा को और उसके बलिदान को मान लें कि बस उनके पाप धुल जावेंगे। इस प्लीमथ ब्रदर ने मेरे प्रिटोरिया के ब्रदर की पह-चान ताज़ी करा दी। जिस धर्म में नीति की चौकी करनी पड़ती हो वह उसे नीरस मालूम हुआ। इस मित्रता और आध्यात्मिक चर्चा की तह में था मेरा 'अन्नाहार'। मैं क्यों नहीं मांस खाता? गो-मांस में क्या बुराई है? वनस्पति की तरह क्या पशु-पक्षियों को भी ईश्वर ने मनुष्य के आनन्द तथा आहार के लिए नहीं

बनाया है ? ऐसी प्रश्नमाला आध्यात्मिक वार्तालाप उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकती थी।

हम दोनों एक दूसरे को न समझ सके। मैं अपने इस विचार पर दृढ़ हुआ कि धर्म और नीति एक वस्तु के वाचक हैं। इधर कप्तान को भी अपनी धारणा की सत्यता पर संदेह न था।

चौबीस दिन के अंत में यह आनन्ददायक यात्रा पूरी हुई, और मैं हुगली का सौंदर्य निहारता हुआ कलकत्ता उतरा। उसी दिन मैंने बंबई जाने के लिए टिकट कटाया।

---

(३५)

हिन्दुस्तान में

कलकत्ते से बंबई जाते हुए रास्ते में प्रयाग पड़ता था। वहाँ ४५ मिनिट गाड़ी खड़ी रहती थी। मैंने सोचा कि इतने समय में ज़रा शहर देख आऊँ। मुझे केमिस्ट के यहाँ से दवा भी लेना थी। केमिस्ट औंघाया हुआ बाहर आया। दवा देते हुए बड़ी देर लगा दी। ज्यों ही मैं स्टेशन पहुंचा, गाड़ी चलती हुई दिखाई दी। भले स्टेशन मास्टर ने गाड़ी एक मिनट रोकी भी पर मुझे वापस न आता देख कर मेरा सामान उतरवा लिया।

मैं केलनर के होटल में उतरा और यहीं से अपना काम शुरू करने का निश्चय किया। यहाँ के 'पायोनियर' पत्र की ख्याति मैंने सुनी थी। भारत की आकांक्षाओं का वह विरोधक था, यह मैं जानता था। मुझे याद पड़ता है कि उस समय मि० चेजनी छोटे सम्पादक थे। मैं तो सब पक्ष के लोगों से मिल कर सहायता प्राप्त करना चाहता था। इसलिए मि० चेजनी को मैंने मिलने के लिए पत्र लिखा। अपनी ट्रेन छूट जाने का हाल लिखकर सूचित किया था कि कल ही मुझे प्रयाग से चला जाना है। उत्तर में उन्होंने तुरन्त मिलने के लिए बुलाया। मैं खुश हुआ। उन्होंने

गौर से मेरी बातें सुनीं। कहा—"आप जो कुछ लिखेंगे, मैं उस पर तुरन्त टिप्पणी करूंगा" और यह भी कहा—"पर मैं आपसे नहीं कह सकता कि आप की सब बातों को मैं स्वीकार कर सकूंगा। औपनिवेशिक दृष्टि-बिन्दु भी तो हमें समझना और देखना चाहिए न ?"

मैंने उत्तर दिया—"आप यदि इस प्रश्न का अध्ययन करेंगे और चर्चा करते रहेंगे तो मेरे लिए बस है। मैं शुद्ध न्याय के अलावा और कुछ नहीं चाहता।"

शेष समय प्रयाग के भव्य त्रिवेणी-संगम के दर्शन में और अपने काम के विचार में गया।

इस आकस्मिक मुलाकात ने, नेटाल में मुझ पर हुए हमले का बीजारोपण किया।

बम्बई से बिना कहीं रुके सीधा राजकोट गया और एक पुस्तिका लिखने की तैयारी की। उसे लिखने तथा छपाने में कोई एक महीना लग गया। उसका मुख-पृष्ठ हरे रंग का था, इस कारण वह बाद को 'हरी पुस्तिका' के नाम से प्रसिद्ध हो गई थी। उसमें मैंने दक्षिण आफ्रिका के हिंदुस्तानियों की स्थिति का चित्र खींचा था; पर जान बूझकर उसमें न्यूनोक्ति से काम लिया था। नेटाल की जिन पुस्तिकाओं का जिक्र मैं ऊपर कर चुका हूँ उनसे नरम भाषा इसमें इस्तैमाल की गई थी; क्योंकि मैं जानता हूँ कि छोटा दुःख भी दूर से देखते हुए बड़ा मालूम होता है।

'हरी पुस्तिका' की दस हजार प्रतियाँ छपवाईं और वे सारे हिंदुस्तान के अखबारों को तथा तमाम प्रसिद्ध पक्ष लोगों को भेजीं। 'पायोनियर' में उस पर सब से पहले लेख प्रकाशित हुआ।

उसका सारांश विलायत गया और उस सारांश का सार फिर रूटर के मार्फत नेटाल गया। यह तार सिर्फ तीन लाइन का था। वह नेटाल के हिंदुस्तानियों के दु:खों के मेरे किये वर्णन का छोटा सा संस्करण था। वह मेरे शब्दों में न था। उसका जो असर वहाँ हुआ वह हम आगे चलकर देखेंगे। धीरे-धीरे तमाम प्रतिष्ठित समाचार पत्रों में इस प्रश्न पर टीका-टिप्पणियाँ हुईं।

इन पुस्तिकाओं को डाक में डालने के लिए तैयार कराना उलझन का, और यदि दाम दे कर कराना तो खर्च का काम था। मैंने एक आसान तरकीब खोज निकाली। मुहल्ले के तमाम लड़कों को इकट्ठा किया और सुबह के समय में दो–तीन जितने घंटे दे सकें उनसे मांगे। लड़कों ने इतनी सेवा खुशी से क़बूल की। अपनी तरफ से मैंने उन्हें इस्तेमाल किए हुए डाँक के टिकट तथा आशीष देना स्वीकार किया। लड़कों ने खेलते-खेलते मेरा काम पूरा कर दिया। छोटे-छोटे बालकों को स्वयं सेवक बनाने का मेरा यह पहला प्रयोग था। इनमें से दो बालक आज मेरे साथी हैं।

इन्हीं दिनों बम्बई में पहले-पहल प्लेग का दौरा हुआ। चारों ओर भगदड़ मच गई थी। राजकोट में भी उसके फैल जाने का डर था। मैंने सोचा कि आरोग्य-विभाग में मैं अच्छा काम कर सकूंगा। मैंने राज्य को लिखा कि मैं अपनी सेवायें अर्पित करने को तैयार हू। राज्य ने एक समिति बनाई और उसमें मुझे भी रक्खा। पाखानों की सफाई पर मैंने जोर दिया और समिति ने मुहल्ले मुहल्ले जाकर पाखानों की जाँच करने का निश्चय किया। गरीब लोग अपने पाखानों की जाँच कराने में बिल्कुल आनाकानी न करते थे। यही नहीं, बल्कि जो बताये गये वे सुधार भी उन्होंने

किये। पर जब हम राजकाजी लोगों के घरों की जाँच करने गये तब कितनी ही जगह तो हमें पाखाना देखने तक की इजाज़त न मिली, सुधार की तो बात ही क्या चली? आम तौर पर हमें यह अनुभव हुआ कि धनियों के पाखाने अधिक गंदे थे। खूब अंधेरा, बदबू और अजहद गंदगी थी। बैठने की जगह कीड़े गिज-गिजाते थे। मानों रोज़ जीते-जी नरक में जाना था। हमने जो सुधार सुझाये थे वे बिल्कुल मामूली थे। मैला ज़मीन पर नहीं बल्कि कूँडों में गिरे। पानी भी ज़मीन में जज़्ब होने के बदले कूंडे में गिरा करे। बैठक और भंगी के आने की जगह के बीच में जो दीवार रहती थी वह तोड़ डाली जाय जिससे भंगी सारा हिस्सा अच्छी तरह साफ कर सके, और पाखाना भी कुछ बड़ा हो जाय तो उसमें हवा, प्रकाश जा सके। बड़े लोगों ने इन सुधारों के रास्ते में बड़े झगड़े खड़े किये और आखिर होने ही नहीं दिये।

समिति को ढेड़ों के मुहल्ले में भी जाना था। पर सिर्फ़ एक ही सभ्य मेरे साथ वहाँ जाने के लिए तैयार हुए। एक तो वहाँ जाना और फिर उनके पाखाने देखना। परन्तु मुझे तो ढेड़वाड़ा देखकर सानंदाश्चर्य हुआ। अपनी जिंदगी में मैं पहली ही बार ढेड़वाड़े गया था। ढेड़ भाई-बहन हमें देखकर आश्चर्य-चकित हुए। हमने कहा, 'हम तुम्हारे पाखाने देखना चाहते हैं।' उन्होंने कहा—

'हमारे यहाँ पाखाने कहाँ? हमारे पाखाने तो जंगल में। पाखाने तो होते हैं आप बड़े लोगों के यहाँ।'

मैंने पूँछा—'अच्छा तो अपने घर हमें देखने दोगे?'

'हाँ साहब, ज़रूर! हमें क्या उज्र हो सकता है? जहाँ जी चाहे जाइए। हमारे तो ये ऐसे ही घर हैं।'

मैं अंदर गया और घर की तथा आँगन की सफाई देखकर खुश हो गया। घर साफ-सुथरा लिपा-पुता था। आँगन बुहारा हुआ और जो थोड़े-बहुत बरतन थे वे साफ मँजे हुए चमकदार थे।

इनके मुहल्ले में बीमारी का भय न था।

एक पाखाने का वर्णन किए बिना नहीं रह सकता। मोरी तो हर घर में रहती ही है। पानी भी उनमें बहता और पेशाब भी। अतएव कोई कमरा मुश्किल से बिना बदबू वाला होगा। पर एक घर में तो सोने के कमरे में मोरी और पाखाना दोनों देखे और वह सारा मैला नल में से नीचे उतरता। इस कमरे में खड़ा रहना मुश्किल था। अब पाठक ही इस बात का अंदाजा कर लें कि उसमें घर वाले सो कैसे सकते होंगे?

समिति हवेली—वैष्णव मंदिर—देखने भी गई थी। हवेली के मुखिया जी से गांधी-कुटुम्ब का अच्छा संबन्ध था। मुखियाजी ने हवेली देखने देना तथा जितने हो सके सुधार करना स्वीकार किया। उन्होंने खुद उस हिस्से को कभी न देखा था। हवेली की पत्तलें और जूठन आदि पीछे की छत से फेंक दिये जाते। वह हिस्सा कौए और चीलों का घर बन गया था। पाखाने तो गंदे थे ही। मुखिया जी ने कितना सुधार किया यह मैं न देख पाया। हवेली की गंदगी देखकर दुःख तो बहुत हुआ। जिस हवेली को हम पवित्र स्थान समझते हैं वहाँ तो आरोग्य के नियमों का काफी पालन होने की आशा की जा सकती है। स्मृति-कारों ने जो बाह्यान्तर शौच पर बहुत जोर दिया था, यह बात मेरे ध्यान से बाहर उस समय में भी न थी।

---

(२६)

राजनिष्ठा और शुश्रूषा

शुद्ध राजनिष्ठा का अनुभव मैंने जितना अपने अंदर किया है उतना शायद ही कहीं हुआ हो। मैं देखता हूँ कि इस राजनिष्ठा का मूल है मेरा सत्य के प्रति स्वाभाविक प्रेम। राजनिष्ठा का अथवा किसी दूसरी चीज़ का ढोंग मुझसे आज तक न हो सका। नेटाल में जिस किसी सभा में मैं जाता, 'गाड सेव दि किंग' बराबर गाया जाता। मैंने सोचा मुझे भी गाना चाहिए। उस समय मुझे भी ब्रिटिश राज्य-नीति में बुराइयाँ दिखाई देती थीं। फिर भी सब मिलाकर मुझे वह नीति अच्छी मालूम होती थी। उस समय मैं यह मानता था कि ब्रिटिश राज्य तथा राज्यकर्त्ताओं की नीति समष्टि रूप से प्रजा-पोषक है।

पर दक्षिण आफ्रिका में उलटी नीति दिखाई देती, रंग-द्वेष नज़र आता। मैं समझता यह क्षणिक और स्थानिक है। इस कारण राजनिष्ठा में मैं अंगरेजों की प्रतिस्पर्द्धा करने की चेष्ठा करता। बड़े श्रम के साथ अंगरेजों के राष्ट्र गीत 'गाड सेव दी किंग' की लय मैंने सीखी। सभाओं में जब वह गाया जाता, तब अपना भी सुर उसमें मिलाता। और बिना आडम्बर किए वफ़ा-

दारी दिखाने के जितने अवसर आते सब में मैं शरीक होता।

अपनी जिंदगी में कभी मैंने इस राज्यनिष्ठा की दुकान नहीं लगाई। अपना निजी मतलब साध लेने की कभी इच्छा तक न हुई। वफादारी एक तरह का कर्ज़ समझकर मैंने अदा किया है।

जब भारत को आया तब महारानी विक्टोरिया की डायमंड ज्युबिली की तैयारियाँ हो रही थीं। राजकोट में भी एक समिति बनाई गई। उसमें मैं निमन्त्रित किया गया। मैंने उसे स्वीकार किया। पर मुझे उसमें ढकोसले की बू आई। मैंने देखा कि उसमें बहुतेरी बातें महज दिखावे के लिए की जाती हैं। यह देखकर मुझे दुःख हुआ। मैं सोचने लगा कि ऐसी दशा में समिति में रहना चाहिए, अथवा नहीं। अन्त को यह ठहराया कि अपने कर्त्तव्य का पालन करके सन्तोष मान लेना ही ठीक है।

एक तजवीज यह थी कि पेड़ लगाये जाँय। इसमें मुझे पाखंड दिखाई दिया। मालूम हुआ कि यह महज़ साहब लोगों को खुश करने के लिए किया जाता है। मैंने लोगों को वह समझाने की कोशिश की कि पेड़ लगाना अनिवार्य नहीं किया गया गया है, सिर्फ़ सिफारिश भर की गई है। यदि लगाना ही हो तो फिर सच्चे दिल से लगाना चाहिए, नहीं तो मुत्लक नहीं। मुझे कुछ कुछ ऐसा याद पड़ता है कि जब मैं ऐसी बात कहता तो लोग उसे हँसी में उड़ा देते। अपने हिस्से का पेड़ मैंने अच्छी तरह बोया और उसकी पर्वरिश भी समुचित रूप से की थी।

'गाड सेव दि किंग' मैं अपने परिवार के बच्चों को सिखाता। मुझे याद है कि ट्रेनिंग कालेज के विद्यार्थियों को मैंने यह सिखाया था। पर मुझे यह ठीक ठीक याद नहीं पड़ता कि यह इसी मौके

पर सिखाया था। अथवा सप्तम एडवर्ड के राज्यारोहण के प्रसंग पर। आगे चलकर मुझे यह गीत गाना अखरा। ज्यों-ज्यों मेरे मन में अहिंसा के विचार प्रबल होते गये त्यों-त्यों मैं अपनी वाणी और विचार की अधिक चौकीदारी करने लगा। इस गीत में ये दो पंक्तियाँ भी हैं—

'उसके शत्रुओं का नाश कर,
उनकी चालों को विफल कर।'

यह भाव मुझे खटका। अपने मित्र डा० बूथ के सामने मैंने अपनी कठिनाई पेश की। उन्होंने भी स्वीकार किया कि हाँ, अहिंसावादी मनुष्य को यह ज्ञान शोभा नहीं देता। जिन्हें हम शत्रु कहते हैं, वे दगाबाजी ही करते हैं, यह कैसे मान लें? यह कैसे कह सकते हैं जिन्हें हमने शत्रु मान लिया है वे सब बुरे ही हैं। ईश्वर से तो हम न्याय की ही याचना कर सकते हैं। डा० बूथ को यह दलील जँचीं। उन्होंने अपने समाज में गाने के लिए एक नये ही गीत की रचना की। ढा० बूथ का विशेष परिचय आगे करेंगे।

जिस प्रकार वफादारी का स्वाभाविक गुण मुझ में था उसी तरह शुश्रूषा का भी था। बीमारों की सेवा-शुश्रूषा का शौक, फिर बीमार चाहे अपने हों या पराये, मुझे था। राजकोट में दक्षिण आफ्रिका-संबंधी काम करते हुए मैं एक बार बंबई गया। इरादा यह था कि बड़े बड़े शहरों में सभायें करके लोकमत विशेष रूप से तैयार करना। इसीके सिल्सिले में मैं बंबई गया था। पहले तो न्यायमूर्त्ति रानाडे से मिला। उन्होंने मेरी बात ध्यान से सुनी और सर फिरोजशाह से मिलने की सलाह दी। फिर मैं जस्टिस

बदरुद्दीन तैयबजी से मिला। उन्होंने भी मेरी बात सुन कर यही सलाह दी। 'जस्टिस रानाडे से और मुझ से आपको बहुत कम सहायता मिल सकेगी। हमारी स्थिति आप जानते हैं। हम सार्व-जनिक कामों में योग नहीं दे सकते। परन्तु हमारे मनोभाव तो आपके साथ हुई हैं। हाँ, सर फिरोजशाह आपकी सहायता करेंगे।

सर फिरोजशाह से तो मैं मिलने ही वाला था। परन्तु इन दो बुजुर्गों की यह राय जान कर मुझे इस बात का ज्ञान हुआ कि सर फ़िरोजशाह का कितना अधिकार लोगों पर है।

मैं सर फिरोजशाह से मिला। मैं उनसे चकाचौंध होने के लिए तैयार ही था। उनके नाम के साथ लगे बड़े बड़े विशेषण मैंने सुन रक्खे थे। 'बंबई के सिंह' 'बंबई के बिना ताज के बादशाह' से मिलना था। परन्तु बादशाह ने मुझे भयभीत नहीं किया। जिस प्रकार पिता अपने जवान पुत्र से प्रेम के साथ मिलता है उसी प्रकार वे मुझ से मिले। उनके चेम्बर में उनसे मिला था। अनुयायियों से तो वे सदा घिरे हुए रहते ही थे। वाच्छा थे, कामा थे। उनसे मेरा परिचय कराया। वाच्छा का नाम मैंने सुना था। वे फ़िरोजशाह के दहने हाथ माने जाते थे। अंकशास्त्री के नाम से वीरचंद गांधी ने मुझे उनका परिचय कराया था। उन्होंने कहा—'गांधी, हम फिर मिलेंगे'।

दो मिनट में यह सब हो गया। सर फिरोजशाह ने मेरी बात सुन ली। न्यायमूर्त्ति रानाडे और तैयबजी से मिलने की भी बात मैंने कही। 'गांधी, तुम्हारे काम के लिए मुझे एक सभा करनी होगी। तुम्हारे काम में जरूर मदद देनी चाहिए।' मुंशी की ओर देख कर सभा का दिन निश्चय करने के लिए कहा।

दिन तय हुआ और मुझे छुट्टी मिली। कहा—'सभा के एक दिन पहले मुझ से मिल लेना।' मैं निश्चिंत होकर मन में फूलता हुआ अपने घर गया।

मेरे बहनोई बंबई में रहते थे। उनसे मिलने गया। वे बीमार थे। ग़रीब हालत थी। बहन अकेली उनकी सेवा-शुश्रूषा नहीं कर सकती थी। बीमारी सख्त थी। मैंने कहा—'मेरे साथ राजकोट चलिए।' वे राजी हुए। बहन-बहनोई को लेकर राजकोट गया। बीमारी अन्दाज़ से बाहर भीषण हो गई। मैंने उन्हें अपने कमरे में रक्खा। दिन भर मैं उनके पास ही रहता। रात को भी जगना पड़ता। उनकी सेवा करते हुए दक्षिण आफ्रिका का काम मैं कर रहा था। अन्त में बहनोईजी का स्वर्गवास हो गया। पर मुझे इस बात से कुछ संतोष रहा कि अन्त समय में उनकी सेवा करने का अवसर मुझे मिल गया।

शुश्रूषा के इस शौक ने आगे चल कर व्यापक रूप धारण किया। वह यहाँ तक कि उसमें मैं अपना काम-धन्धा छोड़ बैठता, अपनी धर्मपत्नी को भी उसमें भिड़ाता और सारे घर को लगा देता। इस वृत्ति को मैंने 'शौक' कहा है। क्योंकि मैंने देखा है कि ये गुण तभी निभते हैं जब आनन्द दायक हो जाते हैं। खींचा-तानी करके अथवा दिखावे या मुलाहिज़े के लिए जब ऐसे काम होते हैं तब वे मनुष्य को कुचल डालते हैं और उनको करते हुए भी मनुष्य मुरझा जाता है। जिस सेवा से चित्त को आनन्द नहीं मालूम होता वह न सेवक को फलती है न सेव्य को सुहाती है। जिस सेवा से चित्त आनन्दित होता है उसके सामने ऐशो-आराम या धनोपार्जन इत्यादि बातें तुच्छ मालूम होती हैं।

(२७)

बम्बई में सभा

बहनोई जी के देहान्त के दूसरे ही दिन मुझे बम्बई सभा के लिए जाना था। मुझे इतना समय न मिला था कि अपने भाषण की तैयारी कर रखता। जागरण करते करते थक रहा था। आवाज़ भी भारी हो गई थी। यह विचार करता हुआ कि ईश्वर ज्यों-त्यों निवाह लेगा, मैं बम्बई गया। भाषण लिख कर ले जाने का तो मुझे स्वप्न में भी खयाल न हुआ था।

सभा की तिथि के एक दिन पहले शाम को पांच बजे आज्ञा-अनुसार मैं सर फिरोजशाह के दफ्तर में हाजिर हुआ।

'गांधी, तुम्हारा भाषण तैयार है न?' उन्हों ने पूछा।

'नहीं तो, मैंने तो ज़बानी ही भाषण करने का इरादा कर रक्खा है' मैंने डरते डरते उत्तर दिया।

'बम्बई में ऐसा न चलेगा। यहाँ का रिपोर्टिंग ख़राब है, और यदि हम चाहते हों कि सभा से लाभ हो तो तुम्हारा भाषण लिखित ही होना चाहिए और रातों-रात छपा लेना चाहिए। रात ही को भाषण लिख सकोगे न?'

मैं पशोपेश में पड़ा। परन्तु मैंने लिखने की कोशिश करना स्वीकार किया।

'तो मुनशी तुमसे भाषण लेने कब आवे?' बम्बई के सिंह बोले।

'ग्यारह बजे।' मैंने उत्तर दिया।

सर फिरोजशाह ने मुनशी को हुक्म दिया कि उतने बजे जा कर मुझ से भाषण ले आवें और रातों-रात उसे छपा लें और मुझे विदा किया।

दूसरे दिन सभा में गया। मैंने देखा कि लिखित भाषण पढ़ने की सलाह कितनी बुद्धिमत्तापूर्ण थी। फ्रामजी कावसजी इन्स्टीट्यूट के हाल में सभा थी। मैंने सुन रक्खा था कि सर फिरोजशाह के भाषण में सभा-भवन में खड़े रहने को जगह न मिलती थी। विद्यार्थी लोग उसमें खूब दिलचस्पी लेते थे।

ऐसी सभा का यह मुझे पहला अनुभव था। मुझे विश्वास हो गया कि मेरी आवाज लोगों तक नहीं पहुँच सकती। काँपते काँपते मैंने अपना भाषण पढ़ना शुरू किया। सर फिरोजशाह मुझे उत्साहित करते जाते—'हाँ, जरा और ऊँची आवाज से।' ज्यों ज्यों वे ऐसा कहते त्यों त्यों मेरी आवाज गिरती जाती थी।

मेरे पुराने मित्र केशवराव देशपाण्डे मेरी मदद के लिए दौड़े। उनके हाथ में मैंने भाषण दिया। उनकी आवाज थी तो बुलन्द पर प्रेक्षक क्यों सुनने लगे? 'वाच्छा' 'वाच्छा' की पुकार से हाल गूंज उठा। वाच्छा उठे। उन्होंने देशपाण्डे के हाथ से क़ागज लिया और मेरा काम बन गया। सभा में तुरंत सन्नाटा छा गया और लोगों ने अथ से इति तक भाषण सुना। मामूल के

मुताबिक, प्रसंगानुसार, 'शर्म' 'शर्म' अथवा करतल-ध्वनि हुई। मैं खुश हुआ।

सर फिरोजशाह को भाषण पसंद आया। मुझे गंगा नहाने के बराबर सन्तोष हुआ।

इस सभा के फल-स्वरूप देशपाण्डे तथा एक पारसी सज्जन ललचाये। पारसी सज्जन आज एक पदाधिकारी हैं, इसलिए उनका नाम प्रकट करते हुए हिचकता हूँ। जज खरशेदजी ने उनके निश्चय को डाँवाडोल कर दिया। उसकी तह में एक पारसी बहन थी। विवाह करें या दक्षिण आफ्रिका जायँ, यह समस्या थी? अन्त को विवाह कर लेना ही उन्होंने अधिक उचित समझा। परन्तु इन पारसी मित्र की तरफ से पारसी रुस्तमजी ने प्रायश्चित किया। और पारसी बहन की ओर से दूसरी पारसी बहनें सेविका बन कर, खादी के लिए वैराग ले कर, प्रायश्चित कर रही हैं। इस कारण इस दम्पती को मैंने माफ कर दिया है। देश-पाण्डे को विवह का प्रलोभन तो न था। पर वे भी न आ सके। इसका प्रायश्चित वे खुद ही कर रहे हैं। लौटती बार रास्ते में जंजीबार पड़ता था। वहाँ एक तैयबजी से मुलाकात हुई। उन्होंने भी आने की आशा दिलाई थी—पर वे भला दक्षिण आफ्रिका क्यों आने लगे? उनके न आने के गुनाह का बदला अब्बास तैयबजी चुका रहे हैं। परन्तु बैरिस्टर मित्रों को दक्षिण आफ्रिका आने के लिए लुभाने के मेरे प्रयत्न इस तरह विफल हुए।

यहाँ मुझे पेस्तनजी पादशाह याद आते हैं। विलायत से ही उनका मेरा मधुर सम्बन्ध हो गया था। पेस्तनजी से मेरा परिचय लन्दन के अन्नाहारी भोजनालय में हुआ था। उनके भाई बरजोरजी

दीवाना प्रख्यात थे। मैंने उनकी ख्याति सुनी थी। मिला न था। परन्तु मित्र लोग कहते, वे 'चक्रम्' (सनकी) हैं। घोड़े पर दया खा कर ट्राम में नही बैठते, शतावधानी की तरह स्मरण शक्ति होते हुए भी डिग्री के फेर में नहीं पड़ते, इतने आजाद मिजाज के कि किसी के दम-झांसे में नहीं आते और पारसी होते हुए भी अन्नाहारी! पेस्तनजी की डिग्री इतनी बढ़ी हुई तो नहीं समझी जाती थी; पर फिर भी उनका बुद्धि-वैभव प्रसिद्ध था। विलायत में भी उनकी ऐसी ख्याति थी। परन्तु उनके मेरे सम्बन्ध का मूल तो था उनका अन्नाहार। उनके बुद्धि-वैभव का मुकाबला करना मेरे सामर्थ्य के बाहर था।

बंबई में मैंने पेस्तनजी को खोज निकाला। ये प्रोथोनोटरी थे। जब मैं मिला तब आप बृहद् गुजराती शब्द-कोष के काम में लगे हुए थे। दक्षिण आफ्रिका के काम में मदद लेने के संबन्ध में मैंने एक भी मित्र को नहीं छोड़ा था। पेस्तनजी पादशाह ने तो मुझे ही उल्टे दक्षिण आफ्रिका न जाने की सलाह दी! 'मैं तो भला आपको क्या मदद दे सकता हूँ; पर मुझे तो आपका ही वापस वहाँ लौटना पसन्द नहीं। यहां, अपने देश में ही, क्या कम काम है? देखिए, अभी अपनी मातृ-भाषा की सेवा का ही कितना क्षेत्र सामने पड़ा हुआ है? मुझे विज्ञान-सम्बन्धी शब्दों के पर्याय खोजना है। यह हुआ एक काम। देश की ग़रीबी का विचार कीजिए। हाँ, दक्षिण आफ्रिका में हमारे लोगों को कष्ट हैं; पर उसमें आपके जैसे लोग खप जायँ, यह मुझे बरदाश्त नहीं हो सकता। यदि हम यहीं राज्य-सत्ता अपने हाथ में ले सकें तो वहाँ उनकी मदद अपने आप हो जायगी। आपको शायद मैं न समझा

सकूँगा, परन्तु दूसरे सेवकों को आपके साथ ले जाने में मैं आप को हरगिज़ सहायता न दूंगा।' ये बातें मुझे अच्छी तो न लगीं, परन्तु पेस्तनजी पादशाह के प्रति मेरा आदर बढ़ गया। उनका देश-प्रेम, भाषा-प्रेम देख कर मैं मुग्ध हो गया। इस प्रसङ्ग के बदौलत मेरी उनकी प्रेम-गांठ मज़बूत हो गई। उनके दृष्टि-बिन्दु को मैं ठीक ठीक समझ गया। परन्तु दक्षिण आफ्रिका के काम को छोड़ने के बदले, उनकी दृष्टि से भी, मुझे तो उसी पर अधिक दृढ़ होना चाहिए—यह मेरा विचार हुआ। देश-प्रेमी एक भी अंग को जहाँ तक हो न छोड़े। और मेरे सामने तो गीता का श्लोक तैयार ही था—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर-धर्मो भयावहः ॥ *

बढ़कर पर धर्म से घटिया स्वधर्म अच्छा है। स्वधर्म में मौत भी उत्तम है, परधर्म तो भयकर्त्ता है।

---

* अ० ३ श्लोक ३५

(२८)

पूना में

सर फिरोजशाह ने मेरा रास्ता सरल कर दिया। बंबई से मैं पूना गया। मैं जानता था कि पूना में दो पक्ष थे। मुझे तो सब की सहायता की ज़रूरत थी। मैं लोकमान्य से मिला। उन्होंने कहा—

'सब दलों की सहायता प्राप्त करने का आपका विचार ठीक है। आप के प्रश्न के सम्बन्ध में मत-भेद हो ही नहीं सकता। परन्तु आप के काम के लिए किसी तटस्थ सभापति की आवश्यकता है। आप प्रोफ़ेसर भण्डारकर से मिलिए। यों तो वे आजकल किसी हलचल में पड़ते नहीं हैं। पर शायद इस काम के लिए 'हां' कर लें। उनसे मिलकर नतीजे की खबर मुझे कीजियेगा। मैं आपको पूरी पूरी सहायता देना चाहता हूं। आप प्रोफेसर गोखले से अवश्य मिलिएगा। मुझसे जब कभी मिलने की इच्छा हो जरूर आइएगा।

लोकमान्य के यह मुझे पहले दर्शन थे। उनकी लोक-प्रियता का कारण मैं तुरन्त समझ गया।

यहाँ से मैं गोखले के पास गया। वे फर्ग्युसन कालेज में थे।

बड़े प्रेम से मुझ से मिले और मुझे अपना बना लिया। उनका भी यह प्रथम ही परिचय था। पर ऐसा मालूम हुआ मानों हम पहले ही मिल चुके हों। सर फिरोजशाह मुझे हिमालय जैसे मालूम हुए। लोकमान्य समुद्र की तरह मालूम हुए। गोखले गंगा की तरह मालूम हुए। उसमें मैं नहा सकता था। हिमालय पर चढ़ना मुश्किल, समुद्र में डूबने का भय रहता है। पर गंगा की गोदी में खेल सकते हैं। उसमें डोंगी पर चढ़ कर तैर सकते हैं। गोखले ने सूक्ष्म रीति से बातें पूँछीं—जैसी कि मदरसे में भरती होते समय विद्यार्थी से की जाती हैं। किन किस से मिलूँ, और किस प्रकार मिलूँ यह बताया और मेरा भाषण देखने के लिए मांगा। मुझे कालेज की व्यवस्था दिखाई। कहा—'जब मिलना हो खुशी से मिलना और डाक्टर भण्डारकर का उत्तर मुझे जनाना' यह कहकर मुझे बिदा किया। राजनैतिक क्षेत्र में गोखले ने जीतेजी जैसा आसन मेरे हृदय में जमाया और जो देहान्त के बाद आज भी जमा हुआ है वैसा फिर कोई न जमा सका।

रामकृष्ण भण्डारकर मुझ से उसी तरह पेश आये जिस तरह पिता पुत्र से पेश आता है। मैं दोपहर के समय उनके यहाँ गया था। ऐसे समय भी मैं अपना काम कर रहा था यह बात इस परिश्रमी शास्त्रज्ञ को प्रिय हुई और तटस्थ अध्यक्ष बनाने को मेरे आग्रह पर 'दैट्स इट' 'दैट्स इट' 'यही ठीक है' 'यही ठीक है' ये उद्गार उनके मुँह से सहज ही निकल पड़े।

बातचीत के अन्त मे उन्होंने कहा—'तुम किसी से भी पूछोगे तो वह कह देगा कि आजकल मैं किसी भी राजनैतिक काम में

नहीं पड़ता हूँ। परन्तु तुमको मैं विमुख नहीं कर सकता। तुम्हारा मामला इतना मजबूत है और तुम्हारा उद्यम इतना स्तुत्य है कि मैं तुम्हारी सभा में आने से इन्कार नहीं कर सकता। श्रीयुत तिलक और श्रीयुत गोखले से तुम मिल ही लिए हो, यह अच्छा हुआ। उनसे कहना कि दोनों पक्ष जिस सभा में मुझे बुलावेंगे मैं आजाऊँगा। और अध्यक्ष-स्थान ग्रहण कर लूँगा। समय के बारे में मुझसे पूछने की आवश्यकता नहीं। जो समय दोनों पक्षों को अनुकूल होगा उसी की पाबंदी मैं कर लूँगा।' यह कह कर मुझे धन्यवाद और आशीर्वाद दे कर बिदा किया।

बिना कुछ गुल-गपाड़े के, बिना कुछ आडम्बर के, एक सादे मकान में पूना के इस विद्वान् और त्यागी मण्डल ने सभा की और मुझे पूरा पूरा प्रोत्साहन दे कर बिदा किया।

मैं यहाँ से मदरास गया। मदरास तो पागल हो उठा। बाला-सुन्दरम् के किस्से का बड़ा गहरा असर सभा पर पड़ा। मेरा भाषण कुछ लम्बा था। सब छपा हुआ था। परन्तु एक एक शब्द सभा ने मन लगा कर सुना। सभा के अन्त में उस हरी पुस्तिका पर लोग टूट पड़े। मदरास में कुछ घटा-बढ़ा कर उसका दूसरा संस्करण दस हज़ार का छपवाया। उसका बहुतांश निकल गया। पर मैंने देखा कि दस हज़ार की जरूरत न थी, लोगों के उत्साह को मैंने अधिक आँक लिया था। मेरे भाषण का असर तो अंग्रेज़ी बोलने वालों पर ही हुआ था। अकेले मदरास में अंग्रेजीदाँ लोगों के लिए दस हज़ार प्रतियों की आवश्यकता न थी।

यहाँ मुझे बड़ी से बड़ी सहायता स्वर्गीय जी० परमेश्वरन् पिल्ले से मिली। वे 'मदरास स्टैंडर्ड' के सम्पादक थे। उन्होंने इस प्रश्न

का अच्छा अध्ययन कर लिया था। वे बार बार मुझे अपने दफ्तर में बुलाते और सलाह देते। 'हिन्दू' के जी० सुब्रह्मण्यम् से भी मिला था। उन्होंने तथा डा० सुब्रह्मण्यम् ने भी पूरी पूरी हमदर्दी दिखाई। परन्तु जी० परमेश्वरन् पिल्ले ने तो अपना अखबार इस काम के लिए मानों मेरे हवाले ही कर दिया और मैंने भी दिल खोल-कर उसका उपयोग किया। सभा पाच्यापा हाल में हुई थी और डा० सुब्रह्मण्यम् अध्यक्ष हुए थे, ऐसा मुझे स्मरण है।

मदरास में मैंने बहुतों का प्रेम और उत्साह इतना देखा कि यद्यपि वहाँ सब के साथ मुख्यतः अंग्रेजी में ही बोलना पड़ता था, फिर भी मुझे घर के जैसा ही मालूम हुआ। सच है, प्रेम किन बंधनों को नहीं तोड़ सकता ?

---

(२९)

'जल्दी लौटो'

मदरास से कलकत्ता गया। कलकत्ते में मेरी कठिनाइयों की सीमा न रही। वहाँ 'ग्रेट ईस्टर्न' होटल में उतरा। न किसी से जान न पहचान। होटल में 'डेली टेलिग्राफ' के प्रतिनिधि मि० एलर थार्प से पहचान हुई। वे रहते थे बंगाल क्लब में। वहाँ उन्होंने मुझे बुलाया। उस समय उन्हें पता न था कि होटल के दीवान खाने में कोई हिन्दुस्तानी नहीं जा सकता। बाद को उन्हें इस रुकावट का हाल मालूम हुआ। इसलिए वे मुझे अपने कमरे में ले गये। भारतवासियों के प्रति स्थानीय अंग्रेजों के इस हेय भाव को देख कर उन्हें खेद हुआ। दीवानखाने में न लेजा सकने के लिए मुझ से माफी मांगी।

'बंगाल के देव' सुरेन्द्रनाथ बनरजी से मिलना था ही। उन से मिला। जब मैं मिलने गया तब दूसरे मिलने वाले भी उन्हें घेरे हुए थे। उन्होंने कहा—'मुझे अन्देशा है कि आपकी बात में यहाँ के लोग दिलचस्पी न लेंगे। आप देखते ही हैं कि यहाँ हम-लोगों को कम मुसीबतें नहीं हैं। फिर भी आपको तो भरसक कुछ न कुछ करना ही है। इस काम में आपको महाराजाओं की

मदद की जरूरत होगी। ब्रिटिश इंडिया एसोसियेशन के प्रतिनिधियों से मिलिएगा। राजा सर प्यारीमोहन मुकर्जी और महाराजा टागोर से भी मिलिएगा। दोनों उदार-हृदय हैं और सार्वजनिक कामों में अच्छा भाग लेते हैं।' मैं इन सज्जनों से मिला। पर वहाँ मेरी दाल न गली। दोनों ने कहा—'कलकत्ता में सभा करना आसान बात नहीं। पर यदि करना ही हो तो उसका बहुत-कुछ दारो-मदार सुरेन्द्रनाथ बैनरजी पर है।'

मेरी कठिनाइयाँ बढ़ती जाती थीं। 'अमृत-बाज़ार पत्रिका' के दफ्तर में गया। वहाँ भी जो सज्जन मिले उन्होंने मान लिया कि मैं कोई रमताराम वहाँ आ पहुंचा हूँगा। 'बंगवासी' वालों ने तो हद कर दी। मुझे एक घण्टे तक तो बैठा ही रक्खा। औरों के साथ तो सम्पादक महोदय बातें करते जाते; पर मेरी ओर आँख उठा कर भी न देखते। एक घण्टा राह देखने के बाद मैंने अपनी बात उन से छेड़ी। तब उन्होंने कहा—'आप देखते नहीं हमें कितना काम रहता है? आप के जैसे कितने ही यहाँ आते-रहते हैं। आप चले जायँ यही अच्छा है। हम आपकी बात सुनना नहीं चाहते।' मुझे ज़रा देर के लिए रंज तो हुआ पर मैं सम्पादक का दृष्टि-बिन्दु समझ गया। 'बंगवासी' की ख्याति भी सुनी थी। मैं देखता था कि उनके पास आने-जाने वालों का ताँता लगा रहता था। वे सब उनके परिचित थे। उनके अखबार के लिए विषयों की कमी न थी। दक्षिण आफ्रिका का तो नाम उन दिनों नया ही नया था। नित-नये आदमी आ कर अपनी कष्ट-कथा उन्हें सुनाते। अपना अपना दुःख हरेक के लिए सब से बड़ा सवाल था। परन्तु संपादक के पास ऐसे दुखियों का अड्डा लगा रहता। बेचारा सब

को तसल्ली कैसे दे ? फिर दुःखी आदमी के लिए तो सम्पादक की सत्ता एक भारी बात होती है। यह दूसरी बात है कि सम्पादक जानता रहता है कि मेरी सत्ता दफ्तर के दरवाजे के बाहर पैर नहीं रख सकती।

मैं हिम्मत न हारा। दूसरे संपादकों से मिला। अपने मामूल के माफिक अंग्रेज़ों से भी मिला। 'स्टेट्समैन' और इंग्लिशमैन, दोनों दक्षिण आफ्रिका के प्रश्न का महत्व समझते थे। उन्होंने मेरी लंबी-लंबी बात-चीत छापी। 'इंग्लिशमैन' के मि० सांडर्स ने मुझे अपनाया। उनका दफ्तर मेरे लिए खुला था; उनका अख़बार मेरे लिए खुला था। अपने अग्रलेख में कमोवेशी करने की भी छूट मुझे दे दी। यह भी कहूँ तो अत्युक्ति नहीं कि उनका मेरा ख़ासा स्नेह हो गया। उन्होंने भरसक मदद देने का वचन दिया। मुझ से कहा कि 'दक्षिण आफ्रिका जाने के बाद भी मुझे पत्र लिखिएगा।' और वचन दिया कि मुझ से जो कुछ हो सकेगा करूँगा। मैंने देखा कि उन्होंने अपना यह वचन अक्षरशः पाला। और जब तक कि उनकी तबीयत खराब न हो गई, इन्होंने मेरे साथ चिट्ठी-पत्री जारी रक्खी। मेरी जिंदगी में ऐसे अकल्पित मीठे संबंध अनेक हुए हैं। मि० सांडर्स को मेरे अन्दर जो सब से अच्छी बात लगी वह थी अत्युक्ति का अभाव और सत्य-परायणता। उन्होंने मुझसे जिरह करने में कोरकसर न रक्खी थी। उसमें उन्होंने अनुभव किया कि दक्षिण आफ्रिका के गोरों के पक्ष को निष्पक्ष होकर पेश करने में तथा उसके तौलने में मैंने कोई कमी नहीं रक्खी थी।

मेरा अनुभव कहता है कि प्रतिपक्षी के साथ न्याय करके हम अपने लिए जल्दी न्याय प्राप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार मुझे अकल्पित सहायता मिल जाने से कलकत्ते में भी सभा करने की आशा बंधी पर इसी अरसे में डरबन से तार मिला—'पार्लियामेंट की बैठक जनवरी में होगी, जल्दी लौटो।'

इस कारण अख़बारों में इस आशय की एक चिठ्ठी लिखकर कि मुझे तुरन्त दक्षिण आफ्रिका चला जाना जरूरी है, मैंने कलकत्ता छोड़ा और दादा अब्दुल्ला के एजंट को तार दिया कि पहले जहाज़ से जाने का इन्तजाम करो। दादा अब्दुल्ला ने खुद 'कुरलेंड' जहाज़ खरीद लिया था। उसमें उन्होंने मुझे तथा मेरे बाल-बच्चों को ले जाने का आग्रह किया। मैंने धन्यवाद-सहित स्वीकार किया और दिसम्बर के आरंभ में, 'कुरलेंड' में मेरी धर्म-पत्नी, मेरे दो बच्चे और मेरे स्वर्गीय बहनोई के इकलौते पुत्र को ले कर दूसरी बार दक्षिण आफ्रिका रवाना हुआ। इस जहाज़ के साथ ही 'नादरी' नामक एक और जहाज़ डरबन रवाना हुआ। उसके एजएट दादा अब्दुल्ला थे। दोनों जहाजों में मिला कर कोई ८०० यात्री थे। आधे से अधिक यात्री ट्रान्सवाल जाने वाले थे।

दूसरा भाग समाप्त

सत्य के प्रयोग अथवा आत्म-कथा

[तीसरा भाग]

(१)

तूफान के चिन्ह

परिवार के साथ यह मेरी प्रथम जल-यात्रा थी। मैंने कई बार लिखा है कि हिन्दू-संसार में विवाह बचपन में हो जाने से, तथा मध्यमवर्ग के लोगों में पति के बहुतांश में साक्षर और पत्नी के निरक्षर होने के कारण, पति-पत्नी के जीवन में अन्तर रहता है, और पति को पत्नी का शिक्षक बनना पड़ता है। मुझे अपनी धर्म-पत्नी के तथा बालकों के लिवास पर, खान-पान पर, तथा बोल-चाल पर ध्यान रखने की आवश्यकता थी। मुझे उन्हें रहन-सहन और रीति-नीति सिखानी थी। उस समय की कितनी ही बातें याद करके मुझे अब हँसी आ जाती है। हिन्दू पत्नी पति-परायणता को अपने धर्म की पराकाष्ठा समझती है। हिन्दू पति अपने को पत्नी का ईश्वर मानता है। इस कारण पत्नी को जैसा वह नचावे नाचना पड़ता है।

मैं जिस समय की बात लिख रहा हूँ उस समय मैं मानता था कि सुधरा हुआ समझा जाने के लिए हमारा बाह्याचार जहाँ तक हो यूरोपियनों से मिलता-जुलता होना चाहिए। ऐसा करने ही से रौब पड़ता है और रौब पड़े बिना देश-सेवा नहीं हो सकती।

इस कारण पत्नी का तथा बालकों का पहनाव मैंने ही पसंद किया। बालकों इत्यादि को लोग कहें कि काठियावाड़ के बनिये हैं तो यह कैसे सुहा सकता था ? पारसी अधिक से अधिक सुधरे हुए माने जाते हैं। इस कारण जहाँ यूरोपियन पोशाक का अनुकरण करना ठीक न मालूम हुआ तहाँ पारसी का किया। पत्नी के लिए पारसी तर्ज की साड़ियाँ लीं। बच्चों के लिए पारसी कोट-पतलून लिये। सब के लिए बूट-मौजे तो अवश्य चाहिए। पत्नी को तथा बच्चों को दोनों चीजें कई महीनों तक पसंद न हुईं। बूट काटते, मौजे बदबू करते, पैर तंग रहते। इन अड़चनों का उत्तर मेरे पास तैयार था। और उत्तर के औचित्य की अपेक्षा हुक्म का बल तो अधिक था ही। इसलिए लाचार हो कर पत्नी तथा बच्चों ने पोशाक-परिवर्तन को स्वीकार किया। उतनी ही बेबसी और उससे भी अधिक अनमने हो कर भोजन के समय छुरी-काँटे का इस्तेमाल करने लगे। जब मेरा मोह उतरा तब फिर उन्हें बूट-मौजे, छुरी-काँटे इत्यादि छोड़ने पड़े। यह परिवर्तन जिस प्रकार दुखदायी था उस प्रकार एक बार आदत पड़ जाने के बाद फिर उनको छोड़ना भी दुःखकर था। पर अब मैं देखता हूँ कि हम सब सुधारों की केंचुल को छोड़कर हलके हो गये हैं।

इसी जहाज में दूसरे सगे सम्बन्धी तथा परिचित लोग थे। उनके तथा डेक के दूसरे यात्रियों के भी परिचय में मैं खूब आता। एक तो मवक्किल और फिर मित्र का जहाज घर के जैसा मालूम होता और मैं हर जगह जहाँ जी चाहता जा सकता था।

जहाज़ दूसरे बंदरों पर ठहरे बिना ही नेटाल पहुँचने वाला था। इसलिए सिर्फ़ १८ दिन की यात्रा थी। मानों हमारे पहुँचते

ही, भारी तूफान की चेतावनी देने के लिए, हमारे पहुँचने के तीन-चार दिन पहले, समुद्र में भारी तूफान उठा। इस दक्षिण प्रदेश में दिसम्बर मास गरमी और बरसात का समय होता है। इस कारण दक्षिण समुद्र में इन दिनों छोटे-बड़े तूफान अक्सर उठा करते हैं। तूफान इतने जोर का था और इतने दिनों तक रहा कि मुसाफिर घबरा गये।

यह दृश्य भव्य था। दुःख में सब एक हो गये। भेद-भाव भूल गये। ईश्वर को सच्चे हृदय से स्मरण करने लगे। हिन्दू-मुसलमान सब साथ मिलकर ईश्वर को याद करने लगे। किसी ने मानतायें मानीं, कप्तान भी यात्रियों में आ कर आश्वासन देने लगा कि यद्यपि तूफान जोर का है, फिर भी इससे बड़े-बड़े तूफानों का अनुभव मुझे है। जहाज यदि मजबूत हो तो एका-एक डूबता नहीं। इस तरह उसने मुसाफिरों को बहुत समझाया, पर उन्हें किसी तरह तसल्ली न होती थी। जहाज़ में आवाजें ऐसी ऐसी निकलतीं मानों जहाज़ अभी कहीं न कहीं से टूटा पड़ता है, अभी कहीं छेद होता है। झोले इतने खाता कि जान पड़ता, अभी उलट जायगा। डेक पर तो खड़ा रहना ही मुश्किल था। 'ईश्वर जो करे सो सही' इसके सिवा दूसरी बात किसी के मुंह से न निकलती।

मुझे जहाँ तक याद है, ऐसी चिन्ता में चौबीस घण्टे बीते होंगे। अन्त को बादल बिखरे, सूर्यनारायण ने दर्शन दिये। कप्तान ने कहा—'अब तूफान जाता रहा।'

लोगों के चेहरों से चिन्ता दूर हुई, और उसके साथ ही ईश्वर भी चला गया! मौत का डर दूर हुआ और उसके साथ ही फिर गान-तान, खान-पान शुरू हो गया; फिर माया का आवरण चढ़ा।

नमाज पढ़ी जाती, भजन होते; परन्तु तूफान के अवसर पर उसमें जो गम्भीरता दिखाई देती थी, वह न रही !

परन्तु इस तूफान के बदौलत मैं यात्रियों में हिल मिल गया था। यह कह सकते हैं कि मुझे तूफान का भय न था अथवा कम से कम था। प्राय: इसी तरह के तूफान मैं पहले देख चुका था। जहाज में मेरा जी नहीं मिचलाता, चक्कर नहीं आते—इसलिए मुसाफिरों में मैं निर्भय हो कर घूम-फिर सकता था। उन्हें आश्वासन दे सकता था। और कप्तान के संदेश उन तक पहुँचाता था। यह स्नेह गाँठ मुझे बहुत उपयगी साबित हुई।

हमने १८ या १९ दिसम्बर को डरबन के बंदर पर लंगर डाला। 'नादरी' भी उसी दिन पहुचा।

पर सच्चे तूफान का अनुभव तो अभी होना बाकी ही था।

---

(२)

तूफान

अठारह दिसम्बर के आस-पास दोनों जहाजों ने लंगर डाला। दक्षिण आफ्रिका के बंदरों में यात्रियों की पूरी पूरी डाक्टरी जांच होती है। यदि रास्ते में किसी को कोई संक्रामक रोग हो गया हो तो जहाज़ सूतक में—क्वारन्टीन में—रक्खा जाता है। हमने जब बंबई छोड़ी, तब वहाँ प्लेग चल रहा था। इसलिए हमें सूतक-बाधा होने का कुछ तो भय था ही। बंदर में लंगर डालने के बाद जहाज़ सब से पहले पीला झण्डा फहराता है। डाक्टरी जांच के बाद जब डाक्टर छुट्टी देता है, तब पीला झण्डा उतरता है और फिर मुसाफिरों के नाते-रिश्तेदारों को जहाज़ पर आने की छुट्टी मिलती है।

इसके मुताबिक हमारे जहाज़ पर भी पीला झण्डा लहरा रहा था। डाक्टर आये। जांच करके पांच दिन के सूतक का हुक्म दिया। क्योंकि उनकी यह धारणा थी कि प्लेग के जन्तु २३ दिन तक कायम रहते हैं। इसलिए उन्होंने यह तय किया कि बंबई छोड़ने के बाद २३ दिन तक सूतक में रखना चाहिए।

परन्तु इस सूतक के हुक्म का हेतु केवल आरोग्य न था।

डरबन के गोरे हमें फिर वापिस लौटाने की हलचल मचा रहे थे। इस हुक्म में वह भी कारणीभूत थी।

दादा अबदुल्ला की ओर से हमें शहर की इस हलचल की खबरें मिला करती थीं। गोरे एक के बाद एक विराट् सभायें कर रहे थे। दादा अबदुल्ला को धमकियां भेज रहे थे। उन्हें लालच भी दिखाते थे। यदि दादा अबदुल्ला दोनों जहाजों को वापस लौटा दें तो उन्हें सारा हरजाना देने को तैयार थे। दादा अबदुल्ला किसी की धमकियों से डरने वाले न थे। इस समय वहाँ सेठ अबदुल करीम हाजी आदम दुकान पर थे। उन्होंने प्रतिज्ञा कर रक्खी थी कि चाहे जितना नुकसान हो, मैं जहाज को बंदर पर ला कर मुसाफिरों को उतरवा कर छोड़ूंगा। मुझे वे सविस्तर पत्र हमेशा लिखा करते। तकदीर से इस बार स्वर्गीय मनसुखलाल हीरालाल नाजर मुझे मिलने डरबन से आ पहुँचे थे। वे बड़े चतुर और जवांमर्द आदमी थे। उन्होंने लोगों को सलाह दी। उनके वकील मि० लाटन थे। वे भी वैसे ही बहादुर आदमी थे। उन्होंने गोरों के काम की खूब निन्दा की, और लोगों को जो सलाह दी वह केवल वकील की हैसियत से फीस लेने के लिए नहीं, बल्कि एक सच्चे मित्र के तौर पर दी थी।

इस तरह डरबन में द्वंद्व-युद्ध छिड़ा। एक ओर बेचारे मुट्ठी-भर भारतवासी और उनके इने-गिने अंग्रेज मित्र; तथा दूसरी ओर धन-बल, बाहुबल, अक्षर-बल और संख्या-बल में भरे-पूरे अंग्रेज। फिर इस बलशाली प्रतिपक्षी के साथ सत्ता-बल भी मिल गया। क्योंकि नेटाल सरकार ने प्रकाश्य रूप से उसकी सहायता की। मि० हैरी ऐस्कम्ब जो प्रधान मण्डल में थे और उसके कर्त्ता

हर्ता थे, उन्होंने इस मण्डल की सभा में खुले तौर पर भाग लिया था।

इसलिए हमारा सूतक केवल आरोग्य के नियमों का ही एहसानमंद न था। बात यह थी कि एजण्ट को अथवा यात्रियों को किसी न किसी बहाने तंग करके हमें वापस लौटाने की तजवीज थी। एजण्ट को तो धमकी दी ही गई थी। अब हमें भी धमकियाँ दी जाने लगीं। 'यदि तुम लोग वापस न लौटोगे तो समुद्र में डुबा दिये जावोगे। यदि लौट जाओगे तो शायद लौटने का किराया भी मिल जायगा।' मैं मुसाफिरों में खूब घूमा फिरा, और उन्हें धीरज दिलासा देता रहा। 'नादरी' के यात्रियों को भी धीरज के संदेश भेजे। मुसाफिर शान्त रहे और उन्होंने हिम्मत दिखाई।

मुसाफिरों के मनोविनोद के लिए जहाज में तरह तरह के खेल रक्खे गये थे। क्रिसमस के दिन आये। कप्तान ने उन दिनों पहले दरजे के मुसाफिरों को भोज दिया। यात्रियों में मुख्यतः तो मैं और मेरे बाल बच्चे ही थे। भोजन के बाद व्याख्यान का नंबर आया। मैंने पश्चिमी सुधारों पर व्याख्यान दिया। मैं जानता था कि यह अवसर गंभीर भाषण के अनुकूल नहीं है। पर मैं दूसरी तरह का भाषण कर ही नहीं सकता था। हाँ, विनोद और आमोद-प्रमोद की बातों में मैं शरीक तो होता था; पर मेरा दिल तो डरबन में छिड़े संग्राम की ओर लग रहा था।

क्योंकि इस हमले का मध्यबिन्दु मैं था। मुझ पर दो इल्ज़ाम थे—

(१) हिन्दुस्तान में मैंने नेटाल के गोरों की अनुचित निन्दा की है और

(२) मैं नेटाल को हिन्दुस्तानियों से भर देना चाहता हूँ। और इसीलिए 'कुरलैंड' और 'नादरी' में खास तौर पर नेटाल में बसाने के लिए हिन्दुस्तानियों को भर लाया हूँ।

मुझे अपनी जिम्मेदारी का खयाल था। मेरे कारण दादा अवदुल्ला ने वड़ी जोखिम सिर ले ली थी। मुसाफिरों की जान जोखिम में थी और अपने वाल-वच्चों को साथ ला कर उन्हें भी दुःख में डाल दिया था।

फिर भी मैं था सब तरह निर्दोष। मैंने किसी को नेटाल जाने के लिए ललचाया न था। 'नादरी' के यात्रियों को तो मैं जानता तक न था। 'कुरलैंड' में, अपने दो तीन रिश्तेदरों के अलावा, जो और सैकड़ों मुसाफिर थे, उनके तो नाम-ठाम तक न जानता था। मैंने हिन्दुस्तान में नेटाल के अंग्रेजों के संवंध में ऐसा एक भी अक्षर न कहा था जो नेटाल में न कह चुका था और जो कुछ मैंने कहा था उसके लिए मेरे पास वहुतेरे सवूत थे।

इस कारण उस संस्कृति के प्रति जिसकी कि उपज नेटाल के गोरे थे, जिसके वे प्रतिनिधि और हामी थे, मेरे मन में वड़ा खेद उत्पन्न हुआ। मैं उसीका विचार करता रहता था। और इस कारण उसीके संवंध में अपने विचार मैंने इस छोटीसी सभा में पेश किये और श्रोताओं ने उन्हें सहन भी किया। जिस भाव से मैंने उन्हें पेश किया था उसी भाव में कप्तान इत्यादि ने उन्हें ग्रहण किया था। मैं यह नहीं जानता कि उसके कारण उन्होंने अपने जीवन में कोई परिवर्तन किया या नहीं; पर इस भाषण के वाद कप्तान तथा दूसरे अधिकारियों के साथ पश्चिमी संस्कृति के संवंध में मेरी वहुतेरी वातें हुईं। पश्चिमी संस्कृति को मैंने प्रधानतः हिंसक

बताया; पूर्व की संस्कृति को अहिंसक। प्रश्नकर्ताओं ने मेरे सिद्धान्त मुझी पर घटाये। बहुत करके कप्तान ने पूछा—

'गोरे लोग जैसी धमकियाँ दे रहे हैं उसीके अनुसार यदि वे आपको हानि पहुँचावें तो आप फिर अपने अहिंसा सिद्धान्त का पालन किस तरह करेंगे?'

मैंने उत्तर दिया—'मुझे आशा है कि उन्हें माफ कर देने की तथा उन पर मामला न चलाने की हिम्मत और बुद्धि ईश्वर मुझे दे देगा। आज भी मुझे उन पर रोष नहीं है। उनके अज्ञान, उनकी संकुचित दृष्टि पर मुझे अफसोस होता है। हाँ, मैं यह मानता हूँ कि वे शुद्ध भाव से यह मान रहे हैं कि हम जो कुछ कह रहे हैं वह ठीक है। इसलिए मुझे उन पर रोष करने का कारण नहीं।' पूछने वाला हँसा। शायद उसे मेरी बात पर भरोसा न हुआ।

इस तरह हमारे दिन गुजरे और बढ़ते गये। सूतक बंद करने की मियाद अन्त तक मुकर्रर न हुई। इस विभाग के कर्मचारी से पूछता तो कहता 'यह बात मेरे अख्त्यार के बाहर है। सरकार मुझे जब हुक्म देगी तब मैं उतरने दे सकता हूँ।'

अन्त को मुसाफिरों पर और मुझपर आखिरी चेतावनियाँ आईं। दोनों को धमकियाँ दी गई थीं कि अपनी जान को खतरे में समझो। दोनों ने लिखा कि नेटाल के बन्दर में उतरने का हमें हक हासिल है, और चाहे जैसा खतरा क्यों न हो, हम अपने हक पर कायम रहना चाहते हैं।

अन्त को तेईसवें दिन अर्थात् १३ जनवरी को जहाज को इजाजत मिली और मुसाफिरों को उतरने देने की आज्ञा प्रकाशित हो गई।

(३)

कसौटी

जहाज़ धक्के पर आया। मुसाफिर उतरे, परन्तु मेरे लिए मि० ऐस्कंब ने कप्तान से कहला दिया था कि गांधी को तथा उनके बाल-बच्चों को शाम को उतारिएगा। गोरे उनके खिलाफ बहुत उभड़े हुए हैं, और उनकी जान खतरे में है। धक्के के सुपरिंटेंडेन्ट टैटम उन्हें शाम को लिवा ले जायंगे।

कप्तान ने मुझे इस संदेशे का समाचार सुनाया। मैंने उसके अनुसार करना स्वीकार किया। परन्तु इस सन्देशे को मिले अभी आध घण्टा भी न हुआ होगा कि मि० लाटन आये और कप्तान से मिलकर कहा—'यदि मि० गांधी मेरे साथ आना चाहें, तो मैं उन्हें अपनी जिम्मेवारी पर ले जाना चाहता हूँ। जहाज़ के एजण्ट के वकील की हैसियत से मैं आपसे कहता हूँ कि 'मि० गांधी के सम्बन्ध में जो संदेश आपको मिला है उससे आप अपने को बरी समझें।' इस तरह कप्तान से बात-चीत करके वे मेरे पास आये और कुछ इस प्रकार कहा'—यदि आपको जिन्दगी का डर न हो तो मैं चाहता हूँ कि श्रीमती गाँधी और बच्चे गाड़ी में रुस्तमजी सेठ के यहाँ चले जाँय और मैं और आप आम रास्ते हो कर पैदल

सलें। रात को अंधेरा पड़ जाने पर चुपके चुपके शहर में जाना मुझे बिलकुल अच्छा नहीं मालूम होता। मेरा खयाल है कि आपका बाल तक बांका नहीं हो सकता। अब तो चारों ओर शान्ति है। गोरे सब इधर उधर बिखर गये हैं। और मेरा तो यही मत है कि आपका इस तरह छिप कर जाना उचित नहीं'

मैं सहमत हुआ। धर्म-पत्नी और बच्चे रुस्तमजी सेठ के यहाँ गाड़ी में गये और सही-सलामत जा पहुँचे। मैं कप्तान से बिदा मांग कर मि० लॉटन के साथ जहाज़ से उतरा। रुस्तमजी सेठ का घर लगभग दो मील था।

जैसे ही हम जहाज से उतरे, कुछ छोकरों ने मुझे पहचान लिया और लगे 'गाँधी, गाँधी' चिल्लाने। सो ही दो चार आदमी इकट्ठे हो गये और मेरा नाम ले कर जोर जोर से चिल्लाने लगे। मि० लाटन ने देखा कि भीड़ बढ़ जायगी, सो उन्होंने रिक्शा मंगाया। मुझे रिक्शा में बैठना कभी अच्छा न मालूम होता था। मुझे उसका अनुभव यह पहली ही बार होने वाला था। पर छोकरे क्यों बैठने देने लगे? उन्होंने रिक्शा वाले को धमकाया, और वह भाग खड़ा हुआ।

हम आगे चले। भीड़ भी बढ़ती जाती थी। काफी मजमा हो गया। सब से पहले तो भीड़ ने मुझे मि० लाटन से अलग कर दिया। फिर मुझ पर कंकर और सड़े अंडे बरसने लगे। किसी ने मेरी पगड़ी गिरा दी और लातें शुरू हुईं।

मुझे ग़श आ गया। नजदीक के घर के सीखचे को पकड़ कर मैंने सहारा लिया। खड़ा रहना तो असंभव ही था। अब थप्पड़ें भी पड़ने लगीं।

इतने ही में पुलिस सुपरिंटेंडेंट की पत्नी, जो मुझे जानती थी, उधर हो कर निकली। मुझे देखते ही वह मेरे पास आ खड़ी हुई, और धूप के न रहते हुए भी अपना छाता मुझ पर तान दिया। इससे भीड़ कुछ दबी। अब अगर चोट करें तो मिसेज अलेक-जाण्डर को बचा कर ही कर सकते थे।

इसी बीच कोई हिन्दुस्तानी, मुझ पर हमला होता हुआ देख, पुलिस थाने पर दौड़ गया। सुपरिंटेंडेंट अलेग्जाण्डर ने पुलिस की एक टुकड़ा मुझे बचाने के लिए भेजी। वह समय पर आ पहुँची। मेरा रास्ता पुलिस चौकी से ही हो कर गुजरता था। सुपरिंटेंडेंट ने मुझे थाने में ठहर जाने को कहा। मैंने इनकार कर दिया, और कहा—'जब लोग अपनी भूल समझ लेंगे तब शांत हो जायँगे। मुझे उनकी न्याय-बुद्धि पर विश्वास है।'

पुलिस की रक्षा में मैं सही-सलामत पारसी रुस्तमजी के घर पहुँचा। पीठ पर मुझे मुद्ध चोट पहुँची थी। जख्म सिर्फ एक ही जगह हुआ था। जहाज के डाक्टर दादी बरजोर वहीं मौजूद थे। उन्होंने मेरी अच्छी तरह सेवा-शुश्रूषा की।

इस तरह जहाँ अन्दर शान्ति थी, तहाँ बाहर से गोरों ने घर को घेर लिया। शाम हो गई थी। अँधेरा पड़ गया था। हजारों लोग बाहर किलकारियाँ मार रहे थे और पुकार रहे थे—"गाँधी को हमारे हवाले कर दो"। मौका बेढब देखकर सुपरिंटेंडेंट अलेक्जांडर वहाँ पहुँच गये थे और भीड़ को धमका-डरा कर नहीं, बल्कि हँसी-मजाक करते हुए काबू में रख रहे थे।

फिर भी वे चिन्तामुक्त न थे। उन्होंने मुझे इस आशय का संदेश भेजा—'यदि आप अपने मित्र के जान-माल को, मकान

को तथा अपने बाल बच्चों को बचाना चाहते हों तो, मैं जिस तरह बताऊँ आपको छिप कर इस घर से निकल जाना चाहिए। एक ही दिन मुझे एक दूसरे से विपरीत दो काम करने का समय आया। जब कि जान जाने का भय केवल कल्पित मालूम होता था तब मि० लाटन ने मुझे खुले आम बाहर चलने की सलाह दी और मैंने उसे माना। पर जब खतरा आँखों के सामने था, तब दूसरे मित्र ने इससे उल्टी सलाह दी और उसे मैंने मान लिया! अब कौन बता सकता है कि मैं अपने जान की जोखम से डरा; अथवा मित्र के जानमाल को अथवा मेरे अपने बाल बच्चों को हानि पहुँचने के डर से या तीनों के? कौन निश्चय पूर्वक कह सकता है कि मेरा जहाज़ से हिम्मत दिखा कर उतरना और फिर ख़तरे के प्रत्यक्ष होते हुए छिप कर भाग जाना उचित था? परन्तु जो बातें हो चुकी हैं उनकी इस तरह चर्चा ही फिजूल है। उसमें काम की बात सिर्फ इतनी ही है कि जो कुछ हुआ है उसे समझ लें, उससे जो नसीहत मिल सकती हो उसे ले लें। किस मौके पर कौन मनुष्य क्या करेगा, यह निर्णय-पूर्वक नहीं कह सकते। उसी तरह, हम यह भी देख सकते हैं कि, मनुष्य के बाह्याचार से उसके गुण की जो परीक्षा होती है वह अधूरी होती है और अनुमान-मात्र होती है।

जो कुछ हो। भागने की तैयारी में मैं अपने चोटों को भूल गया मैंने हिन्दुस्तानी सिपाही की वर्दी पहनी। कहीं सिर पर चोट न लगे, इस अंदेशे से सिर पर एक पीतल की तश्तरी रखली और उस पर मदरासियों का लम्बा साफा लपेटा। साथ में दो जासूस थे, जिनमें एक ने हिन्दुस्तानी व्यापारी का रूप बनाया था, अथवा

मुँह हिन्दुस्तानी की तरह रँग लिया था। दूसरे ने क्या स्वांग बताया था, यह भूल गया। हम नजदीक की एक गली से हो कर पड़ौस की एक दुकान में पहुँचे, और गोदाम में रक्खी बोरों की थप्पियों के अंधेरे में बचते हुए दुकान के दरवाज़े से निकल भीड़ में होकर बाहर चले गये। गली के मुँह पर गाड़ी खड़ी थी, उसमें बैठ कर हम उसी थाने में पहुँचे जहाँ ठहरने के लिए सुपरिंटेंडेंट अलेक्जाएडर ने पहले कहा था, मैंने सुपरिंटेंडेंट का तथा खुफिया पुलिस के अफ़सर का एहसान माना।

इस तरह एक ओर जब मैं दूसरी जगह ले जाया जा रहा था, तब दूसरी ओर सुपरिंटेंडेंट भीड़ को गीत सुना रहा था। उसका हिन्दी भाव यह है—

'चलो इस गाँधी को हम उस इमली के पेड़ से फाँसी लटका दें।'

जब सुपरिंटेंट को खबर मिल गई कि मैं सहीसलामत मुक़ाम पर पहुँच गया, तब उन्होंने भीड़ से कहा—'तुम्हारा शिकार तो इस दुकान से हो कर सही-सलामत बाहर सटक गया है।' भीड़ में से कुछ लोग बिगड़े, कुछ हँसे से। बहुतेरों ने उनकी बात न मानी।

'तो तुममें से कोई जा कर अन्दर देख लें। अगर गाँधी वहाँ मिल जाय तो उसे मैं तुम्हारे हवाले कर दूँगा, न मिले तो तुम-को अपने-अपने घर चले जाना चाहिए। मुझे इतना तो विश्वास है कि तुम पारसी रुस्तमजी के मकान को न जलाओगे और गाँधी के बाल-बच्चों को नुकसान न पहुँचाओगे।' सुपरिंटेंडेंट ने कहा।

भीड़ ने अपने प्रतिनिधि चुने। प्रतिनिधियों ने भीड़ को निराशा

जनक समाचार सुनाये। सब सुपरिंटेंडेंट अलेक्जाण्डर की समय-सूचकता और चतुराई की स्तुति करते हुए, और कुछ लोग मन ही मन कुढ़ते हुए घर चले गये।

स्वर्गीय मि० चेंबरलेन ने तार दिया कि गाँधी पर हमला करने वालों पर मामला चलाया जाय और ऐसा किया जाय कि गाँधी को इन्साफ मिले। मि० ऐस्कंब ने मुझे बुलाया। मुझे चोटें पहुँचीं इसके लिए दुःख प्रदर्शित किया, और कहा—'आप यह तो अवश्य मानेंगे कि आपके एक बाल को धक्का पहुँचने से मुझे खुशी नहीं हो सकती। मि० लाटन की सलाह मान कर आप-ने जो तुरन्त उतर जाने का साहस किया उसका आपको हक था। पर यदि मेरे सन्देश के अनुसार आप ने किया होता तो यह दुःखद घटना न हुई होती। अब यदि आप हमलाइयों को पहचान सकें तो मैं उन्हें गिरफ्तार कर के मुक़द्दमा चलाने के लिए तैयार हूँ। मि० चेम्बरलेन भी ऐसा ही चाहते हैं।'

मैंने उत्तर दिया—'मैं किसी पर मुक़द्दमा चलाना नहीं चाहता। हमलाइयों में से एक-दो को मैं पहचान भी लूँ तो उन्हें सजा कराने से मुझे क्या लाभ? फिर मैं तो उन्हें दोषी भी नहीं मानता हूँ। उन्हें यह कहा गया कि मैंने हिन्दुस्तान में नेटाल के गोरों की भरपेट और बढ़ा-चढ़ा कर निंदा की है। इस बात पर यदि वे विश्वास कर लें और बिगड़ पड़ें तो इसमें आश्चर्य की कौन बात है? क़ुसूर तो ऊपर के लोगों का, और मुझे कहने दें, तो आपका माना जा सकता है। आप लोगों को ठीक सलाह दे सकते थे। पर आपने भी रूटर के तार पर विश्वास किया और कल्पना कर ली कि मैंने सच-मुच अत्युक्ति से काम लिया था। मैं किसी पर मुक़द्दमा चलाना

नहीं चाहता । जब असली और सच्ची बात लोगों पर प्रकट हो जायगी और लोग जान जायँगे तब अपने आप पछतावेंगे ।'

'तो आप मुझे यह बात लिख कर दे देंगे? मुझे मि० चेम्बर-लेन को इस आशय का तार देना पड़ेगा । मैं नहीं चाहता कि आप जल्दी में कोई बात लिख दें । मि० लाटन से तथा अपने दूसरे मित्रों से सलाह कर के जो उचित मालूम हो वही करें । हाँ, यह बात मैं मानता हूँ कि यदि आप हमलाइयों पर मामला न चलावेंगे तो सब बातों को ठण्डा करने में मुझे बहुत मदद मिलेगी और आपकी प्रतिष्ठा तो बहुत ही बढ़ जायगी ।'

मैंने उत्तर दिया—'इस सम्बन्ध में मेरे विचार निश्चित हो चुके हैं । यह तय है कि मैं किसी पर मुकदमा चलाना नहीं चाहता । इसलिए मैं यहाँ का यहीं आपको लिखे देता हूँ ।'

यह कह कर मैंने वह आवश्यक पत्र लिख दिया ।

---

(४)

शान्ति

हमले के दो-एक दिन बाद जब मैं मि० एस्कंब से मिला तब मैं पुलिस थाने में ही था। मेरे साथ मेरी रक्षा के लिए एक-दो सिपाही रहते थे। पर वास्तव में देखा जाय तो जब मैं मि० एस्कंब के पास ले जाया गया था, तब इस तरह रक्षा करने की ज़रूरत ही नहीं रह गई थी।

जिस दिन मैं जहाज से उतरा उसी दिन, अर्थात् पीला झंडा उतरते ही, तुरंत 'नेटाल एडवरटाइज़र' का प्रतिनिधि मुझ से आ कर मिला था। उसने कितनी ही बातें पूँछी थीं और उसके प्रश्नों के उत्तर में मैंने एक एक बात का पूरा पूरा जवाब दिया था। सर फिरोजशाह की नेक सलाह के अनुसार उस समय मैंने भारतवर्ष में एक भी भाषण अ-लिखित नहीं दिया था। अपने इन तमाम लेखों और भाषणों का संग्रह मेरे पास था ही। वे सब मैंने उसे दे दिये, और यह साबित कर दिया कि भारत में मैंने ऐसी एक भी बात न कही थी, जो उससे तेज शब्दों में दक्षिण आफ्रिका में न कही गई हो। मैंने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि 'कुरलैंड' तथा

'नादरी' के मुसाफिरों को लाने में मेरा हाथ बिल्कुल नहीं है। उनमें से बहुतेरे तो नेटाल के ही पुराने लोग थे, और शेष नेटाल जाने वाले नहीं बल्कि ट्रान्सवाल जाने वाले थे। उस समय नेटाल में रोजगार मंदा था। ट्रान्सवाल में काम-धन्धा खूब चलता था और आमदनी भी अच्छी होती थी। इसलिए अधिकांश हिन्दुस्तानी वहीं जाना पसंद करते थे।

इस स्पष्टकरण का तथा हमलाइयों पर मुकदमा न चलाने का प्रभाव इतना जबरदस्त हुआ, कि गोरों को शर्मिन्दा होना पड़ा। अखबारों ने मुझे निर्दोष बताया और हुल्लड़ करने वालों को बुरा भला कहा। इस तरह अन्त को जा कर मुझे इस घटना से लाभ ही हुआ। और जो मेरा लाभ था वह कार्य का लाभ था। इससे हिन्दुस्तानी लोगों की प्रतिष्ठा बढ़ी, और मेरा रास्ता अधिक सुगम हो गया।

तीन या चार दिन में मैं घर गया और थोड़े ही दिन में मैं अपना काम-काज देखने-भालने लगा। इस घटना के कारण मेरी वकालत भी चमक गई।

परन्तु इस तरह एक ओर हिन्दुस्तानियों की प्रतिष्ठा बढ़ी तो इसके साथ ही दूसरी ओर उनके प्रति द्वेष भी बढ़ा। गोरों को यह निश्चय हो गया कि इनमें दृढ़ता के साथ लड़ने का सामर्थ्य है और इस कारण उनका भय बढ़ गया। नेटाल की धारा-सभा में दो बिल पेश हुए, जिससे हिन्दुस्तानियों के कष्ट और बढ़ जाने वाले थे। एक से हिन्दुस्तानी व्यापारियों के धन्धे को हानि पहुँचती थी और दूसरे से हिन्दुस्तानियों के आने-जाने में भारी रुकावट होती थी। सुदैव से मताधिकार की लड़ाई के समय यह

फैसला हो गया था कि हिन्दुस्तानियों के खिलाफ़ उनके हिन्दुस्तानी होने की हैसियत से कोई क़ानून नहीं बनाया जा सकता ! इसका अर्थ यह हुआ कि कानून में जाति-भेद और रंग भेद को स्थान न मिलना चाहिए। इस कारण पूर्वोक्त दोनों बिलों की भाषा तो ऐसी रक्खी गई जिससे वे सब लोगों पर घटते हुए दिखाई दें; पर उनका असली हेतु था हिन्दुस्तानियों के हकों को कम कर देना।

इन बिलों ने मेरा काम बहुत बढ़ा दिया था। और हिन्दुस्तानियों में जागृति भी बहुत फैला दी थी। इन बिलों की बारीकियाँ इस तरह लोगों को समझा दी गई थीं कि कोई भी भारतवासी उनसे अजान न रहने पावे और उनके अनुवाद प्रकाशित किये गये। झगड़ा अन्त को विलायत तक पहुँचा। परन्तु बिल नामन्जूर न हुए।

मेरा बहुतेरा समय सार्वजनिक कामों में ही जाने लगा। मैं लिख चुका हूँ कि मनसुखलाल नाज़र नेटाल में थे। वे मेरे साथ हुए। वे सार्वजनिक कामों में अधिक योग देने लगे और मेरा बोझ कुछ हलका हुआ।

मेरी ग़ैरहाज़री में आदमजी मियाँखान ने मन्त्री-पद का काम सुचारु-रूप से किया। उनके समय में सभासदों की संख्या भी बढ़ी और लगभग एक हज़ार पौंड स्थानिक कांग्रेस के खज़ाने में बढ़े। हम मुसाफिरों पर हुए उस हमले के बदौलत तथा पूर्वोक्त बिलों के विरोध के फल स्वरूप जो जागृति हुई उसे मैंने अधिक से अधिक फैलाने का उद्योग किया और अब ख़ज़ाने में लगभग ५००० पौंड जमा हो गये। मुझे यह लोभ लग रहा था कि यदि कांग्रेस का कोष स्थायी हो जाय और जमीन लेली जाय तो उसके

किराये से कांग्रेस आर्थिक दृष्टि से निश्चिन्त हो जाय। सार्वजनिक संस्थाओं का यह मुझे पहला अनुभव था। मैंने अपना विचार अपने साथियों के सामने रक्खा। उन्होंने उसका स्वागत किया। मकाने खरीदे गये और वे किराये पर उठाये गये। उनके किराये से कांग्रेस का मासिक खर्च बड़े मजे में चलने लगा। सम्पत्ति का अच्छा ट्रस्ट बनाया गया। यह जायदाद आज भी मौजूद है। परन्तु वह आपस के कलह का मूल हो गई है और उसका किराया आज अदालत में जमा हो रहा है।

यह दुःखद बात तो मेरे दक्षिण आफ्रिका छोड़ने के बाद हुई है; परन्तु सार्वजनिक संस्थाओं के लिए स्थायी कोष रखने के संबंध में मेरे विचार दक्षिण आफ्रिका में ही बदल गये थे। कितनी ही सार्वजनिक संस्थाओं को जन्म देने तथा उनका संचालन करने की जिम्मेवारी रह चुकने के कारण मेरा यह दृढ़ निर्णय हुआ है कि किसी भी सार्वजनिक संस्था को स्थायी कोष पर निर्वाह करने का प्रयत्न न करना चाहिए। क्योंकि इसमें नैतिक अधोगति का बीज समाया रहता है।

सार्वजनिक संस्था का अर्थ लोगों की मंजूरी और लोगों के धन से चलने वाली संस्था। जब लोगों की मदद मिलना बंद हो जाय तब उसे जीवित रहने का अधिकार नहीं। स्थायी संपत्ति पर चलने वाली संस्था लोकमत से स्वतंत्र होती हुई देखी जाती है और कितनी ही बार तो लोकमत के विपरीत भी आचरण करती है। इसका अनुभव भारतवर्ष में हमें क़दम कदम पर होता है। कितनी ही धार्मिक मानी जाने वाली संस्थाओं के हिसाब-किताब का कोई ठिकाना नहीं है। उनके प्रबंधक ही उसके मालिक

बन बैठे हैं। और ऐसे बन गये हैं, मानों वे किसी के प्रति जवाब-देह ही नहीं हैं। कुदरत जिस प्रकार नित्य पैदा करती और नित्य खाती है उसी प्रकार सार्वजनिक संस्थाओं का जीवन होना चाहिए। जिस संस्था की सहायता करने के लिए लोग तैयार न हों उसे सार्वजनिक संस्था की हैसियत से कायम रहने का अधिकार नहीं। वार्षिक चन्दा संस्था की लोकप्रियता और उसके संचालकों की प्रामाणिकता की कसौटी है और मेरा यह मत है कि प्रत्येक संस्था को चाहिए कि वह अपने को इस कसौटी पर कसे।

दक्षिण आफ्रिका के सत्याग्रह के समय मेरे ये विचार दृढ़ हुए। छः साल तक यह भारी लड़ाई बिना स्थायी चन्दे के चली, हालाँ कि उसके लिए लाखों रुपयों की आवश्यकता थी। ऐसा समय मुझे याद है कि जब मैं यह नहीं जानता था कि कल का खर्च कहाँ से आवेगा; परन्तु ये बातें आगे आने ही वाली है—यहाँ इनका जिक्र न करूंगा। इस कथा में प्रसंगानुसार ऐसी बातें पाठकों को मिलती जायंगी।

---

(५)

बाल-शिक्षण

जनवरी १८८७ में मैं जब डरबन उतरा तब मेरे साथ तीन बालक थे। एक मेरा भानजा १० साल का, दूसरे मेरे दो लड़के-एक नौ साल का और दूसरा पाँच साल का। सवाल यह पेश हुआ कि इनकी पढ़ाई-लिखाई का क्या प्रबन्ध करें?

गोरों की पाठशालाओं में मैं अपने बच्चों को भेज सकता था; पर वह उनकी महरबानी से और बतौर अपवाद के। दूसरे हिन्दुस्तानियों के लड़के उनमें न पढ़ सकते थे। हिन्दुस्तानी बच्चों को पढ़ाने के लिए इसाई मिशन के मदरसे थे। उनमें अपने बच्चों को पढ़ाने के लिए मैं तैयार न था। वहाँ की शिक्षा-दीक्षा मुझे पसंद न थी। और गुजराती के द्वारा भला वहाँ पढ़ाई कैसे हो सकती थी? या तो अंग्रेज़ी द्वारा हो सकती थी, या बहुत प्रयास करने पर टूटी-फूटा तामिल या हिन्दी के द्वारा। इन तथा दूसरी त्रुटियों को दर गुज़र करना मेरे लिए मुश्किल था।

मैं ख़ुद बच्चों को पढ़ाने की थोड़ी-बहुत कोशिश करता। परन्तु

नियमित-रूप से न चलती। इधर गुजराती शिक्षक भी मैं अपने अनुकूल, न खोज सका।

मैं सोच में पड़ा। मैंने एक ऐसे अंग्रेज़ी शिक्षक के लिए विज्ञापन दिया जो मेरे विचारों के अनुसार बालकों को शिक्षा दे सके। सोचा कि इस तरह जो शिक्षक मिल जायगा कुछ तो उससे थोड़ी नियमित पढ़ाई होगी और कुछ मैं खुद जिस तरह बन पड़ेगा काम चला ऊँगा। ७ पौंड वेतन पर एक अंग्रेज़ महिला को रक्खा और किसी तरह काम आगे चलाया।

मैं बालकों से गुजराती में ही बात-चीत करता। इससे उन्हें कुछ गुजराती का ज्ञान हो जाता था। उन्हें देश भेज देने के लिए मैं तैयार न था। उस समय भी मेरा यह विचार था कि छोटे बच्चों को माँ-बाप से दूर न रखना चाहिए। सुव्यवस्थित घर में बालक जो शिक्षा अपने आप पा लेते हैं वह छात्रालयों में नहीं पा सकते। अतएव अधिकांश में वे मेरे ही पास रहे। हाँ, भानजे और बड़े लड़के को मैंने कुछ महीने के लिए देश के जुदा-जुदा छात्रालयों में भेजा तो; पर शीघ्र ही वापस बुला लिया। बाद को मेरा बड़ा लड़का, वयस्क हो जाने पर, अपनी इच्छा से अहमदाबाद के हाई स्कूल में पढ़ने के लिए दक्षिण आफ्रिका से चला आया। भानजे के बारे में तो मेरा ख़याल है कि जो शिक्षण मैं उसे दे रहा था उससे उसे संतोष था। वह कुछ दिन बीमार रह कर भर जवानी में इस लोक को छोड़ गया। शेष तीन लड़के कभी किसी पाठशाला में पढ़ने न गये। सिर्फ़ सत्याग्रह के सिलसिले में मेरी स्थापित पाठशाला में वे कुछ नियमित रूप से पढ़े थे।

मेरे ये प्रयोग अपूर्ण थे। जितना मैं चाहता था उतना समय बालकों को न दे सकता था। इस तथा अन्य अनिवार्य अड़चनों के कारण मैं उन्हें जैसा कि चाहता था, अक्षर-ज्ञान न दे सका। मेरे तमाम लड़कों को, थोड़ी-बहुत मात्रा में यह शिकायत मुझ से रहा करती है। क्योंकि जब-जब वे 'बी० ए०' 'एम० ए०' अथवा 'मैट्रिक्युलेट' के भी प्रसंग में आते हैं तब-तब वे अपने अन्दर स्कूल में न पढ़ने की त्रुटि को अनुभव करते हैं।

इतना होते हुए भी मेरा अपना यह मत है कि जो अनुभव-ज्ञान उन्हें मिला है, माता-पिता का जो सहवास वे प्राप्त कर सके हैं, स्वतन्त्रता का जो पदार्थ पाठ वे सीख पाये हैं—यह सब वे न कर पाते यदि मैंने उनकी रुचि के अनुसार स्कूल में उन्हें भेजा होता। उनके सम्बन्ध में जितना निश्चिन्त मैं आज हूँ उतना न हुआ होता और जो सादगी और सेवा भाव आज उनके अन्दर दिखाई देता है उसे वे न सीख पाते, यदि मुझ से अलग रह कर विलायत में अथवा दक्षिण आफ्रिका में कृत्रिम शिक्षा पाये होते। बल्कि उनकी कृत्रिम रहन-सहन शायद मेरे देश-कार्य में भी बाधक हो जाती।

इस कारण, यद्यपि मैं जितना चाहता था उतना अक्षर-ज्ञान उन्हें न दे सका, तथापि जब मैं अपने पिछले वर्षों का विचार करता हूँ तो मुझे यह नहीं भासित होता कि मैंने उनके प्रति अपने धर्म का यथाशक्ति पालन नहीं किया, और न मुझे इस बात पर पश्चात्ताप ही होता है। बल्कि इसके विपरीत जब मैं अपने बड़े लड़के के विषय में दुःखद परिणाम देखता हूँ तो मुझे बार-बार मालूम होता है कि वह मेरे अधकचरे पूर्व-काल की प्रतिध्वनि

है। वह मेरा एक तरह से मूर्च्छा-काल, वैभव-काल था और उस समय उसकी उम्र इतनी थी कि उसे उसका स्मरण रह सकता था। अब वह कैसे मानेगा कि वह मेरा मूर्च्छा-काल था? वह यह क्यों न मानेगा कि वह तो मेरा ज्ञान-काल था और बाद के ये परिवर्तन अनुचित और मोह-जात हैं? वह क्यों न माने कि उस समय मैं जगत् के राजमार्ग पर चल रहा था और इसलिए सुरक्षित था, और उसके बाद किये परिवर्तन मेरे सूक्ष्म अभिमान और अज्ञान के चिह्न हैं? यदि मेरे पुत्र बैरिस्टर इत्यादि पदवी पाये होते तो क्या बुरा था? मुझे उनके पंख काटने का क्या अधिकार था? मैंने उन्हें क्यों न ऐसी स्थिति में रक्खा जिससे वे अपनी रुचि के अनुसार जीवन-मार्ग पसंद करते? ऐसी दलीलें मेरे कितने ही मित्रों ने मेरे सामने पेश की हैं।

पर मुझे इनमें जोर नहीं मालूम देता। अनेक विद्यार्थियों से मेरा साबका पड़ा है। दूसरे बालकों पर दूसरे प्रयोग भी मैंने किये हैं अथवा करने में सहायक हुआ हूँ। उनके परिणाम भी मैंने देखे हैं। वे बालक और मेरे लड़के आज एक उम्र के हैं। पर मैं नहीं मानता कि वे मेरे लड़कों से मनुष्यत्व में बढ़े-चढ़े हैं अथवा मेरे लड़के उनसे बहुत-कुछ सीख सकते हैं।

फिर भी मेरे प्रयोग का अन्तिम परिणाम तो भविष्य ही बता सकता है। इस विषय की चर्चा यहाँ करने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य-जाति की उत्क्रान्ति का अध्ययन करने वाला मनुष्य इस बात का कुछ कुछ अन्दाज निकाल सके कि गृह-शिक्षा और स्कूल-शिक्षा के भेद का और अपने जीवन में किये माता-पिता के परिवर्तनों का क्या असर बच्चों पर होता है।

इसके अलावा इस प्रकरण का यह भी एक तात्पर्य है कि सत्य का पुजारी देख सके कि सत्य की आराधना उसे किस हद तक ले जा सकती है और स्वतंत्रता देवी का उपासक यह जान सके कि यह देवी कितना बलिदान मांगती है। हाँ, बालकों को अपने साथ रखते हुए भी मैं उन्हें अक्षर-ज्ञान दिला सकता था, यदि मैंने आत्म-सम्मान छोड़ दिया होता, यदि मैंने इस विचार को, कि जो शिक्षा दूसरे हिन्दुस्तानी बालकों को नहीं मिल सकती वह मुझे अपने बच्चों को दिलाने की इच्छा न करनी चाहिए, अपने हृदय में स्थान न दिया होता। पर उस अवस्था में वे स्वतंत्रता और आत्म-सम्मान का वह पदार्थ-पाठ न सीख-पाते जो आज सीख सके हैं। और जहाँ स्वतंत्रता और अक्षर-ज्ञान इनमें से किसी एक को पसंद करने का सवाल हो; वहाँ कौन कह सकता है कि स्वतंत्रता अक्षर-ज्ञान से हजार गुनी अच्छी नहीं है?

१९२० में मैंने जिन नवयुवकों को स्वतंत्रता-घातक स्कूलों और कालेजों को छोड़ देने का निमंत्रण दिया और जिनसे मैंने कहा कि स्वतंत्रता के लिए निरक्षर रहकर सड़कों पर मिट्टी फोड़ना बेहतर है बनिस्बत इसके कि गुलामी में रहकर अक्षर-ज्ञान प्राप्त करें, वे शायद अब मेरे इस कथन का मूल समझ सकेंगे।

(६)

सेवा-भाव

मेरा पेशा यद्यपि ठीक चल रहा था तथापि मुझे उससे सन्तोष न रहता था। मन में ऐसा मन्थन चलता ही रहता था कि जीवन में अधिक सादगी आनी चाहिए, कुछ न कुछ शारीरिक सेवा-कार्य होना चाहिए।

संयोग से एक दिन एक अपंग कोढ़ी घर आ पहुँचा। कुछ खाने को दे कर हटा देने को जी न चाहा। उसे एक कमरे में रक्खा उसके जख्मों को धोया और उसकी शुश्रूषा की।

पर बहुत दिनों तक यह नहीं चल सकता था। सदा के लिए उसे घर में रखने योग्य न सुविधा थी, न हिम्मत। मैंने उसे गिरमिटियों के सरकारी अस्पताल में भेज दिया।

पर इससे मुझे तृप्ति न हुई। मन में यह हुआ करता कि यदि ऐसा कोई शुश्रूषा का काम सदा मिलता रहे तो क्या अच्छा हो? डा० बूथ सेंट एडम्स मिशन के अधिकारी थे। जो कोई आता उसे वे हमेशा मुफ्त दवा देते। बड़े भले आदमी थे। उनका हृदय स्नेहपूर्ण था। उनकी देख-रेख में पारसी रुस्तमजी के दान से एक

छोटा सा अस्पताल खोला गया। इसमें नर्स के तौर पर काम करने की मुझे प्रबल इच्छा हुई। एक से ले कर दो घण्टे तक उसमें दवा देने का काम रहता था। दवा बनाने वाले किसी अवैतनिक वा स्वयंसेवक की जरूरत थी। मैंने इस काम को करने का तथा इतना समय अपने काम में से निकालने का निश्चय किया। वकालत-संबंधी मेरा काम तो इतना ही था—दफ्तर में बैठे बैठे सलाह देना, दस्तावेजों के मसविदे बनाना और झगड़े सुलझाना। मजिस्ट्रेट के इजलास में कुछ न कुछ मामले रहते। उनमें से अधिकांश तो अविवादास्पद होते थे। जब ऐसे मुकदमे होते तब मि० खान उनकी पैरवी कर देते। वे मेरे बाद आये थे और मेरे साथ ही रहते थे। उनके इस सहयोग के कारण मैं इस छोटे से अस्पताल में काम करने लगा।

रोज सुबह वहाँ जाना पड़ता था। आने-जाने और वहाँ काम करने में कोई दो घण्टे रोज लग जाते। इस काम से मेरे मन को कुछ शान्ति मिली। मेरा काम था रोगी से हाल-चाल पूछ कर डाक्टर को समझाना और डाक्टर जो दवा बताते वह तैयार करके दे देना। इस कार्य से मैं दुखी हिन्दुस्तानियों के प्रगाढ़ संबंध में आने लगा। उनमें अधिक भाग तामिल और तेलगू अथवा हिन्दुस्तानी गिरमिटियों का था।

यह अनुभव मुझे भविष्य में बड़ा उपयोगी साबित हुआ। बोअर-युद्ध के समय घायलों की शुश्रूषा में तथा दूसरे रोगियों की सेवा-टहल में मुझे उससे बड़ी सहायता हुई।

बाल-संगोपन का प्रश्न तो मेरे सामने था ही। दक्षिण-आफ्रि- में मुझे और दो लड़के हुए। उनका लालन-पालन करने की

समस्या को हल करने में मुझे इस काम से अच्छी सहायता मिली। मेरा स्वतंत्र स्वभाव मुझे बहुत दिक करता और अब भी करता है। हम दम्पती ने निश्चय किया कि प्रसव-कार्य शास्त्रीय पद्धति के अनुसार ही होना चाहिए। इसलिए यद्यपि डाक्टर और नर्स का तो प्रबंध था ही फिर भी मेरे मन में यह विचार आया कि यदि डाक्टर समय पर न आ पावे और दाई कहीं चली जाय तो मेरा क्या हाल होगा? दाई तो हिन्दुस्तानी ही बुलाई जाने वाली थी। शिक्षिता दाई हिन्दुस्तान में ही मुश्किल से मिलती है, तो फिर दक्षिण आफ्रिका की तो बात ही क्या? इसलिए मैंने बाल-संगोपन का अध्ययन किया। डा० त्रिभुवनदास लिखित "माने शिखावण" नामक पुस्तक पढ़ी। उसमें कुछ घटा बढ़ा कर अन्तिम दोनों बालकों का लालन-पालन प्रायः मैंने खुद किया। हर बार दाई की सहायता तो ली। पर दो मास से अधिक नहीं। सो भी प्रधानतः धर्मपत्नी की सेवा के लिए। बच्चों को नहलाने-धुलाने का काम शुरूवात में मैं ही करता।

अन्तिम बालक के जन्म के समय मेरी पूरी पूरी आजमाइश हुई। प्रसव-वेदना एकाएक शुरू हुई। डाक्टर मौजूद नहीं, दाई को बुलाने वाला था। वह यदि नजदीक होती भी तो प्रसव न करा पाती। अतएव प्रसव कालीन सारा काम खुद मुझे करना पड़ा। सद्भाग्य से मैंने यह विषय 'माने शिखावण' में अच्छी तरह पढ़ लिया था। इससे घबड़ाया नहीं।

मैंने देखा कि माता-पिता यदि चाहते हों कि उनके बच्चों की परवरिश अच्छी तरह हो तो दोनों को बाल-संगोपन आदि का मामूली ज्ञान अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिए। इस संबंध में जितनी

चिन्ता मैंने रक्खी है उसका लाभ मुझे कदम कदम पर दिखाई दिया है। मेरे लड़कों की तन्दुरुस्ती जो आज आम तौर पर अच्छी है वह अच्छी न रही होती यदि मैंने बालकों के लालन-पालन का आवश्यक ज्ञान न प्राप्त किया होता और उसका पालन न किया होता। हम लोगों में यह एक वहम प्रचलित है कि पहले पाँच साल तक बच्चे को शिक्षा देने की जरूरत नहीं है। परन्तु सच्ची बात यह है कि बालक प्रथम पाँच वर्षों में जितनी बातें सीखता है उतनी बाद को नहीं। मैं अनुभव से यह कह सकता हूँ कि बालक की शिक्षा की शुरूवात तो माता के उदर से ही शुरू हो जाती है। गर्भाधान-समय की माता-पिता की शारीरिक एवं मानसिक स्थिति का प्रभाव बच्चे पर पड़ता है। माता की गर्भ कालीन प्रकृति, माता के आहार विहार के अच्छे बुरे फल को विरासत में पा कर बच्चा जन्म पाता है। जन्म के बाद वह माता-पिता का अनुकरण करने लगता है। वह खुद तो अपंग होता है इसलिए उसके विकास का दारोमदार माता-पिता पर रहता है।

जो समझदार दम्पती इतना विचार करेंगे वे तो कभी दम्पती-संग को विषय-वासना की पूर्ति का साधन न बनावेंगे। वे तो तभी संग करेंगे जब उन्हे सन्तति की इच्छा होगी। रति-सुख का स्वतंत्र अस्तित्व है यह मानना मुझे तो घोर अज्ञान ही दिखाई देता है। जनन-क्रिया पर संसार के अस्तित्व का अवलंबन है। संसार ईश्वर की लीला-भूमि है, उसकी महिमा का प्रतिबिम्ब है। जो शख्स यह मानता है कि उसकी सुव्यवस्थित वृद्धि के लिए ही रति क्रिया निर्माण हुई है वह विषय-वासना को भगीरथ प्रयत्नों के द्वारा भी रोकेगा। और रति-भोग के फल-स्वरूप जो सन्तति होगी

उसकी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक रक्षा करने के लिए आवश्यक ज्ञान प्राप्त करेगा एवं अपनी प्रजा को उससे लाभान्वित करेगा।

(७)

१—ब्रह्मचर्य्य

अब ब्रह्मचर्य्य के संबंध में विचार करने का समय आया है। एक पत्नीव्रत ने तो विवाह के समय से ही मेरे हृदय में स्थान प्राप्त कर लिया था। पत्नी के प्रति मेरी वफा-दारी मेरे सत्य व्रत का एक अंग था। परन्तु स्व-पत्नी के साथ भी ब्रह्मचर्य्य का पालन करने की आवश्यकता मुझे दक्षिण आफ्रिका में ही स्पष्ट रूप से दिखाई दी। किस प्रसंग से अथवा किस पुस्तक के प्रभाव से यह विचार मेरे मन में पैदा हुआ, यह इस समय ठीक ठीक याद नहीं पड़ता। पर इतना स्मरण होता है कि इसमें रायचंद भाई का प्रभाव प्रधान-रूप से काम कर रहा था।

उनके साथ हुआ एक संवाद मुझे याद है। एक बार मैं मि० ग्लैडस्टन के प्रति मिसेज़ ग्लैडस्टन के प्रेम की स्तुति कर रहा था। मैंने पढ़ा था कि हाउस आफ़ कामन्स की बैठक में भी मिसेज़ ग्लैडस्टन अपने पति को चाय बना कर पिलाती थी। यह बात उस नियम-निष्ठ दम्पती के जीवन का एक नियम ही बन गया था। मैंने यह प्रसंग कविजी को पढ़ सुनाया और उसके सिलसिले में दम्पती-प्रेम की स्तुति की। रायचन्द भाई बोले—'इसमें आपको

कौन सी बात महत्व की मालूम होती है—मिसेज़ ग्लैडस्टन का पत्नीपन या सेवा-भाव ? यदि वे ग्लैडस्टन की बहन होतीं तो ? अथवा उनकी वफादार नौकर होतीं और फिर भी उसी प्रेम से चाय पिलातीं तो ? ऐसी बहनों, ऐसी नौकरानियों के उदाहरण आज हमें न मिलेंगे ? और नारी जाति के बदले ऐसा प्रेम यदि नर-जाति में देखा होता तो आप को सानन्दाश्चर्य न होता ? इस बात पर विचार कीजिएगा।

रायचन्द भाई स्वयं विवाहित थे। उस समय तो उनकी यह बात मुझे कठोर मालूम हुई—ऐसा स्मरण होता है। परन्तु इन वचनों ने मुझे लोहाचुम्बक की तरह जकड़ लिया। पुरुष नौकर की ऐसी स्वामि-भक्ति की कीमत पत्नी की स्वामि-निष्ठा की कीमत से हज़ार गुना बढ़कर है। पति-पत्नी में एकता का अतएव प्रेम का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। स्वामी और सेवक में ऐसा प्रेम पैदा करना पड़ता है। दिन दिन कविजी के वचन का बल मेरी नज़रों में बढ़ने लगा।

अब मन में यह विचार उठने लगा कि मुझे अपनी पत्नी के साथ कैसा सम्बन्ध रखना चाहिए ? पत्नी को विषय-भोग का वाहन बनाना पत्नी के प्रति वफादारी कैसे हो सकती है ? जबतक मैं विषय-वासना के अधीन रहूँगा तब तक मेरी वफादारी की कीमत प्राकृत मानी जायगी। मुझे यहाँ यह बात कह देनी चाहिए कि हमारे पारस्परिक संबंध में कभी पत्नी की तरफ से मुझ पर ज्यादती नहीं हुई। इस दृष्टि से मैं जिस दिन से चाहूँ, ब्रह्मचर्य का पालन मेरे लिए सुलभ था। मेरी अशक्ति अथवा आसक्ति ही मुझे रोक रही थी।

जागरूक होने के बाद भी दो बार तो मैं असफल ही रहा। प्रयत्न करता पर गिरता। प्रयत्न में मुख्य हेतु उच्च न था। सिर्फ सन्तानोत्पत्ति को रोकना ही प्रधान लक्ष्य था। सन्तति-निग्रह के बाह्य उपकरणों के विषय में विलायत में मैंने थोड़ा-बहुत पढ़ लिया था। डा० एलिन्सन के इन उपायों का उल्लेख मैं अन्नाहार-संबंधी प्रकरण में कर चुका हूँ। उसका कुछ क्षणिक असर मुझ पर हुआ भी था। परन्तु मि० हिल्स के द्वारा किये गये उनके विरोध का तथा अंतर्साधन-संयम-के समर्थन का बहुत असर मेरे दिल पर हुआ और अनुभव के द्वारा वह चिरस्थायी हो गया। इस कारण प्रजोत्पत्ति की अनावश्यकता जँचते ही संयम-पालन के लिए उद्योग आरम्भ हुआ।

संयम-पालन में कठिनाइयाँ बेहद थीं। चारपाइयां दूर रखते। रात को थक कर सोने की कोशिश करने लगा। इन सारे प्रयत्नों का विशेष परिणाम उसी समय तो न दिखाई दिया। पर जब मैं भूतकाल की ओर आँख उठा कर देखता हूँ तो जान पड़ता है कि इन्हीं सारे प्रयत्नों ने मुझे अन्तिम बल प्रदान किया।

अन्तिम निश्चय तो ठेठ १९०६ ई० में ही कर सका। उस समय सत्याग्रह का श्री गणेश नहीं हुआ था। उसका स्वप्न तक में मुझे खयाल न था। बोअर-युद्ध के बाद नेटाल में 'जुलू' बलवा हुआ। उस समय मैं जोहानिस्बर्ग में वकालत करता था। पर मन ने कहा कि इस समय बलवे में मुझे अपनी सेवा नेटाल सर-कार को अर्पित करना चाहिए। मैंने अर्पित की भी। वह स्वीकृत भी हुई। उसका वर्णन अब आगे आवेगा। परन्तु इस सेवा के फल-स्वरूप मेरे मन में तीव्र विचार उत्पन्न हुए। अपने स्वभाव के अनुसार अपने साथियों से मैंने उसकी चर्चा की। मुझे जँचा कि

सन्तानोत्पत्ति और संतान-संगोपन लोक-सेवा के विरोधक हैं। इस वलवे के काम में शरीक होने के लिए मुझे अपना जोहानिस्वर्ग वाला घर तितर-वितर करना पड़ा था। टीपटाप के साथ सजाये घर को और जुटाई विविध सामग्री को अभी एक महीना भी न हुआ होगा कि मैंने उसे छोड़ दिया। पत्नी और बच्चों को फीनिक्स में रक्खा। और मैं घायलों की शुश्रूषा करने वालों की टुकड़ी बना कर चल निकला। कड़ी कूँचें करते हुए मैंने देखा कि यदि मुझे लोक-सेवा में ही लीन हो जाना है तो फिर पुत्रैषणा एवं धनैषणा को भी नमस्कार कर लेना चाहिए और वानप्रस्थ-धर्म का पालन करना चाहिए।

'वलवे' में मुझे डेढ़ महीने से ज्यादह न ठहरना पड़ा। परंतु यह छः सप्ताह मेरे जीवन का अत्यन्त मूल्यवान समय था। व्रत का महत्व मैं इस समय सब से अधिक समझा। मैंने देखा कि व्रत बंधन नहीं स्वतंत्रता का द्वार है। आज तक मेरे प्रयत्नों में आवश्यक सफलता नहीं मिलती थी; क्योंकि मुझ में निश्चय का अभाव था। मुझे अपनी शक्ति का विश्वास न था। मुझे ईश्वर-कृपा का अविश्वास था। और इसलिए मेरा मन अनेक तरंगों में और अनेक विकारों के अधीन रहता था। मैंने देखा कि व्रत-बंधन से पृथक् रह कर मनुष्य मोह में पड़ता है। व्रत से अपने को बाँधना मानों व्यभिचार से छूट कर एक पत्नी से संबंध रखना है। 'मेरा तो विश्वास प्रयत्न में है, व्रत के द्वारा मैं बँधना नहीं चाहता' यह वचन निर्वलता-सूचक है और उसमें छुपे छुपे भोग की इच्छा रहती है। जो चीज त्याज्य है, उसे सर्वथा छोड़ देने में कौनसी हानि हो सकती है? जो साँप मुझे डँसने वाला है उसको मैं

निश्चय-पूर्वक हटा देता हूँ, हटाने का केवल उद्योग ही नहीं करता। क्योंकि मैं जानता हूँ कि केवल प्रयत्न का परिणाम होने वाला है मृत्यु। प्रयत्न में साँप की विकरालता के स्पष्ट ज्ञान का अभाव है। उसी प्रकार जिस चीज़ के त्याग का हम प्रयत्न-मात्र करते हैं उसके त्याग की आवश्यकता हमें स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं दी है, यही सिद्ध होता है। 'मेरे विचार यदि बाद को बदल जायँ तो ?' ऐसी शंका से बहुत बार हम व्रत लेते हुए डरते हैं। इस विचार में स्पष्ट दर्शन का अभाव है। इसीलिए निष्कुलानंद ने कहा है—

त्याग न टके रे वैराग विना।

जहाँ किसी चीज़ से पूर्ण वैराग्य हो गया है वहाँ उसके लिए व्रत लेना अपने आप अनिवार्य हो जाता है।

---

(८)

२—ब्रह्मचर्य

खूब चर्चा और दृढ़ विचार करने के बाद १९०६ में मैंने ब्रह्मचर्य-व्रत धारण किया। व्रत लेने तक मैंने धर्म-पत्नी से इस विषय में सलाह न ली थी। व्रत के समय अलबत्ते ली। उसने उसका कुछ भी विरोध न किया।

यह व्रत लेते हुए मुझे बड़ा कठिन मालूम हुआ। मेरी शक्ति कम थी। विकारों को क्योंकर दबा सकूँगा? स्वपत्नी के साथ भी विकारों से अलिप्त रहना अजीब बात मालूम होती थी। फिर भी मैं देख रहा था कि वह मेरा स्पष्ट कर्त्तव्य है। मेरी नीयत साफ़ थी। यह सोच कर कि ईश्वर शक्ति और सहायता देगा, मैं कूद पड़ा।

आज २० साल बाद उस व्रत को स्मरण करते हुए मुझे सानंदाश्चर्य होता है। संयम पालन करने का भाव तो १९०१ से ही प्रबल था, और उसका पालन कर भी रहा था; परन्तु जो स्वतंत्रता और आनंद मैं अब पाने लगा वह, मुझे नहीं याद पड़ता कि १९०६ के पहले मिला हो। क्योंकि उस समय मैं वासनाबद्ध

था—हर समय उसके अधीन हो जाने का भय था। अब वासना मुझ पर सवारी करने में असमर्थ हो गई।

फिर मैं ब्रह्मचर्य की महिमा और अधिकाधिक समझने लगा। व्रत मैंने फिनिक्स में लिया था। घायलों की शुश्रूषा से छुट्टी पा कर मैं फिनिक्स गया था। वहाँ से मुझे तुरन्तु जोहानिस्बर्ग जाना था। मैं वहाँ गया और एक महीने के अन्दर ही सत्याग्रह-संग्राम की नींव पड़ी। मानों यह ब्रह्मचर्य-व्रत उसके लिए मुझे तैयार करने ही न आया हो! सत्याग्रह की कल्पना मैंने पहले ही से नहीं बाँध रक्खी थी। उसकी उत्पत्ति तो अनायास—अनिच्छा से—हुई। पर मैंने देखा कि उसके पहले मैंने जो जो काम किये थे, जैसे फिनिक्स जाना, जोहानिस्बर्ग का भारी घर खर्च कम कर डालना और अन्त को ब्रह्मचर्य का व्रत लेना, वे मानो इसकी पेशबंदी थे।

ब्रह्मचर्य के सोलहों आने पालन का अर्थ है ब्रह्म-दर्शन। यह ज्ञान मुझे शास्त्रों के द्वारा न हुआ था। यह अर्थ मेरे सामने धीरे धीरे अनुभव-सिद्ध होता गया। उससे संबंध रखने वाले शास्त्र-वचन मैंने बाद को पढ़े। ब्रह्मचर्य में शरीर-रक्षण, बुद्धि-रक्षण और आत्मा का रक्षण सब कुछ है, यह बात मैं व्रत के बाद दिन दिन अधिकाधिक अनुभव करने लगा। क्योंकि अब ब्रह्मचर्य को एक घोर तपश्चर्या रहने देने के बदले रसमय बनाना था; उसीके बल पर काम चलाना था। इसलिए उसकी खूबियों के नित नये दर्शन होने लगे।

पर मैं जो इस तरह उससे रस की घूंटें पी रहा था, इससे कोई यह न समझे कि मैं उसकी कठिनता को अनुभव न कर
९ था। आज यद्यपि मेरे छप्पन साल पूरे हो गये हैं; फिर भी

उसकी कठिनता का अनुभव तो होता ही है। यह अधिकाधिक समझता जाता हूँ कि यह असिधारा-व्रत है। निरन्तर जागरूकता की आवश्यकता देखता हूँ।

ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए स्वादेन्द्रिय को वश में करना चाहिए। मैंने खुद अनुभव करके देखा है कि यदि स्वाद को जीत लें तो फिर ब्रह्मचर्य अत्यन्त सुगम हो जाता है। इस कारण इसके बाद मेरे भोजन-प्रयोग केवल अन्नाहार की दृष्टि से नहीं, पर ब्रह्मचर्य की दृष्टि से होने लगे। प्रयोग द्वारा मैंने अनुभव किया कि भोजन कम, सादा, बिना मिर्च-मसाले के और स्वाभाविक रूप में करना चाहिए। मैंने खुद छः साल तक प्रयोग करके देखा है कि ब्रह्मचारी का आहार वन-पके फल हैं। जिन दिनों में हरे या सूखे वन-पके फलों पर रहता था। उन दिनों जिस निर्विकारता का अनुभव होता था वह, खुराक में परिवर्तन करने के बाद, न हुआ। फलाहार के दिनों में ब्रह्मचर्य सहल था; दूधाहार के कारण कष्ट-साध्य हो गया है। फलाहार छोड़ कर दूधाहार क्यों ग्रहण करना पड़ा इसका जिक्र समय आने पर होगा ही। यहाँ तो इतना ही कहना बस है कि ब्रह्मचारी के लिए दूध का आहार विघ्नकारक है, इसमें मुझे तिल मात्र सन्देह नहीं। इससे कोई यह अर्थ न निकाल लें कि हर ब्रह्मचारी के लिए दूध छोड़ना जरूरी है। आहार का असर ब्रह्मचर्य पर क्या और कितना पड़ता है, इसके संबंध में अभी बहुतेरे प्रयोगों की आवश्यकता है। दूध के सदृश शरीर के रगोरेशे को मजबूत बनाने वाला और उतनी ही आसानी से हज़म हो जाने वाला फलाहार अब तक मेरे हाथ नहीं लगा है। न कोई वैद्य, हकीम या डॉक्टर ऐसे फल या अन्न

बता सके हैं। इस कारण दूध को विकारोत्पादक जानते हुए भी मैं उसके त्याग की सिफारिश किसी से नहीं कर सकता।

बाहरी उपचारों में जिस प्रकार आहार के प्रकार की और परिणाम की मर्यादा आवश्यक है उसी प्रकार उपवास की बात समझना चाहिए। इन्द्रियाँ ऐसी बलवान् हैं कि चारों ओर से, ऊपर-नीचे दशों दिशाओं से जब उन पर घेरा डाला जाता है तभी वे कब्जे में रहती हैं। सब लोग इस बात को जानते हैं कि आहार के बिना वे अपना काम नहीं कर सकतीं। इसलिए इस बात में मुझे ज़रा भी शक नहीं है, कि इन्द्रिय-दमन के हेतु से इच्छा पूर्वक किये उपवासों से इन्द्रिय-दमन में बड़ी सहायता मिलती है। कितने ही लोग उपवास करते हुए भी सफल नहीं होते। वे यह मान लेते हैं कि केवल उपवास से ही सब काम हो जायगा। बाहरी उपवास-मात्र करते रहते हैं पर मन में छप्पन भोगों का भोग लगाते रहते हैं। उपवास के दिनों में इन विचारों का स्वाद चक्खा करते हैं कि उपवास पूरा होने पर क्या क्या खायँगे; और फिर शिकायत करते हैं कि न तो स्वादेन्द्रिय का संयम हो पाया और न जननेन्द्रिय का। उपवास से वास्तविक लाभ वहीं होता है जहाँ मन भी देह दमन में साथ देता है। इसका यह अर्थ हुआ कि मन में विषय-भोग के प्रति वैराग्य हो जाना चाहिए। विषय का मूल तो मन में है। उपवासादि साधनों से मिलने वाली सहायता बहुत होते हुए भी अपेक्षा कृत थोड़ी ही होती है। यह कहा जा सकता है कि उपवास करते हुए भी मनुष्य विषयासक्त रहता है। परन्तु उपवास के बिना विषयासक्ति का समूल विनाश संभवनीय नहीं। इसलिए उपवास ब्रह्मचर्यपालन का अनिवार्य अंग है।

ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले बहुतेरे विफल होते हैं; क्योंकि वे आहार-विहार तथा दृष्टि इत्यादि में अब्रह्मचारी की तरह बर्ताव करते हुए भी ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हैं। यह कोशिश वैसी ही है जैसी कि गरमी की मौसम में सरदी की मौसम का अनुभव करने की कोशिश होती है। संयमी और स्वच्छन्द के तथा भोगी और त्यागी के जीवन में भेद अवश्य होना चाहिए। साम्य तो सिर्फ ऊपर ही ऊपर रहता है। भेद स्पष्ट रूप से दिखाई देना चाहिए। आँख से दोनों काम लेते हैं। परन्तु ब्रह्मचारी देव-दर्शन करता है; भोगी नाटक-सिनेमा में लीन रहता है। कान का उपयोग दोनों करते हैं। परन्तु एक ईश्वर-भजन सुनता है और दूसरा विलास मय गीतों को सुनने में आनन्द मनाता है। जागरण दोनों करते हैं। परन्तु एक तो जागृत अवस्था में अपने हृदय-मन्दिर में विराजित राम की आराधना करता है, दूसरा नाच-रंग की धुन में सोने की याद भूल जाता है। भोजन दोनों करते हैं। परंतु एक शरीर-रूपी तीर्थ-क्षेत्र की रक्षा-मात्र के लिए कोठे में अन्न डाल लेता है और दूसरा स्वाद के लिए देह में अनेक चीजों को भर कर उसे दुर्गंधित बनाता है। इस प्रकार दोनों के आचार-विचार में भेद रहा ही करता है और यह अवसर दिन दिन बढ़ता है, घटता नहीं।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है मन, वचन और काया से समस्त इन्द्रियों का संयम। इस संयम के लिए पूर्वोक्त त्यागों की आवश्यकता है, यह बात मुझे दिन दिन दिखाई देने लगी। आज भी दिखाई देती है। त्याग के क्षेत्र की सीमा ही नहीं, जैसी कि ब्रह्मचर्य की महिमा के भी सीमा नहीं है। ऐसा ब्रह्मचर्य अल्प प्रयत्न से साध्य

नहीं होता। करोड़ों के लिए तो यह हमेशा एक आदर्श के रूप में ही रहेगा। क्योंकि प्रयत्न शील ब्रह्मचारी नित्य अपनी त्रुटियों का दर्शन करेगा, अपने हृदय के कोने-कुचरे में छिपे विकारों को पहचान लेगा और उन्हें निकाल बाहर करने का सतत उद्योग करेगा। जबतक अपने विचारों पर इतना कब्जा नहीं हो जाय कि अपनी इच्छा के बिना एक भी विचार न आने पावे तब तक वह सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं। जितने भी विचार हैं वे सब एक तरह के विकार हैं। उनको वश में करने के मानी हैं मन को वश में करना। और मन को वश में करना वायु को वश में करने से भी कठिन है। इतना होते हुए भी यदि आत्मा कोई चीज़ है तो फिर यह भी साध्य हो कर रहेगा। रास्ते में बड़ी कठिनाइयाँ आती हैं, इससे यह न मान लेना चाहिए कि वह असाध्य है। वह तो परम अर्थ है। और परम अर्थ के लिए परम प्रयत्न की आवश्यकता हो तो इसमें कौन आश्चर्य की बात है?

परन्तु मैंने देश आने पर देखा कि ऐसा ब्रह्मचर्य महज प्रयत्न-साध्य नहीं है। कह सकते है कि तब तक मैं मूर्छा में था कि फलाहार से विकार समूल नष्ट हो जायँगे और इसलिए अभिमान से मानता था कि अब मुझे कुछ करना बाकी नहीं रहा है।

परन्तु इस विचार के प्रकरण तक पहुँचने में अभी विलम्ब है। इस बीच इतना कह देना आवश्यक है ईश्वर साक्षात्कार करने के लिए मैंने जिस ब्रह्मचर्य की व्याख्या की है उसका पालन जो करना चाहते हैं, वे यदि अपने प्रयत्न के साथ ही ईश्वर पर श्रद्धा रखने वाले होंगे तो उन्हें निराश होने का कुछ भी कारण नहीं।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ *

गीता अ० २ श्लोक ५९

इसलिए आत्मार्थी का अन्तिम साधन तो रामनाम और राम-कृपा ही है । मैंने हिन्दुस्तान आने पर ही इस बात का अनुभव किया ।

---

* निराहारी के विषय तो शान्त हो जाते हैं; परन्तु रसों का शमन नहीं होता । ईश्वर-दर्शन से रस भी शान्त हो जाते हैं ।

(६)

सादगी

भोगों को भोगने का आरंभ तो मैंने किया था पर वह टिक न सका। टीपटाप की साधन-सामग्री मैंने जुटाई तो; परन्तु उसका मोह मुझे न हुआ था। इसलिए घर-गृहस्थी बनाते ही मैंने दूसरी ओर खर्च कम करने की शुरूआत की। धुलाई का ख़र्च भी ज्यादह मालूम हुआ। फिर धोबी नियमित रूप से कपड़े न लाता, इस कारण दो-तीन दर्जन कमीज और इतने ही कालर से भी मेरा काम न चलता। कालर रोज़ बदलता था; कमीज़ रोज नहीं तो तीसरे दिन जरूर बदलता। इस तरह दुहेरा ख़र्च लगता। यह मुझे व्यर्थ मालूम हुआ। इसलिए घर पर ही धोने की चीज़ें मगाईं। धुलाई-विद्या की पुस्तक पढ़ कर धोना सीख लिया। पत्नी को भी सिखाया। काम का कुछ बोझ तो बढ़ा—पर एक नई चीज़ थी, इसलिए मनोविनोद भी होता।

पहले-पहल जो कालर मैंने धोया उसे मैं कभी न भूल सकूँगा। इसमें कलप ज्यादा था, और इस्त्री पूरी गरम न थी। फिर कालर के जल जाने के भय से इस्त्री ठीक ठीक दबाई नहीं गई थी। इस कारण कालर कड़ा तो हो गया; पर उसमें से कलप झिरता रहता था।

ऐसा ही कालर लगा कर मैं अदालत में गया और बैरिस्टरों के मजाक का साधन बन गया। परन्तु ऐसी हँसी-दिल्लगी को सहन करने की क्षमता मुझ में उस समय भी कम न थी।

'कालर हाथ से धोने का यह पहला प्रयोग है इसलिए उसमें से कलप झिर रहा है पर मेरा इससे कुछ हर्ज नहीं होता। फिर आप सब लोगों के इतने विनोद का कारण हुआ, यह विशेष बात है। मैंने स्पष्टीकरण किया।

'पर धोबी क्या नहीं मिलते ?' एक मित्र ने पूछा।

'यहाँ धोबी का खर्च मुझे नागवार हो रहा है। कालर की कीमत के बराबर धुलाई का खर्च—और फिर भी धोबी की गुलामी बरदाश्त करना पड़ती है, सो जुदी ही। इसके बनिस्बत तो मैं घर पर हाथ से धो लेना ही ज्यादा पसंद करता हूँ।

यह स्वावलम्बन की खूबी मैं मित्रों को न समझा सका।

मुझे कहना चाहिए कि अन्त को मैंने अपने काम के लायक धोने की कुशलता प्राप्त कर ली थी, और धोबी की धुलाई से घर की धुलाई किसी तरह घटिया न रहती थी। कालर का कड़ापन और चमक धोबी के धोये कालर से किसी तरह कम न थे। गोखले के पास स्व० महादेव गोविंद रानडे का प्रसाद-स्वरूप दुपट्टा था। गोखले उसे बड़े जतन से रखते और प्रसंग-विशेष पर ही उसे इस्तेमाल करते। जोहानिसबर्ग में उनके स्वागत के उपलक्ष्य में जो भोज हुआ था, वह अवसर बड़े महत्व का था। दक्षिण आफ्रिका में यह उनका सबसे बड़ा भाषण था। इसलिए इस अवसर पर वे वह दुपट्टा डालना चाहते थे। उसमें सिकुड़नें पड़ गई थीं और इस्त्री करने की जरूरत थी। धोबी के यहाँ भेज कर

तुरंत इस्त्री करा लेना संभव न था। मैंने कहा—ज़रा मेरी विद्या को भी आज़मा लीजिए।

'तुम्हारी वकालत पर मैं विश्वास कर सकता हूँ; पर इस दुपट्टे पर तुम्हारी धुलाई-कला की आज़माइश न होने दूँगा। तुम कहीं इसे दाग़ लगा दो तो? जानते हो, इसका कितना मूल्य है?' यह कह कर उन्होंने अति उल्लास से प्रसादी की कथा मुझे कह सुनाई।

मैंने आजिज़ी के साथ दाग़ न पड़ने देने की जिम्मेवारी ली। फलतः मुझे इस्त्री करने की इजाज़त मिल गई। अपनी कुशलता का प्रमाण-पत्र मुझे मिला। अब यदि दुनिया मुझे प्रमाण-पत्र न दे तो इससे क्या?

जिस तरह मैं धोबी की गुलामी से छूटा, उसी तरह नाई की गुलामी से भी छूटने का अवसर आ गया। हाथ से डाढ़ी बनाना तो विलायत जाने वाले सभी सीख लेते हैं; पर मुझे खयाल नहीं कि बाल काटना भी कोई सीख लेते हों। प्रिटोरिया में एक बार मैं एक अंगरेज नाई की दुकान पर गया। उसने मेरे बाल काटने से साफ इनकार कर दिया, और ऐसा करते हुए तिरस्कार प्रदर्शित किया सो जुदा ही। मुझे बड़ा दुःख हुआ। मैं सीधा बाज़ार में पहुँचा। बाल काटने की कैंची खरीदी और आईने के सामने खड़े रह कर बाल काटे। बाल ज्यों त्यों कटे तो; पर पीछे के बाल काटने में बड़ी दिक्कत पेश आई। फिर भी जैसे चाहिए न कट पाये। यह देख कर अदालत में खूब कह कहा मचा।

'तुम्हारे सिर पर छछूंदर तो नहीं फिर गई?

मैंने कहा—'नहीं, मेरे काले सिर को गोरा नाई कैसे छू

सकता है ? इस कारण जैसे तैसे हाथ कटे वाल ही मुझे अधिक प्रिय है।'

इस उत्तर से मित्रों को आश्चर्य न हुआ। सच पूछिए तो उस नाई का कुसूर न था। यदि वह श्यामवर्ण के लोगों के वाल काटने लगता तो उसकी रोजी चली जाती। हम भी तो कहाँ अछूतों के वाल उच्च वर्ण के नाइयों से कटवाने देते हैं ? इसका वदला मुझे दक्षिण आफ्रिका में एक वार नहीं वहुत वार मिला है। और मेरा यह खयाल वन रहा है कि यह हमारे ही दोष का फल है। इसलिए इस वात पर मुझे कभी रोष नहीं हुआ।

स्वावलम्बन और सादगी के मेरे शौक ने आगे जा कर जो तीव्र स्वरूप ग्रहण किया उसका वर्णन तो यथा-प्रसंग होगा; परन्तु उसका मूल पुराना था। उसके फलने-फूलने के लिए सिर्फ सिंचाई की आवश्यकता थी। और वह अवसर अनायास ही मिल गया।

---

(१०)

बोअर युद्ध

१८९७ से ९९ ई० तक के जीवन के दूसरे कई अनुभवों को छोड़कर अब बोअर-युद्ध पर आता हूँ। जब यह युद्ध छिड़ा था तब मेरे मनो-भाव बिल्कुल बोअरों की तरफ थे। पर मैं यह मानता था कि ऐसी बातों में व्यक्तिगत विचारों के अनुसार काम करने का अधिकार अभी मुझे प्राप्त नहीं हुआ है। इस संबंध में जो मन्थन मेरे हृदय में हुआ, उसका सूक्ष्म निरीक्षण मैंने दक्षिण आफ्रिका के सत्याग्रह के इतिहास में किया है, इसलिए यहाँ लिखने की आवश्यकता नहीं। जिनको जानने की इच्छा हो वे उस पुस्तक को पढ़ लें। यहाँ तो इतना ही कहना बस है कि ब्रिटिश राज्य के प्रति मेरी वफादारी मुझे उस युद्ध में योग देने के लिए जबरदस्ती घसीट ले गई। मैंने सोचा कि जब कि मैं ब्रिटिश प्रजा की हैसियत से हकों का मतालबा कर रहा था तो ब्रिटिश प्रजा की हैसियत से ब्रिटिश राज्य की रक्षा में सहायक होना मेरा धर्म है। हिन्दुस्तान की सब तरह उन्नति ब्रिटिश साम्राज्य में हो सकती है, यह मत मेरा उस समय था।

इसलिए जितने साथी मिले उनको ले कर और अनेक मुसीबतों का सामना करके हमने घायलों की सेवा-शुश्रूषा करने वाली एक टुकड़ी तैयार की। अब तक अंग्रेजों की आम तौर पर धारणा थी कि यहाँ के हिन्दुस्तानी जोखिम के कामों में नहीं पड़ते, स्वार्थ के अलावा उन्हें और कुछ नहीं सूझता। इसलिए कितने ही अंगरेज मित्रों ने मुझे निराशा जनक उत्तर दिये। अलबत्ते डा० बूथ ने खूब प्रोत्साहन दिया। उन्होंने हमें घायल योद्धाओं की शुश्रूषा करने की तालीम दी। हमारी योग्यता के संबंध में डाक्टरों के प्रमाण-पत्र प्राप्त कर लिये। मि० लाटन तथा स्वर्गीय मि० ऐस्कम्ब ने भी इस कार्य को पसंद किया। अन्त को हमने सरकार से प्रार्थना की कि हमें लड़ाई में सेवा करने का अवसर दिया जाय। जवाब में सरकार ने हमें धन्यवाद दिया; किन्तु कहा कि आपकी सेवा की इस समय आवश्यकता नहीं है।

परन्तु मैं ऐसे 'ना' से खामोश हो कर बैठ न गया। डा० बूथ की मदद ले कर उनके साथ में नेटाल के बिशप से मिला। हमारी टुकड़ी में बहुतेरे ईसाई हिन्दुस्तानी थे। बिशप को हमारी योजना बहुत पसन्द आई। उन्होंने सहायता देने का वचन दिया।

इस बीच घटना-चक्र अपना काम कर रहा था। बोअरों की तैयारी, दृढ़ता, वीरता इत्यादि अन्दाज़ से अधिक तेजस्वी साबित हुए। सरकार को बहुतेरे रंगरूटों की जरूरत हुई। और अन्त को हमारी प्रार्थना स्वीकृत हुई।

इस टुकड़ी में लगभग ११०० लोग थे। उनमें लगभग ४० मुखिया थे। कोई ३०० स्वतंत्र हिन्दुस्तानी भरती हुए थे, और

शेष गिरमिटिया थे। डा० बूथ भी हमारी साथ थे। टुकड़ी ने अपना काम अच्छा किया। यद्यपि उसका कार्यक्षेत्र लड़ाई के मैदान के बाहर था। और रेडक्रास ❀ चिह्न उनकी रक्षा के लिए लगा हुआ था। फिर भी आवश्यकता के समय प्रत्यक्ष युद्धक्षेत्र की हद के अन्दर भी काम करने का अवसर हमें मिला। ऐसी जोखिम में न पड़ने देने का इकरार सरकार ने अपनी इच्छा से हमारे साथ किया था; परन्तु स्पियांकोप की हार के बाद स्थिति बदली। इस कारण जनरल बुलर ने सन्देश भेजा कि यद्यपि आप जोखिम की जगह काम करने के लिए बँधे हुए नहीं हैं, फिर भी यदि आप खतरे का सामना करके घायल सिपाहियों को अथवा अफसरों को रणक्षेत्र से उठा कर डोलियों में ले जाने के लिए तैयार हो जायँगे तो सरकार आपका उपकार मानेगी। हम तो जोखिम उठाने के लिए तैयार ही थे। अतएव स्पियांकोप के युद्ध के बाद हम गोली-बारूद के हद की अन्दर काम करने लगे।

इन दिनों में सब को कई बार बीस-पचीस मील रोज मंजिल तय करनी पड़ती थी। एक बार तो घायलों को डोली में रखकर इतनी दूर चलना भी पड़ा था। जिन घायल योद्धाओं को हम उठाकर ले जाते थे उनमें जनरल वुडगेट इत्यादि भी थे।

छः सप्ताह के अन्त में हमारी टुकड़ी को रुखसत दी गई। स्पियांकोप और वालक्रान्ज की हार के बाद लेडी स्मिथ आदि

❀रेडक्रास का अर्थ है लाल स्वस्तिक युद्ध में इस चिह्न से अंकित पट्टे शुश्रूषा करने वालों के बायें हाथों में बँधे रहते हैं और ऐसा नियम है कि शत्रु भी उनको नुकसान नहीं पहुँचा सकते। अधिक ब्योरे के लिए द० आफ्रिका सत्या० खण्ड० १ प्र० ९ देखिए।

आदि स्थानों को बोअरों के घेरे से तेजी के साथ मुक्त करने का विचार ब्रिटिश सेनापति ने त्याग दिया और इंग्लैंड तथा हिन्दुस्तान से और सेना आने की राह देखने तथा धीमे धीमे काम करने का निश्चय किया था।

हमारी इस छोटी सी सेवा की उस समय बहुत स्तुति हुई। उससे हिन्दुस्तानियों की प्रतिष्ठा बढ़ी। 'आखिर हिन्दुस्तानी हैं तो साम्राज्य के वारिस ही।' ऐसे गीत गाये गये। जनरल बुलर ने अपने खरीते में हमारी टुकडी के कार्य की प्रशंसा की। मुखियों को लड़ाई के तमगे भी मिले।

इसके फलस्वरूप हिन्दुस्तानी अधिक संगठित हुए। मैं गिर-मिटिया हिन्दुस्तानियों के अधिक सम्पर्क में आ सका। उनमें अधिक जागृति हुई, और हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, मदरासी, गुज-राती, सिन्धी सब हिंदुस्तानी हैं यह भावना अधिक दृढ़ हुई। सब ने माना कि अब हिन्दुस्तानियों के दुःख अवश्य दूर हो जायँगे। गोरों के वर्ताव में भी उसके बाद साफ़ साफ फर्क नज़र आने लगा।

लड़ाई में गोरों से जो संबन्ध बँधा वह मीठा था। हज़ारों 'टामियों' के सहवास में हम आये। वे हमारे साथ मित्र-भाव से बरतते और इस ख्याल से कि हम उनकी सेवा के लिए हैं, हमारे उपकार मानते।

मनुष्य-स्वभाव दुःख के समय कैसा पसीज जाता है इसकी एक मधुर स्मृति यहाँ दिये बिना नहीं रह सकता। हम लोग चीवली छावनी की ओर जा रहे थे। यह वही क्षेत्र था जहाँ लार्ड राबर्ट्स के पुत्र लेफ्टनंट राबर्ट्स को मर्मान्तक गोली लगी

थी । लेफ्टनन्ट राबर्ट्स के शव को ले जाने का गौरव हमारी टुकड़ी को प्राप्त हुआ था। लौटते दिन धूप कड़ी थी। हम कूच कर रहे थे । सब प्यासे थे। पानी पीने के लिए रास्ते में एक छोटा सा झरना पड़ा। सवाल खड़ा हुआ पहले कौन पानी पिये ? मैंने विचारा था कि 'टामियों' के पी लेने के बाद पीयेंगे। 'टामियों' ने हमें देख कर तुरंत कहा—पहले आप लोग पानी पी लें। हमने कहा—नहीं, पहले आप पीवें। इस तरह बहुत देर तक हमारे और उनके बीच मधुर आग्रह की खींचातानी होती रही।

---

(११)

नगर-सुधार—अकाल फण्ड

समाज के एक भी अंग का खराब बना रहना मुझे हमेशा खलता रहा है। लोगों की बुराइयों को ढाँक कर उनका बचाव करना अथवा उन्हें दूर किये बिना अधिकार प्राप्त करना मुझे हमेशा अरुचिकर हुआ है। दक्षिण आफ्रिका स्थित हिन्दुस्तानियों पर एक आक्षेप रहा करता था। वह यह कि हिन्दुस्तानी अपने घर-बार साफ़-सुथरे नहीं रखते और बहुत मैले रहते हैं। बार बार यह बात कही जाती थी। उसमें कुछ सचाई भी थी। मेरे वहाँ स्थित होने के आरंभ-काल ही में मैंने उसे दूर करने का विचार किया था। इस इल्जाम को मिटाने के लिए शुरुवात में समाज में लब्ध-प्रतिष्ठ लोगों के घरों में सफ़ाई तो शुरू हो गई थी परन्तु घर घर जा कर प्रचार करने का काम तो तभी शुरू हो पाया जब डरबन में प्लेग के प्रवेश और प्रकोप का भय उत्पन्न हुआ। इसमें म्युनिसिपल्टी के अधिकारियों का भी भाग था और उनकी सम्मति भी थी। हमारी मदद से उनका काम आसान हो गया और हिन्दुस्तानियों को कम कष्ट और

असुविधा हुई। क्योंकि प्लेग इत्यादि का प्रकोप जब कभी होता है तब आम तौर पर अधिकारी लोग अधीर हो जाते हैं, और उसका उपाय करने में सीमा से आगे बढ़ जाते हैं, एवं जो लोग उनकी नजरों में अप्रिय होते हैं, उन पर इतना दबाव डाला जाता है कि वह असह्य हो जाता है चूँकि लोगों ने खुद ही काफी इलाज करने का आयोजन कर लिया था, इसलिए वे इस सख्ती और ज्यादती से बच गये।

इस संबंध में मुझे कितने ही कड़वे अनुभव भी हुए। मैंने देखा कि स्थानिक सरकार से अपने हकों का मतालबा करने में मैं जितनी आसानी से अपने लोगों से सहायता ले सकता था, उतनी आसानी से मैं उनसे स्वयं अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में न ले सका। कितनी ही जगह अपमान होता, कितनी ही जगह विनय-पूर्वक लापरवाही बताई जाती। गंदगी दूर करने का कष्ट उठाना एक आफत मालूम होती थी। और इसके लिए पैसा खर्च करना तो और भी मुश्किल पड़ता था।। इससे मैं यह पाठ और अधिक अच्छी तरह सीखा कि यदि लोगों से कुछ भी काम कराना हो, तो हमें धीरज रखना चाहिए। सुधार की गरज तो होती है खुद सुधारक को; जिस समाज में वह सुधार चाहता है, उससे तो उसे विरोध की, तिरस्कार की और जान की भी जोखिम की ही आशा रखनी चाहिए। सुधारक जिस बात को सुधार समझता है, समाज उसे 'कुधार' क्यों न माने? और यदि कुधार न भी मानें तो उसकी तरफ से उदासीन क्यों न रहें?

इस आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि भारतीय समाज में घरबार स्वच्छ रखने की आवश्यकता थोड़ी-बहुत मात्रा में

मानी गई। राज्याधिकारियों के नजदीक मेरी साख बढ़ी। वे समझे कि मैं महज़ शिकायतें करने वाला, अथवा हक मांगने वाला ही नहीं हूँ 'वल्कि इन बातों में मैं जितना दृढ़ हूँ' उतना ही उत्साही आंतरिक सुधारों के लिए भी हूँ।

परन्तु समाज की मनोवृत्ति का विकास अभी एक और दिशा में होना बाकी था। यहाँ के भारतीयों को अभी प्रसंगोपात्त भारतवर्ष के प्रति अपने धर्म को समझना और उसका पालन करना बाकी था। भारतवर्ष तो कंगाल है। लोग धन कमाने के लिए तो विदेश जाते हैं। उनकी कमाई का कुछ न कुछ अंश भारतवर्ष को आपत्ति के समय मिलना चाहिए। १८९७ ई० में अकाल पड़ा। १८९९ में एक और भारी अकाल हुआ। दोनों अकाल के समय दक्षिण आफ्रिका से खासी मदद गई। पहले अकाल के समय जितनी रकम एकत्र हो सकी थी। उससे बहुत ज्यादह रकम दूसरे अकाल के समय गई थी। इसमें हमने अंगरेज़ों से भी चन्दा मांगा था, और उनकी तरफ़ से अच्छी सहायता मिली थी। गिरमिटिया हिन्दुस्तानियों ने भी अपनी तरफ़ से चन्दा दिया था।

इस तरह इन दोनों अकाल के समय जो प्रथा पड़ गई वह अभी तक कायम है। और हम देखते हैं कि भारतवर्ष में सार्वजनिक संकट के समय दक्षिण आफ्रिका के हिन्दुस्तानी अच्छी रकमें भेजा करते हैं।

उस तरह दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों की सेवा करते हुए मैं खुद बहुतेरी बातें एक के बाद एक अनायास सीख रहा था। सत्य एक विशाल वृक्ष है। उसकी ज्यों ज्यों सेवा की जाती है

त्यों त्यों उसमें अनेक फल आते हुए दिखाई देते हैं। उसका अंत ही नहीं होता। ज्यों ज्यों हम गहरे पैठते हैं त्यों त्यों उसमें से रत्न निकलते हैं, सेवा के अवसर हाथ आते ही रहते हैं।

---

(१२)

देश-गमन

लड़ाई के काम से मुक्त होने के बाद मैंने सोचा कि अब मेरा काम दक्षिण आफ्रिका में नहीं, बल्कि देश में है। दक्षिण आफ्रिका में बैठे बैठे मैं कुछ न कुछ सेवा तो ज़रूर कर पाता था, परन्तु मैंने देखा कि यहाँ कहीं मेरा मुख्य काम धन कमाना ही न हो जाय।

देश से मित्र लोग भी देश लौट आने का आकर्षण कर रहे थे। मुझे भी जँचा कि देश जाने से मेरा अधिक उपयोग हो सकेगा। नेटाल में मि० खान और मनसुखलाल नाज़र थे ही।

मैंने साथियों से छुट्टी देने का अनुरोध किया। बड़ी मुश्किल से उन्होंने एक शर्त पर छुट्टी स्वीकार की। वह यह कि यदि एक साल के अंदर लोगों को मेरी ज़रूरत मालूम हो तो मैं फिर दक्षिण आफ्रिका आऊँ। मुझे वह शर्त कठिन मालूम हुई, परन्तु मैं प्रेम-पाश में बँधा हुआ था।

काच रे तांतणे मने हरजीए बांधी
जेम ताणे तेम तेम नीरे
मने लागी कटारी प्रेम नी *

---

* प्रभुजी ने मुझे कच्चे सूत के प्रेम-धागे से बांध लिया है, ज्यों ज्यों वे उसे तानते है त्यों त्यों मैं उनकी होती जाती हूँ।

मीराबाई की यह उपमा न्यूनाधिक अंश में मुझ पर घटित होती थी। पञ्च भी परमेश्वर ही है। मित्रों की बात को मैं टाल नहीं सकता था। मैंने वचन दे कर इजाजत ली।

इस समय मेरा निकट संबन्ध प्रायः नेटाल के ही साथ था। नेटाल के हिन्दुस्तानियों ने मुझे प्रेमामृत से नहला डाला। स्थान स्थान पर अभिनन्दन पत्र दिये गये, और हर जगह से कीमती चीज़ें नज़र की गईं।

१८९६ में जब मैं देश आया था, तब भी भेंटें मिलीं थीं; पर इस बार की भेंटें और सभाओं के दृश्यों से मैं घबड़ाया। भेंट में सोने चांदी की चीज़ें तो थी हीं; परन्तु हीरे की चीज़ें भी थीं।

इन सब चीज़ों को स्वीकार करने का मुझे क्या अधिकार हो सकता है? यदि मैं इन्हें मंजूर कर लूँ तो फिर अपने मन को यह कह कर कैसे मना सकता हूँ कि मैं पैसा ले कर लोगों की सेवा नहीं करता था। मेरे मवक्किलों की कुछ रकमों को छोड़ कर बाकी सब चीज़ें मेरी लोक-सेवा के ही उपलक्ष्य में दी गई थीं। पर मेरे मन में तो मवक्किल और दूसरे साथियों में कुछ भेद न था। मुख्य मुख्य मवक्किल सब सार्वजनिक काम में भी सहायता देते थे।

फिर उन भेंटों में एक पचास गिन्नी का हार कस्तूरबाई के लिए था। मगर उसे जो चीज़ मिली वह भी थी तो मेरी ही सेवा के उपलक्ष्य में; अतएव उसे पृथक् नहीं मान सकते थे।

जिस शाम को इन में से मुख्य मुख्य २ भेंटें मिलीं; वह रात मैंने एक पागल की तरह जाग कर काटी। कमरे में यहाँ से वहाँ टहलता रहा। परन्तु गुत्थी किसी तरह सुलझती न थी। सैंकड़ों

रुपयों की भेंटें न लेना भारी पड़ रहा था; पर ले लेना उससे भारी मालूम होता था।

मैं, चाहे इन भेंटों को पचा भी सकूँ। पर मेरे बालक और पत्नी? उन्हें तालीम तो सेवा की मिल रही थी। सेवा का दाम नहीं लिया जा सकता यह हमेशा समझाया जाता था। घर में क़ीमती ज़ेवर आदि मैं नहीं रखता था। सादगी बढ़ती जाती थी। ऐसी अवस्था में सोने की घड़ियाँ कौन रक्खेगा? सोने की कंठी और हीरे की अंगूठियां कौन पहनेगा? गहनों का मोह छोड़ने के लिए मैं उस समय भी औरों से कहता रहता था। अब इन गहनों और जवाहरात को ले कर मैं क्या करूँगा?

मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि ये चीज़ें मैं हरगिज नहीं रख सकता। पारसी रुस्तम जी इत्यादि को इन गहनों के ट्रस्टी बना कर उसके नाम एक चिट्ठी तैयार की और सुबह स्त्री-पुत्रादि से सलाह करके अपना बोझ हलका करने का निश्चय किया।

मैं जानता था कि धर्मपत्नी को समझाना मुश्किल पड़ेगा। मुझे विश्वास था कि बालकों को समझाने में ज़रा भी दिक्कत न पेश आवेगी। अतएव उन्हें वकील बनाने का विचार किया।

बच्चे तो तुरन्त समझ गये। 'हमें इन गहनों से कुछ मतलब नहीं। ये सब चीजें हमें लौटा देनी चाहिए। और यदि जरूरत होगी तो क्या हम खुद न बना सकेंगे?' वे बोले।

मैं प्रसन्न हुआ। 'तो तुम बा—माताजी—को समझाओगे न?' मैंने पूछा।

'जरूर जरूर। यह हमसे आया। वह कहाँ इन गहनों को पहनने चली हैं? वह रखना चाहें भी तो हमारे लिए। पर जब

कि हमें ही इनकी ज़रूरत नहीं है, तब फिर वह क्यों ज़िद करने लगीं ?

परन्तु काम अंदाज से ज्यादा मुश्किल साबित हुआ।

'तुम्हें चाहे ज़रूरत न हो और लड़कों को भी न हो। बच्चों का क्या ? जैसा समझा दें समझ जाते हैं। मुझे चाहे न पहनने दो; पर मेरी बहुओं को क्या ज़रूरत न होगी ? और कौन कह सकता है कल क्या होगा ? जो चीज़ लोगों ने इतने प्रेम से दी है उसे वापस लौटाना ठीक नहीं।' इस प्रकार वाग्धारा शुरू हुई और उसके साथ अश्रुधारा आ मिली। लड़के दृढ़ रहे, मैं भला क्यों डिगने लगा ?

मैंने धीरे से कहा—'पहले लड़कों की शादी तो हो लेने दो। हम बचपन में तो इनके विवाह करना चाहते ही नहीं हैं। बड़े होने पर जो इनका जी चाहे सो करें। फिर हमें क्या गहनों, कपड़ों की शौकीन बहुयें खोजनी हैं ? फिर भी अगर कुछ बनवाना ही होगा तो मैं कहाँ चला गया हूँ।'

'हाँ—जानती हूँ तुमको। वही न हो जिन्होंने मेरे भी गहने उतार लिए हैं। जब मुझे ही नहीं पहनने देते हो तो मेरी बहुओं को जरूर ला दोगे ! लड़कों को तो अभी से वैरागी बना रहे हो ! इन गहनों को मैं नहीं वापस देने दूंगी। और फिर मेरे हार पर तुम्हारा क्या हक ?'

पर यह हार तुम्हारी सेवा के खातिर मिला है या मेरी ?' मैंने पूछा।

'जैसा भी हो। तुम्हारी सेवा क्या मेरी सेवा नहीं है। मुझसे जो रात दिन मजूरी कराते हो, क्या वह सेवा नहा है ? मुझे

रुला रुलाकर जो ऐरों-गैरों का घर में रक्खा और मुझसे सेवा टहल कराई --वह कुछ भी नहीं ?'

ये सब बाण तीखे थे। कितने ही तो मुझे चुभ रहे थे। पर गहने वापस लौटाने का मैं निश्चय ही कर चुका था। अन्त को बहुतेरी बातों में मैं जैसे-तैसे सम्मति प्राप्त कर सका। १८९६ और १९०१ में मिली भेंटें वापस लौटाईं। उसका ट्रस्ट बनाया गया और लोक-सेवा के लिए उसका उपयोग मेरी अथवा ट्रस्टियों की इच्छा के अनुसार होने की शर्त पर वह रकम बैंक में रक्खी गई। इन चीजों को बेचने के निमित्त से मैं बहुत बार रुपया एकत्र कर सका हूँ। आज भी आपत्ति-कोष के रूप में वह रकम मौजूद है और उसमें वृद्धि होती जाती है।

इस बात के लिए मुझे कभी पश्चात्ताप न हुआ। आगे चल कर कस्तूरबाई को भी उसका औचित्य जँचने लगा। इस तरह हम बहुतेरे लालचों से बच गये हैं।

मेरा यह निश्चित मत हो गया है कि लोक-सेवक को जो भेंटें मिलती हैं, वे उसकी निजी चीज नहीं हो सकती।

---

(१३)

देश में

इस तरह देश के लिए रुखसत हुआ। रास्ते में मारीशस पड़ता था। वहाँ जहाज बहुत देर तक ठहरा था। मैं उतरा और वहाँ की स्थिति का ठीक अनुभव प्राप्त कर लिया। एक रात वहाँ के गवर्नर सर चार्ल्स ब्रुस के यहाँ भी बिताई थी।

हिन्दुस्तान पहुँचने पर कुछ समय इधर-उधर घूमनेमें व्यतीत किया। यह १९०१ की बात है। इस साल राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन कलकत्ते में था। दीनशा एदलजी वाच्छा सभापति थे मैं महासभा में जाना तो चाहता ही था। महासभा का मेरा यह पहला अनुभव था।

बम्बई से जिस गाड़ी में सर फिरोजशाह चले उसीमें मैं भी रवाना हुआ। उनसे मुझे दक्षिण आफ्रिका के विषय में बातें करनी थीं। उनके डब्बे में एक स्टेशन तक जाने की मुझे आज्ञा मिली। वे खास सलून में थे। उनके शाही वैभव और खर्च-वर्च से मैं वाकिफ था। निश्चित स्टेशन पर मैं उनके डब्बे में गया। उस समय उनके डब्बे में तत्कालीन दीनशाजी और चिमनलाल

सेतलवाड बैठे थे। उनके साथ राजनीति की बातें हो रही थीं। मुझे देखकर सर फिरोजशाह बोले—'गांधी' तुम्हारा काम पूरा पड़ने का नहीं। प्रस्ताव तो हम जैसा तुम कहोगे पास कर देंगे; पर पहले यह देखें कि हमारे ही देश में हमें कौनसे हक मिले हैं? मैं तो मानता हूँ कि जब तक अपने देश में ही हमें सत्ता नहीं तब तक उपनिवेशों में तुम्हारी हालत अच्छी नहीं हो सकती।'

मैं तो स्तंभित हो रहा। सर चिमनलाल ने भी उन्हींमें हाँ मिलाई। परन्तु सर दीनशा ने मेरी ओर दया भरी दृष्टि से देखा।

मैंने उन्हें समझाने का प्रयत्न किया। परन्तु बम्बई के बिना ताज के बादशाह को भला मुझ जैसा आदमी क्या समझा सकता था? मैंने इसी बात पर सन्तोष माना कि चलो महासभा में प्रस्ताव तो पेश हो जायगा।

'प्रस्ताव बना कर मुझे दिखाना भला, गांधी!' सर दीनशा मुझे उत्साहित करने के लिए बोले।

मैंने उन्हें धन्यवाद दिया। दूसरे स्टेशन पर गाड़ी खड़ी रहते ही मैं वहाँ से खिसका और अपने डब्बे में आ कर बैठ गया।

कलकत्ते पहुँचा। नगरवासी अध्यक्ष इत्यादि नेताओं को धूम-धाम से स्थान पर ले गये। मैंने एक स्वयं-सेवक से पूछा—'ठहरने का प्रबंध कहाँ है?

वह मुझे रिपन कालेज ले गया। वहाँ बहुतेरे प्रतिनिधि ठहरे हुए थे। सद्भाग्य से जिस विभाग में मैं ठहरा था, वहीं लोकमान्य भी ठहराये गये थे। मुझे ऐसा स्मरण है कि वे एक दिन बाद आये थे। जहाँ लोकमान्य होते वहाँ एक छोटा सा दरबार लगा ही रहता था। यदि मैं चितेरा होऊँ तो जिस चारपाई पर वे बैठते

थे उसका चित्र खींचकर दिखा दूँ । उस स्थान का और उनकी बैठक का इतना स्पष्ट स्मरण मुझे है । उनसे मिलने आने वाले असंख्य लोगों में एक का नाम मुझे याद है—'अमृतबाज़ार पत्रिका' के मोती बाबू । इन दोनों का कह कहा लगाना और राज्य-कर्ताओं के अन्याय-सम्बन्धी उनकी बातें कभी भुलाई नहीं जा सकतीं ।

पर जरा यहाँ के प्रबन्ध की ओर दृष्टिपात करें ।

स्वयं-सेवक एक दूसरे से लड पड़ते । जो काम जिसे सौंपा जाता वह उसका नहीं होता था । वह तुरन्त दूसरे को बुलाता और दूसरा तीसरे को । बेचारा प्रतिनिधि न इधर का रहता न उधर का ।

मैंने कुछ स्वयं-सेवकों से मेल-मुलाकात ठहराई । दक्षिण आफ्रिका की कुछ बातें उनसे कीं । इससे वे कुछ शरमाये । मैंने उन्हें सेवा का मर्म समझाने की कोशिश की । वे कुछ कुछ समझे । परन्तु सेवा का प्रेम कुम्भी की तरह जहाँ वहाँ उग नहीं निकलता । उसके लिए एक तो इच्छा होनी चाहिए । और फिर अभ्यास । इन भोले और भले स्वयं सेवकों में इच्छा तो बहुत थी; पर तालीम और महावरा कहाँ से हो सकता था ? महासभा साल में तीन दिन होती और फिर सो रहती । हर साल तीन दिन की तालीम से कितनी बातें सीखी जा सकती हैं ?

जो स्वयं-सेवकों का हाल था वही प्रतिनिधियों का । उन्हें भी तीन ही दिन की तालीम मिलती थी । वे अपने हाथों कुछ भी नहीं करते थे । हर बात में हुक्म से काम लेते थे । 'स्वयं सेवक यह लाओ' और 'वह लाओ' यही हुक्म छूटा करते ।

वहां मैंने देखा कि छुआ छूत बहुतों को लगती थी । द्राविड़ी रसोई घर बिल्कुल जुदा था । इन प्रतिनिधियों को तो दृष्टि-दोष

भी बरदास्त न होता था। उनके लिए कम्पाउण्ड में एक जुदी पाक-शाला बनाई गई थी। उसमें धुँआ इतना होता था कि आदमी का दम घुट जाय। खान-पान सब उसीमें होता। रसोई घर क्या था, वह तो एक सन्दूक थी। सब तरफ़ से बंद!

मुझे यह वर्ण-धर्म अखरा। महासभा में आने वाले प्रतिनिधियों को जब इतनी छूत लगती है तो जो लोग इन्हें अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजते हैं उन्हें कितनी छूत लगती होगी, इसकी त्रैराशिक लगाने लगा। और इसका जो उत्तर मिला, उस पर मेरे मुँह से 'ओफ़!' निकल पड़ा।

गंदगी की सीमा नहीं। चारों ओर पानी ही पानी हो रहा था। पाखाने कम थे। उनकी बदबू की याद से आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मैंने एक स्वयं-सेवक का ध्यान उसकी ओर खींचा। उसने बेधड़क हो कर कहा—'यह तो भंगी का काम है'। मैंने झाड़ू मँगाया। वह मेरा मुँह ताकने लगा। आखिर मैं ही झाड़ू खोज लाया। पाखाना साफ किया। पर यह तो हुआ अपनी सुविधा के लिए। लोग इतने ज्यादह थे और पाखाने इतने कम थे कि कई बार उनके साफ़ होने की ज़रूरत थी। पर यह मेरे क़ाबू के बाहर था। इसलिए मुझे सिर्फ अपनी सुविधा करके सन्तोष मानना पड़ा। मैंने देखा कि औरों को यह गंदगी खलती न थी।

पर यहीं तक बस नहीं है। रात के समय तो कोई कमरे के बरामदे में ही बैठ जाता था। सुबह मैंने स्वयं-सेवक को वह मैला दिखाया। पर कोई साफ करने के लिए तैयार न था। यह गौरव आखिर मुझे ही प्राप्त हुआ।

आजकल इन बातों में यद्यपि थोड़ा बहुत सुधार हुआ है, तथापि अविचारी प्रतिनिधि अब भी महासभा के कैंप को जहाँ तहाँ मलत्याग करके बिगाड़ देते हैं; और सब स्वयंसेवक उसे साफ़ करने के लिए तैयार नहीं होते।

मैंने देखा कि यदि ऐसी गंदगी में महासभा की बैठक अधिक दिनों तक जारी रहे तो अवश्य बीमारियाँ फैल निकलें।

---

(१४)

कारकुन और 'बेरा'×

महासभा के अधिवेशन को एक-दो दिन की देर थी। मैंने निश्चय किया था कि महासभा के दफ़्तर में यदि मेरी सेवा स्वीकार हो तो कुछ सेवा करके अनुभव प्राप्त करूँ।

जिस दिन हम आये उसी दिन नहा-धो कर महासभा के दफ़्तर में गया। श्री भूपेन्द्रनाथ बसु और श्री घोपाल मन्त्री थे। भूपेन बाबू के पास पहुँच कर कोई काम माँगा। उन्होंने मेरी ओर देखकर कहा—

'मेरे पास तो कोई काम नहीं है—पर शायद, मि० घोपाल तुमको कुछ बतावेंगे। उनसे मिलो।

मैं घोपाल बाबू के पास गया। उन्होंने मुझे नीचे से ऊपर तक देखा। कुछ मुसकुराये और बोले—

'मेरे पास कारकुन का काम है—करोगे?'

मैंने उत्तर दिया—'जरूर करूँगा। मेरे बस भर सब कुछ करने के लिए मैं आप के पास आया हूँ।'

×अंग्रेज़ी 'बेअरर' शब्द का अपभ्रंश। खिद्‌मतगार। कलकत्ते में घर के नौकर को 'बेरा' कहने का रिवाज पड़ गया है।

'नवयुवक, सच्चा सेवा-भाव इसी को कहते हैं।'

कुछ स्वयंसेवक उनके पास खड़े थे। उनकी ओर मुखातिब हो कर कहा—

'देखते हो, इस नवयुवक ने क्या कहा ?'

फिर मेरी ओर देखकर कहा—'तो लो यह चिट्ठियों का ढेर और यह मेरे सामने पड़ी है कुरसी। उसे ले लो। देखते हो न, सैकड़ों आदमी मुझ से मिलने आया करते हैं। अब मैं उनसे मिलूँ या ये लोग फालतू चिट्ठियाँ लिखा करते हैं इन्हें उत्तर दूँ। मेरे पास ऐसे कारकुन नहीं कि जिनसे मैं यह काम ले सकूँ। इन चिट्ठियों में बहुतेरी तो फजूल ही होंगी। पर तुम सब को पढ़ जाना। जिनकी पहुँच लिखना जरूरी हो उनकी पहुँच लिख देना; और जिनके उत्तर के लिए मुझ से कुछ पूछना हो तो पूछ लेना।' उनके इस विश्वास से मुझे बहुत खुशी हुई।

श्री घोषाल मुझे पहचानते न थे। नाम-ठाम तो मेरा उन्होंने बाद को जाना। चिट्ठियों के जबाव आदि का काम बहुत आसान था। उन सब को मैंने तुरन्त निपटा दिया। घोषाल बाबू खुश हुए। उन्हें बातें करने की आदत थी। मैं देखता था कि वे बातों में बहुत समय लगाया करते थे। मेरा इतिहास जानने के बाद तो मुझे कारकुन का काम देने की उन्हें ज़रा शर्म मालूम हुई। मैंने उन्हें निश्चिन्त किया—

'कहाँ मैं और कहाँ आप। आप महासभा के पुराने सेवक, मेरे नजदीक तो आप बुजुर्ग हैं। मैं ठहरा अनुभव-हीन नवयुवक यह काम सौंप कर मुझ पर तो आपने अहसान ही किया है। क्योंकि मुझे आगे चल कर महासभा में काम करना है। उसके

काम-काज को समझने का अलभ्य अवसर आपने मुझे दिया है।

'सच पूछो तो यही सच्ची मनोवृत्ति है। परन्तु आजकल के नवयुवक ऐसा नहीं मानते। पर मैं तो महासभा को उसके जन्म से पहचानता हूँ। उसकी स्थापना करने में मि० ह्यूम के साथ मेरा भी हाथ था।' घोषाल बाबू बोले।

हम दोनों में खासा सम्बध हो गया। दोपहर के खाने के समय मुझे साथ रखते। घोषाल बाबू के बटन भी 'बेरा' लगाता। यह देखकर 'बेरा' का काम खुद मैंने ले लिया। मुझे वह अच्छा लगता। बड़े-बूढ़ों की ओर मेरा बड़ा आदर रहता था। जब वे मेरे मनोभाव से परिचित हो गये, तब अपनी निजी सेवा का सारा काम मुझे करने देते थे। बटन लगवाते हुए मुँह पिचकाकर मुझे कहते—'देखो न, महासभा के सेवक को बटन लगाने तक की फ़ुरसत नहीं मिलती। क्योंकि उस समय भी वे काम में लगे रहते हैं!' इस भोलेपन पर मुझे मन में हँसी तो आई। परन्तु ऐसी सेवा के लिए मन में अरुचि बिलकुल न हुई। उससे जो लाभ मुझे हुआ उसकी क़ीमत नहीं आँकी जा सकती।

थोड़े ही दिनों में मैं महासभा के तंत्र से परिचित हो गया। बहुत से अगुओं से भेंट हुई। गोखले, सुरेन्द्रनाथ आदि योद्धा आते-जाते रहते। उनका रँग-ढंग मैं देख सका। महासभा में समय जिस तरह बर्बाद होता था, वह मेरी नज़र में आया। अंग्रेजी भाषा का दौर-दौरा भी देखा। इससे उस समय भी दुःख हुआ था। मैंने देखा कि एक आदमी के करने में उससे अधिक आदमी लग जाते थे, और कुछ जरूरी कामों को तो कोई भी नहीं करता था।

मेरा मन इन तमाम बातों की आलोचना किया करता था। परन्तु, चित्त उदार था—इसलिए यह मान लेता कि शायद इससे अधिक सुधार होना असंभव होगा। फलतः किसी के प्रति मन में दुर्भाव न उत्पन्न हुआ।

---

(१५)

महासभा में

महासभा शुरू हुई। मण्डप का भव्य दृश्य, स्वयं सेवकों की कतार, मंच पर बड़े-बूढ़ों के समुदाय को देख कर मैं दंग हो गया। इस सभा में भला मेरा क्या पता चलेगा— इस विचार से मैं बेचैन हुआ।

सभापति का भाषण एक खासी पुस्तक थी! उसका पूरा पढ़ा जाना मुश्किल था। कुछ कुछ अंश ही पढ़े गये।

फिर विषय-विचारिणी समिति के सदस्य चुने गये। गोखले मुझे उसमें ले गये थे।

सर फिरोजशाह ने मेरा प्रस्ताव लेना स्वीकार तो कर ही लिया था। मैं यह सोचता हुआ समिति में बैठा था कि उस प्रस्ताव को समिति में कौन पेश करेगा, कब करेगा, आदि। हर प्रस्ताव पर लंबे लंबे भाषण होते थे। और सबके सब अंग्रेजी में। प्रत्येक प्रस्ताव के समर्थक कोई न कोई प्रसिद्ध पुरुष थे। इस नक्कार खाने में मुझ तूती की आवाज़ कौन सुनेगा? ज्यों ज्यों रात जाती थी, त्यों त्यों मेरा दिल धड़कता था। मुझे याद आता है कि अन्त में रह जाने वाले प्रस्ताव आजकल के वायुयान की गति से

चलते थे। सब घर भागने की तैयारी में थे। रात के ११ बज गये। मेरी बोलने की हिम्मत न होती थी। पर मैं गोखले से मिल लिया था और उन्होंने मेरा प्रस्ताव देख लिया था।

उनकी कुरसी के पास जा कर मैंने धीरे से कहा—

'मेरी बात न भूलिएगा।'

उन्होंने कहा—'तुम्हारा प्रस्ताव मेरे ध्यान में है। यहाँ की जल्दी तो तुम देख ही रहे हो। पर मैं उसे भूल में न पड़ने दूँगा।'

'क्यों अब सब खतम हुआ न?' सर फिरोजशाह बोले।

'अभी तो दक्षिण आफ्रिका का प्रस्ताव बाकी है न? मि० गाँधी बैठे राह देख रहे हैं।' गोखले बोल उठे।

'आपने उस प्रस्ताव को देख लिया है?' सर फिरोजशाह ने पूछा।

'हाँ, जरूर।'

'आपको ठीक जँचा है?'

'हाँ सब ठीक है।'

'तो गाँधी, पढ़ो तो।'

मैंने काँपते हुए पढ़ सुनाया।

गोखले ने उसका समर्थन किया।

'सर्व-सम्मति से पास' सब बोल उठे।

'गाँधी तुम पाँच मिनिट बोलना।' वाच्छा बोले।

इस दृश्य से मुझे खुशी न हुई। किसी ने प्रस्ताव को समझ लेने का कष्ट न उठाया। सब दौड़-भाग में थे। गोखले के देख लेने से औरों ने देखने सुनने की जरूरत न समझी।

सुबह हुई।

मुझे तो अपने भाषण की पड़ी थी। पाँच मिनिट में क्या कहूँगा? मैंने तैयारी अपनी तरफ़ से तो ठीक ठीक की थी; परन्तु आवश्यक शब्द न सूझते थे। इधर यह निश्चय कर लिया था कि कुछ भी हो, लिखित भाषण न पढ़ूँगा। पर ऐसा प्रतीत हुआ मानों दक्षिण आफ्रिका में बोलने की जो निःसंकोचता आ गई थी वह यहाँ खो गई।

मेरे प्रस्ताव का समय आया और सर दीनशा ने मेरा नाम पुकारा। मैं खड़ा हुआ। सिर चक्कर खाने लगा। ज्यों त्यों करके प्रस्ताव पढ़ा। किसी कवि ने अपनी एक कविता समस्त प्रतिनिधियों में बाँटी थी। उसमें विदेश जाने और समुद्र-यात्रा करने की स्तुति की गई थी। मैंने उसे पढ़ सुनाया और दक्षिण आफ्रिका के दुःखों की कुछ बातें सुनाईं। इतने में सर दीनशा ने घण्टी बजाई। मुझे निश्चय था कि अभी पांच मिनिट नहीं हुए हैं। पर मैं यह नहीं जानता था कि यह घण्टी तो मुझे चेतावनी देने के लिए दो मिनिट पहले ही बजा दी गई थी। मैंने बहुतों को आध आध घण्टे तक बोलते सुना था पर घण्टी न बजी थी। इससे मुझे दुःख हुआ। घण्टी बजते ही मैं बैठ गया। परन्तु मेरी अल्प बुद्धि ने उस समय मान लिया कि उस कविता के द्वारा सर फिरोजशाह को उत्तर मिल गया था।

प्रस्ताव के पास होने के संबंध में तो पूछना ही क्या? उस समय प्रेक्षक और प्रतिनिधि-यह भेद क्वचित् ही था। प्रस्तावों का विरोध भी कोई न करता था। सब हाथ ऊँचा कर देते। तमाम प्रस्ताव एकमत से पास होते। मेरे प्रस्ताव का भी यही

हाल हुआ। इस कारण मुझे इस प्रस्ताव का महत्व न जँचा। फिर भी महासभा में उस प्रस्ताव का होना ही मेरे आनंद के लिए बस था। महासभा की मुहर जिस पर लग गई उसपर सारे भारतवर्ष की मुहर है—यह ज्ञान किस के लिए काफी नहीं है ?

---

(१६)

लार्ड कर्जन का दरबार

महासभा तो समाप्त हुई, परन्तु मुझे दक्षिण आफ्रिका के काम के लिए कलकत्ते में रह कर चेम्बर आफ कामर्स इत्यादि संस्थाओं से मिलना था। इसलिए मैं एक महीना कलकत्ते ठहर गया। इस बार होटल में ठहरने के बदले, परिचय प्राप्त करके, 'इन्डिया क्लब' में रहने का प्रबन्ध किया। इसमें मुझे लोभ यह था कि यहाँ गण्य-मान्य हिन्दुस्तानी ठहरा करते हैं, अतएव उनके सम्पर्क में आ कर दक्षिण आफ्रिका के काम में उनकी दिलचस्पी पैदा कर सकूँगा। इस क्लब में गोखले हमेशा नहीं तो समय-समय पर बिलियर्ड खेलने आते। उन्हें इस बात की खबर मिलते ही कि मैं कलकत्ते में रहने वाला हूँ उन्होंने मुझे अपने साथ रहने का निमंत्रण दिया। मैंने उसे सादर स्वीकार किया। परन्तु अपने आप वहाँ जाना मुझे ठीक न मालूम हुआ। एक-दो दिन राह देखी थी कि गोखले खुद आ कर अपने साथ मुझे ले गये। मेरी संकोच-वृत्ति देख कर उन्होंने कहा—

'गाँधी, तुम्हें तो यहीं देश में रहना है, इसलिए ऐसी शरम से काम न चलेगा। जितने लोगों के सम्पर्क में आ सको तुम्हें

आना चाहिए। मुझे तुमसे महासभा का काम लेना है।'

गोखले के यहाँ जाने के पहले 'इन्डिया क्लब' का एक अनुभव यहाँ दे देता हूँ।

इन्हीं दिनों लार्ड कर्जन का दरबार था। उसमें जाने वाले कोई राजा-महाराजा इस क्लब में थे। क्लब में मैं उन्हें हमेशा उम्दा बङ्गाली धोती, कुरता पहने तथा चादर डाले देखता। आज उन्होंने पतलून, चोगा, खानसामा जैसी पगड़ी और चमकीले बूट पहने। यह देख कर मुझे दुःख हुआ। और इस वेशान्तर का कारण उन-से पूछा—

'हमारा दुःख हमी जानते हैं। हमारी धन-सम्पत्ति और उपाधियों को क़ायम रखने के लिए हमें जो-जो अपमान सहन करने पड़ते हैं उन्हें आप कैसे जान सकते हैं ?' उत्तर मिला।

'परन्तु यह खानसामा जैसी पगड़ी और ये बूट क्यों ?'

'हममें और खानसामा में आपने क्या फ़र्क समझा ? वे हमारे खानसामा हैं तो हम लार्ड कर्जन के खानसामा हैं ? यदि मैं दरबार में गैर हाजिर रहूँ तो मुझे उसका फल भोगना पड़े। अपने मामूली लिबास में जाऊँ तो यह अपराध समझा जाय, और वहाँ जा कर भी क्या मैं लार्ड कर्जन से बात-चीत कर सकूँगा ? बिलकुल नहीं।'

मुझे इस शुद्ध-हृदय भाई पर दया आई।

इसी तरह का एक और दरबार मुझे याद आता है। जब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का शिलारोपण लार्ड हार्डिंग के हाथों से हुआ तब उनके लिए दरबार किया गया था। उसमें राजा-महाराजा तो थे ही। भारत-भूषण मालवीयजी ने मुझे भी उसमें

उपस्थित रहने के लिए ख़ासतौर पर आग्रह किया। मैं वहाँ गया था। राजा-महाराजाओं के वस्त्राभूषणों को, जो केवल स्त्रियों को ही शोभा दे सकते थे, देख कर मुझे बड़ा दुःख हुआ। रेशमी पाजामे, रेशमी अंगरखे और गले में हीरे मोती की मालायें! बाँह पर बाजूबन्द और पगड़ियों पर हीरे मोती की लड़ियाँ और तुर्रे! इन सब के साथ कमर में सोने की मूठ की तलवार लटकती रहती। किसी ने कहा-यह इनके राज्यधिकार के नहीं, बल्कि गुलामी के चिह्न हैं। मैं समझता था कि ऐसे नामर्दी के आभूषण वे स्वेच्छा से पहनते होंगे। परन्तु मुझे मालूम हुआ कि ऐसे समारोह में अपने तमाम कीमती वस्त्रा-भूषण पहन कर आना उनके लिए लाजिमी था। मुझे पता लगा कि कितने ही राजाओं को तो ऐसे वस्त्रा-भूषणों से नफरत थी, और ऐसे दरबार के अवसरों के अलावा वे कभी उन्हें न पहनते थे। मैं नहीं कह सकता यह बात कहाँ तक सच है। दूसरे अवसरों पर वे चाहे पहनते हों या न पहनते हों, वाइसराय के दरबार में हों अथवा दूसरी जगह हों, स्त्रियोचित आभूषण पहन कर उन्हें जाना पड़ता है यही काफ़ी दुःख दायक है। धन, सत्ता और मान मनुष्य से क्या-क्या पाप और अनर्थ नहीं कराते!

---

(१७)

गोखले के साथ एक मास

पहले ही दिन गोखले ने मुझे महमान न समझने दिया। मुझे अपने छोटे भाई की तरह रक्खा। मेरी तमाम ज़रूरतें मालूम कर लीं और उनका प्रबंध कर दिया। खुशकिस्मती से मेरी ज़रूरतें बहुत कम थीं। सब काम खुद कर लेने की आदत मैंने डाल ली थी इसलिए औरों से मुझे बहुत ही कम काम करना पड़ता था। स्वावलंबन की मेरी इस आदत की, उस समय के मेरे कपड़े-लत्ते की सुघरता की, मेरी उद्योग-शीलता और नियमितता की बड़ी गहरी छाप उनपर पड़ी और इनकी इतनी स्तुति करने लगे कि मैं परेशान हो जाता।

मुझे यह न मालूम हुआ कि उनकी कोई बात मुझसे गुप्त थी। जो-कोई बड़े आदमी उनसे मिलने आते उनका परिचय मुझसे करवाते! इन परिचयों में जो आज सबसे प्रधान रूप से मेरी नज़रों के सामने खड़े हो जाते हैं वे हैं डा० प्रफुल्लचन्द्र राय। वे गोखले के मकान के पास ही रहते थे और प्रायः हमेशा आया करते थे।

'यह हैं प्राफेसर राय, जो ८००) मासिक पाते हैं; पर अपने

खर्च के लिए सिर्फ ४०) ले कर बाकी सब लोक-सेवा में लगा देते हैं। इन्होंने शादी नहीं की है, न करना ही चाहते हैं।' इन शब्दों में गोखले ने मुझे उनका परिचय कराया।

आज के डा० राय में और उस समय के प्रो० राय में मुझे थोड़ा ही भेद दिखाई देता है। जैसे कपड़े उस समय पहनते थे आज भी लगभग वैसे ही पहनते हैं—हाँ, अब खादी आ गई है। उस समय खादी तो थी ही नहीं। स्वदेशी मिलों के कपड़े होंगे। गोखले और प्रो० राय की बातें सुनते हुए मैं न अघाता था। क्योंकि उनकी बातें या तो देश-हित के संबंध में होतीं या होतीं ज्ञान-चर्चा। कितनी ही बातें दुःखद भी होतीं; क्योंकि उनमें नेताओं की आलोचना भी होती। जिन्हें मैं महान् योद्धा मानना सीखा था वे छोटे दिखाई देने लगे।

गोखले की काम करने की पद्धति से मुझे जितना आनंद हुआ उतना ही बहुत-कुछ सीखा भी। वे अपना एक भी क्षण व्यर्थ न जाने देते थे। मैंने देखा कि उनके तमाम संबंध देश-कार्य के ही लिए होते थे। बातें भी तमाम देश-कार्य के ही निमित्त होती थीं। बातों में कहीं भी मलिनता, दम्भ या असत्य न दिखाई दिया। हिन्दुस्तान की गरीबी और पराधीनता उन्हें प्रतिक्षण चुभती थी। अनेक लोग उन्हें अनेक बातों में दिलचस्पी कराने आते। वे उन्हें एक ही उत्तर देते—'आप इस काम को कीजिए, मुझे अपना काम करने दीजिए। मुझे तो देश की स्वाधीनता प्राप्त करनी है। उसके बाद मुझे दूसरी बातें सुझाई देंगी। अभी तो इस काम से मुझे एक क्षण फुरसत नहीं रहती।'

रानड़े के प्रति उनका पूज्य भाव बात बात में टपक पड़ता।

'रानडे ऐसा कहते थे' यह तो उनकी बात चीत का मानों 'सूत उवाच' ही था। मेरे वहाँ रहते हुए रानड़े की जयंति (या पुण्य तिथि अब ठीक याद नहीं है) पड़ती थी। ऐसा जान पड़ा मानों गोखले सर्वदा उसको मनाते हों। उस समय मेरे अलावा उनके मित्र प्रोफेसर काथवटे तथा दूसरे एक सज्जन थे। उन्हें उन्होंने जयंति मनाने के लिए निमंत्रित किया। और उस अवसर पर उन्होंने हमें रानड़े के कितने ही संस्मरण कह सुनाये। रानड़े तैलंग और माण्डलिक की तुलना की थी। ऐसा याद पड़ता है कि तैलंग की भाषा की स्तुति की थी। माण्डलिक की सुधारक के रूप में प्रशंसा की थी। अपने मवक्किलों की वे कितनी चिन्ता रखते थे इसका एक उदाहरण दियो। एक बार गाड़ी चूक गई तो माण्डलिक स्पेशल ट्रेन कर के गये। यह घटना कह सुनाई। रानड़े की सर्वांगीण शक्ति का वर्णन कर के बताया कि वे तत्कालीन अग्रणियों में सर्वोपरि थे। रानड़े अकेले न्यायमूर्ति न थे। वे इतिहासकार थे, अर्थशास्त्री, थे, सुधारक थे। सरकारी जज होते हुए भी महासभा में प्रेत्तक के रूप में निर्भय हो कर आते। फिर उनकी समझदारी पर लोगों का इतना विश्वास था कि सब उनके निर्णयों को मानते थे। इन बातों का वर्णन करते हुए गोखले के हर्ष का ठिकाना न रहता था।

गोखले घोड़ा-गाड़ी रखते थे। मैंने उनसे शिकायत की। मैं उनकी कठिनाइयाँ न समझ सका था। 'क्या आप सब जगह ट्राम में नहीं जा सकते? क्या इससे नेताओं की प्रतिष्ठा कम हो जायगी?'

कुछ दुखित हो कर उन्होंने उत्तर दिया—'क्या तुम भी मुझे

न पहचान सके ? बड़ी धारा सभा से जो कुछ मुझे मिलता है उसे मैं अपने काम में नहीं लेता। तुम्हारी ट्राम की सफर पर मुझे ईर्ष्या होती है। पर मैं ऐसा नहीं कर सकता। जब तुमको मेरे जितने लोग पहचानने लग जायेंगे तब तुम्हें भी ट्राम में बैठना असंभव नहीं तो मुश्किल जरूर हो जायगा। नेता लोग जो कुछ करते हैं, केवल आमोद-प्रमोद के ही लिए करते हैं यह मानने का कोई कारण नहीं। तुम्हारी सादगी मुझे पसंद है। मैं भरसक सादगी से रहता हूँ; पर यह बात निश्चित समझना कि कुछ खर्च तो मुझ जैसों के लिए अनिवार्य होजाता है।'

इस तरह मेरी एक शिकायत तो ठीक तरह से रद हो गई; पर मुझे एक दूसरी शिकायत भी थी और उसका वे सन्तोषजनक उत्तर न दे सके।

'पर आप घूमने भी तो पूरे नहीं जाते। ऐसी हालत में आप बीमार क्यों न रहें ? क्या देश-कार्य में से व्यायाम के लिए भी फुरसत नहीं निकल सकती ? मैंने कहा—

'मुझे तुम कब फुरसत में देखते हो कि जिस समय मैं घूमने जाता ?' उत्तर मिला।

गोखले के प्रति मेरे मन में इतना आदर भाव था कि मैं उनकी बातों का जवाब न देता था। इस उत्तर से मुझे सन्तोष न हुआ, पर मैं चुप रहा। मैं मानता था और अब भी मानता हूँ कि जिस तरह हम भोजन-पान के लिए समय निकालते हैं उसी तरह व्यायाम के लिए भी निकालना चाहिए। मेरी यह नम्र सम्मति है कि उससे देश सेवा कम नहीं अधिक होती है।

---

(१८)

गोखले के साथ एक मास--२

गोखले की छत्रच्छाया में रहकर यहाँ मैंने अपना सारा समय घर में बैठकर नहीं बिताया।

मैंने अपने दक्षिण आफ्रिका वाले ईसाई मित्रों से कहा कि भारत में मैं अपने देशी-ईसाइयों से जरूर मिलूंगा और उनकी स्थिति को जानूँगा। कालीचरण बैनर्जी का नाम मैंने सुना था। राष्ट्रीय महासभा में वे आगे बढ़ बढ़ कर काम करते थे। इसलिए उनके प्रति मेरे मन में आदर-भाव हो गया था। क्योंकि हिन्दुस्तानी ईसाई आम तौर पर महासभा से और हिन्दुओं तथा मुसलमानों से अलग रहते थे। इसलिए जो अविश्वास उनके प्रति था वह कालीचरण बैनर्जी के प्रति न दिखाई दिया। मैंने गोखले से कहा कि मैं उनसे मिलना चाहता हूँ। उन्होंने कहा- वहाँ जाकर तुम क्या करोगे? वे हैं तो बहुत भले आदमी; परंतु मैं समझता हूँ कि उनसे मिलकर तुम्हें संतोष न होगा। मैं उनको खूब जानता हूँ। फिर भी तुम जाना चाहो तो खुशी से जा सकते हो।

मैंने कालीबाबू से मिलने का समय माँगा। उन्होंने तुरंत समय दिया और मैं मिलने गया। घर में उनकी धर्मपत्नी मृत्युशय्या

पर पड़ी हुई थीं। घरमें सर्वत्र सादगी फैली हुई थी। महासभा वे कोट पतलून पहने हुए थे, पर घर में बंगाली धोती व कुरता पहने हुए देखा। यह सादगी मुझे भाई। उस समय यद्यपि मैं पारसी कोट-पतलून पहने था, तथापि उनकी पोशाक और सादगी मुझे बहुत ही प्रिय लगी मैंने और बातों में उनका समय न लेकर अपनी उलझनें उनके सामने पेश कीं।

उन्होंने मुझ से पूँछा, 'आप यह बात मानते हैं या नहीं कि हम अपने पापों को साथ लेकर जन्म पाते हैं?

मैंने उत्तर दिया—'हाँ जरूर!'

"तो इस मूल पाप के निवारण का उपाय हिन्दू धर्म में नहीं पर इसाई धर्म में हैं।

यह कहकर उन्होंने कहा—'पाप का बदला है मौत, बाइबल कहती है कि इस मौत से बचने का मार्ग ईसा की शरण में जाना है।'

मैंने भगवद्गीता का भक्ति मार्ग उनके सामने उपस्थित किया। परंतु मेरा यह उद्योग निरर्थक था। मैंने उनकी सज्जनता के लिए उनको धन्यवाद दिया। मुझे संतोप तो न हुआ, फिर भी इस मुलाक़ात से लाभ ही हुआ।

इसी महीने में मैंने कलकत्ते की एक एक गली की खाक छान डाली। प्रायः पैदल ही जाता। इसी समय मैं न्यायमूर्ति मित्र से मिला, सर गुरुदास बैनर्जी से भी मिला। इन सज्जनों की सहायता दक्षिण आफ्रिका के कामके लिए आवश्यक थी। राजा सर प्यारी-मोहन मुकर्जी के दर्शन भी इसी समय हुए।

कालीचरण बैनर्जी ने मुझ से काली मंदिर का जिक्र किया था। उसे देखने की मुझे प्रबल इच्छा थी। एक पुस्तक में मैंने वर्णन

पढ़ा था, सो एक दिन वहाँ चला गया। न्यायमूर्ति मित्र का मकान उसी मुहल्ले में था। इस लिए मैं जिस दिन उनसे मिला, उसी दिन काली मंदिर गया। रास्ते में बलिदान के बकरों की कतार जाती हुई देखी। मंदिर की गली में पहुँचते ही भिखारियों की भीड़ दिखाई दी। बावा बैरागी तो थे ही। उस समय भी मेरा यह नियम था कि हट्टे-कट्टे भिखारी को कुछ न दिया जाय; पर भिखारी तो बहुत ही पीछे पड़े थे।

एक बाबाजी एक चौंतरे पर बैठे थे। उन्होंने मुझे बुलाया, 'क्यों बेटा कहाँ जाते हो ?' मैंने यथोचित उत्तर दिया। उन्होंने मुझे तथा मेरे साथी को बैठने के लिए कहा, हम बैठ गये।

मैंने पूँछा—'इन बकरों के बलिदान को आप धर्म समझते हैं?'

उन्होंने कहा—'जीव हत्या को धर्म कौन मानेगा ?'

'तो आप यहाँ बैठे-बैठे लोगों को उपदेश क्यों नहीं देते ?'

'यह हमारा काम नहीं। हम तो यहाँ बैठ कर भगवद्भक्ति करते हैं।'

'पर आपको भक्ति के लिए यही स्थान मिला, दूसरा नहीं''

'कहीं भी बैठें, हमारे लिए सब जगह एकसी है। लोगों का क्या, वे तो भेड़-बकरी के झुण्ड की तरह हैं। जिधर हाँकें उधर चले जायँ। हम साधुओं को इससे क्या मतलब ?' बाबाजी बोले।

मैंने संवाद आगे न बढ़ाया। उसके बाद हम मंदिर में पहुँचे। सामने लहू की नदी बह रही थी। दर्शन करने के लिए खड़े रहने की इच्छा न रही। मेरे मनमें बड़ा क्षोभ उत्पन्न हुआ। मैं छटपटाने लगा। इस दृश्य को मैं अबतक न भूल सका।

उसी समय बंगाली मित्रों की एक पार्टी में मुझे निमंत्रण था।

वहाँ मैंने एक सज्जन से इस घातकी पूजा के सम्बन्ध में वातचीत की। उन्होंने कहा—'वहाँ वलिदान के समय खूब नोवत वजती है, जिसकी गूँज में वकरों को कुछ मालूम नहीं होता। हम मानते हैं कि ऐसी गूँजमें उन्हें चाहे जिस तरह मारें तकलीफ नहीं होती।'

मुझे यह वात न जँची। मैंने कहा—'यदि वे वकरे वोल सकें तो भिन्न वात कहेंगे। मुझे लगा कि यह घातक रिवाज़ अवश्य वंद होना चाहिए। मुझे वुद्धदेव वाली कथा याद आई। परंतु मैंने देखा, कि यह काम मेरे सामर्थ्य के वाहर था।

उस समय इस सम्बन्ध में जो मेरी धारणा हुई वही अब भी मौजूद है। मेरे नज़दीक वकरे के प्राण की कीमत मनुष्य के प्राण से कम नहीं है। मनुष्य देहको कायम रखने के लिए वकरे का खून करने के लिए मैं कभी तैय्यार न होऊँगा। मैं मानता हूँ कि जो प्राणी जितना ही अधिक अपंग होगा, वह मनुष्य की घातकता से वचने के लिए मनुष्य के आश्रय का उतना ही अधिक अधिकारी है। परन्तु इतनी योग्यता वा अधिकार प्राप्त किये विना मनुष्य ऐसा आश्रय देने में समर्थ नहीं हो सकता। वकरों को इस क्रूर होम से वचाने के लिए अभी मुझे वहुत आत्म शुद्धि और त्याग की आवश्यकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अभी तो इस शुद्धि और त्याग का रटन करते करते ही मुझे यह देह छोड़ना पड़ेगा। परमात्मा करे ऐसा कोई तेजस्वी पुरुप अथवा कोई तेजस्विनी सती उत्पन्न हो, जो इस महापातक से मनुष्य को वचावे, निर्दोप जीवों की रत्ता करे, और मन्दिर को शुद्ध करे। मैं निरंतर यह प्रार्थना किया करता हूँ। ज्ञानी, वुद्धिवान, त्याग वृत्ति वाला और भावना-प्रधान वंगाल क्यों कर इस वध को सहन कर रहा है?

(१६)

गोखले के साथ एक मास--३

काली-माता के निमित्त यह जो विकराल यज्ञ हो रहा है उसको देखकर बंगाली जीवन का अध्ययन करने की मेरी इच्छा तीव्र हुई। उसमें से ब्रह्म-समाज के विषय में तो मैंने ठीक तौर पर साहित्य पढ़ा था और सुना भी था। प्रतापचन्द्र मजूमदार के जीवन वृत्तान्त से मैं थोड़ा बहुत परिचित था। उनके व्याख्यान सुने थे। उनका लिखा केशवचंद्र सेन का जीवन चरित्र लेकर बड़े चाव से पढ़ा, और साधारण ब्रह्म-समाज तथा आदि ब्रह्म-समाज का भेद मालूम किया। पण्डित शिवनाथ शास्त्री के दर्शन किये। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के दर्शन करने प्रो० काथवटे और मैं गया। पर उस समय वे किसी से मिलते-जुलते न थे। अतएव हम उनके दर्शन न कर सके। परंतु उनके यहाँ ब्रह्म-समाज का उत्सव था। उसमें हम भी निमंत्रित किये गये थे। वहाँ ऊँचे दरजे का बंगाली संगीत सुना तभी से बंगाली संगीत से मेरा अनुराग हो गया।

ब्रह्म-समाज का जितना हो सकता था अध्ययन करने के बाद भला यह कैसे हो सकता था कि स्वामी विवेकानंद के दर्शन

न करता ? बड़ी उत्सुकता के साथ मैं बेलूर मठ तक प्रायः पैदल गया। कितना पैदल चला था, यह अब याद नहीं पड़ता है। मठ का एकांत स्थान मुझे बड़ा सुहावना मालूम हुआ। वहाँ जाने पर मालूम हुआ कि स्वामीजी बीमार हैं, उनसे मुलाकात नहीं हो सकती, और वे अपने घर कलकत्ते में हैं। यह समाचार सुन कर मैं निराश हुआ। भगिनी निवेदिता के घर का पता पूछा। चौरंगी के एक महल में उनके दर्शन हुए। उनकी शान को देखकर मैं भौंचक रह गया। बात-चीत में भी हमारी पटरी बहुत न बैठी। मैंने गोखले से इसका जिक्र किया। कहा—वह बाई बड़ी तेज़ है, तुम्हारी उसकी पटरी बैठनी मुश्किल है।'

एक बार और उनसे मेरी भेट पेस्तनजी पादशाह के यहाँ हुई थी। जिस समय मैं वहाँ पहुँचा; वे पेस्तनजी की वृद्धा माता को उपदेश दे रही थीं। इसलिए मैं अनायास उनका दुभाषिया बन गया। यद्यपि भगिनी का और मेरा मेल न बैठता था, तथापि मैं इतना अवश्य देख सका कि हिन्दू-धर्म के प्रति उनका प्रेम अगाध है। उनकी पुस्तकें मैंने बाद को पढ़ीं।

अपने दैनिक कार्यक्रम के मैंने दो विभाग किये थे। आधा दिन दक्षिण आफ्रिका के काम के सिलसिले में कलकत्ते के नेताओं से मिलने में बिताता, और आधा दिन कलकत्ते की धार्मिक संस्थाओं तथा दूसरी सार्वजनिक संस्थाओं को देखने में। एक दिन मैंने डा० मल्लिक की अध्यक्षता में एक व्याख्यान दिया। उसमें मैंने यह बताया कि बोअर-युद्ध के समय हिन्दुस्तानियों के परिचारक दल ने क्या काम किया ? 'इंग्लिशमैन' के साथ जो मेरा परिचय था, वह इस समय भी सहायक साबित हुआ।

मि० सारण्डर्स का स्वास्थ्य इन दिनों ख़राब रहता था, फिर भी १८९६ की तरह इस समय भी उनसे मुझे उतनी ही मदद मिली। मेरा यह भाषण गोखले को पसंद आया, और जब डॉ राय ने मेरे व्याख्यान की तारीफ़ उनसे की तो उसे सुनकर वे बड़े प्रसन्न हुए थे।

इस तरह गोखले की छत्रच्छाया में रहने के कारण बंगाल में मेरा काम बहुत सरल हो गया। बंगाल के अग्रगण्य परिवारों से मेरा परिचय आसानी से होगया, और बंगाल के साथ मेरा निकट सम्बन्ध हुआ। इस चिरस्मरणीय महीने के कितने ही संस्मरण मुझे छोड़ देने पड़ेंगे। उसी महीने में ब्रह्मदेश में भी गोता लगा आया, वहाँ के फुंगियों से मिला। उनके आलस्य को देखकर बड़ा दुःख हुआ। सुवर्ण पेगोड़े के भी दर्शन किये। मंदिर में असंख्य छोटी-छोटी मोमबत्तियाँ जल रही थीं; वे कुछ जँची नहीं। मंदिर के गर्भ-गृह में चूहों को दौड़ते हुए देखकर स्वामी दयानंद का अनुभव याद आया। ब्रह्मदेश की महिलाओं की स्वतंत्रता और उत्साह को देखकर मैं मुग्ध हो गया और पुरुषों की मंदता देख कर दुःख हुआ। उसी समय मैंने देख लिया कि जैसे बंबई हिन्दुस्तान नहीं उसी तरह रंगून ब्रह्मदेश नहीं है। और जिस प्रकार हिन्दुस्तान में हम अंग्रेज़ व्यापारियों के कमीशन एजेंट बन गये हैं, उसी तरह ब्रह्मदेश में अंग्रेजों के साथ मिलकर हमने ब्रह्मदेश वासियों को कमीशन एजेंट बनाया है।

ब्रह्मदेश से लौटकर मैंने गोखले से विदा माँगी। उनका वियोग मेरे लिए दुःसह था। परंतु मेरा बंगाल का-अथवा सच पूछिये तो कलकत्ते का काम समाप्त हो गया था।

किसी काम में पड़ने के पहिले मेरा यह विचार

था कि तीसरे दरजे में हिन्दुस्तान में थोड़ी-बहुत सफर करूँ, जिससे तीसरे दरजे के मुसाफिरों की हालत को जान लूँ और दुःखों को समझ लूँ। गोखले के सामने मैंने अपना यह विचार रक्खा। पहले-पहल तो उन्होंने इसे हँसी में गुजार दिया। पर जब मैंने यह बताया कि इसमें मैंने क्या-क्या बातें सोच रक्खी हैं, तब उन्होंने खुशी से मेरी योजना को स्वीकार किया। सब से पहिले मैंने काशी जाना और वहाँ जाकर विदुषी एनी बेसेंट के दर्शन करना स्थिर किया। वे उस समय बीमार थीं।

तीसरे दरजे की यात्रा के लिए मुझे नया साज-समान, जुटाना था। पीतल का एक डब्बा गोखले ने खुद ही दिया, और उसमें मेरे लिये मगद के लड्डू और पूरी रखवा दिये। बारह आने का एक केनवास का बेग खरीदा। छाया (पोरबंदर के नजदीक एक गाँव) के ऊन का एक लंबा कोट बनवाया था, बेग में यह कोट, तौलिया, कुरते और धोती रक्खी। ओढ़ने के लिए एक कम्बल साथ लिया। इसके अलावा एक लोटा भी साथ रक्खा था। इतना सामान लेकर मैं रवाना हुआ।

गोखले और डा० राय मुझे स्टेशन पहुँचाने आये। मैंने दोनों से अनुरोध किया था कि वे न आवें, पर उन्होंने एक न सुनी। 'तुम यदि पहले दरजे में सफर करते तो मैं नहीं आता, पर अब तो जरूर चलूँगा-' गोखले बोले।

प्लेट फार्म पर जाते हुए गोखले को तो किसीने न रोका। उन्होंने सर पर अपना रेशमी साफा बाँधा था, और धोती तथा कोट पहना था। डा० राय बंगाली लिबास में थे। इसलिए

टिकिट बाबू ने अंदर आते हुए पहिले तो रोका, पर गोखले ने कहा--'मेरे मित्र हैं' तब डा० राय भी अंदर आ सके। इस तरह दोनों ने मुझे विदा दी।

---

(२०)

काशी में

यह सफर कलकत्ते से राजकोट तक की थी। उसमें काशी, आगरा, जयपुर, आगरा और पालनपुर होते हुए राजकोट जाना था। इन स्थानों को देख लेने के सिवाय अधिक समय नहीं दे सकता था। हरएक जगह एक एक दिन रहा। पालनपुर को छोड़कर और सब जगह मैं यात्रियों की तरह धर्मशाला में या पंडों के मकान पर ठहरा था। जहाँ तक मुझे याद है, इस यात्रा में रेल-किराये सहित इकतीस रुपये लगे थे। तीसरे दर्जे में प्रवास करते हुए भी मैं अक्सर डाक गाड़ी में नहीं जाता था क्योंकि मैं जानता था कि उसमें भीड़ ज्यादा होती है। और तीसरे दरजे के किराये के हिसाब से वहाँ पैसे भी अधिक देने पड़ते थे। मेरे लिए यह अड़चन भी थी ही।

तीसरे दरजे के डब्बों में जो गन्दगी और पैखानों की बुरी हालत इस समय है वही पहले भी थी। शायद इन दिनों कुछ सुधार होगया हो, पर तीसरे और पहले दरजे की सुविधाओं में जो अंतर है, वह इन दोनों दरजों के किराये के अंतर की अपेक्षा मुझे बहुत अधिक मालूम हुआ। तीसरे दरज़े के यात्री तो मानो

भेड़-बकरी होते हैं, और इनके बैठने के डब्बे भी भेड़-बकरियों के लायक होते हैं। योरप में तो मैंने अपनी सारी यात्रा तीसरे दरजे में ही की थी; केवल अनुभव के लिए एकबार में पहले दरजे में बैठा था। पर वहाँ मुझे पहिले और तीसरे दरजे के बीच यहाँ का सा अन्तर न दिखाई दिया। दक्षिण आफ्रिका में तो तीसरे दरजे के मुसाफिर प्रायः हबशी लोग होते हैं, पर फिर भी वहाँ के तीसरे दरजे के डब्बों में यात्रियों के आराम का ध्यान अधिक रक्खा जाता है। कहीं कहीं तो मुसाफिरों के लिए तीसरे दरजे के डब्बों में सोने का भी प्रबन्ध है, और बैठकों पर गद्दी भी लगी रहती है। प्रत्येक खाने में बैठने वाले यात्रियों की संख्या की मर्यादा का पालन किया जाता है, पर यहाँ तो मुझे कभी ऐसा अनुभव नहीं हुआ कि यात्रियों की संख्या की इस मर्यादा का पालन किया गया हो।

रेलवे विभाग की इन असुविधाओं के अलावा यात्रियों की खराब आदतें भी सुघड़ यात्रियों के लिए तीसरे दरजे की यात्रा को दण्ड-स्वरूप बना देती हैं। चाहे जहाँ थूँक दिया, जहाँ चाहा कचरा फेंक दिया, जब जी में आया और जिस तरह चाहा बीड़ी फूँकने लगे, पान और-जरदा चबा कर जहाँ बैठे हों वहीं पिचकारी लगादी, जूँठन वहीं फ़र्श पर डाल दिया, जोर जोर से बातें करना, पास बैठे मनुष्य की परवा न करना, और गन्दी भाषा-वग़ैरा यह तीसरे दरजे का सार्वत्रिक अनुभव है।

तीसरे दरजे की मेरी १९२० ई० की यात्रा के अनुभव में और १९१५ से १९१९ तक दूसरी बार के अखंड अनुभव में मुझे कोई विशेष अंतर नहीं दिखाई दिया। इस महा व्याधि का

तो मुझे एकही उपाय दिखाई देता है। वह यही कि शिक्षित-समाज तीसरे दरजे में ही यात्रा करके इन लोगों की आदतें सुधारने का यत्न करे—इसके सिवाय रेलवे के अधिकारियों को शिकायतें कर-कर के तंग कर डलना, अपने लिए सुविधा प्राप्त करने या सुविधा की रक्षा के लिए किसी प्रकार की रिश्वत न देना, और खिलाफ कानून बात को बरदाश्त न करना—ये भी इसके उपाय हैं। मेरा अनुभव है कि ऐसा करने से बहुत-कुछ सुधार हो सकता है। अपनी बीमारी के कारण १९२० ई० से मुझे तीसरे दरजे को यात्रा प्रायः बंद करना पड़ी है। इसपर मुझे सर्वदा दुख और लज्जा मालूम होती रहती है। यह तीसरे दरजे की यात्रा मुझे ऐसे समय पर बंद करना पड़ी जब कि तीसरे दरजे के यात्रियों की कठिनाइयाँ दूर करने का काम रास्ते पर आता जाता था। रेलवे और जहाज में प्रवास करने वाले गरीबों को जो कष्ट एवं असुविधायें होती हैं, और जो उनकी निजी कुटेवों के कारण और भी अधिक हो जाती हैं, साथही सरकार की ओर से विदेशी व्यापारियों के लिए जो अनुचित सुविधायें की जाती हैं, इत्यादि बातें हमारे सार्वजनिक जीवन में एक स्वतन्त्र और महत्व-पूर्ण प्रश्न बन बैठी हैं। और इसे हल करने के लिए यदि एक-दो सुदृढ़ और उद्योगी सज्जन अपना सारा समय दे डालें, तो वह अधिक नहीं होगा।

पर अब तीसरे दरजे की यात्रा की चर्चा यहीं छोड़कर काशी के अनुभव सुनिए। सुबह मैं काशी उतरा। मैं किसी पंडे के ही यहाँ उतरना चाहता था। कई ब्राह्मणों ने मुझे चारों ओर से घेर लिया। उनमें से जो मुझे साफ सुथरा दिखाई दिया, उसके घर जाना मैंने पसंद किया। मेरी पसदगी ठीक भी निकली।

ब्राह्मण के आँगन में गाय बँधी थी। घर दुमंजिला था। ऊपर मुझे ठहराया। मैं यथाविधि गंगा-स्नान करना चाहता था। और तब तक निराहार रहना था। पंडे ने सारी तैयारी कर दी। मैंने पहले से कह रक्खा था कि १।) रुपये से अधिक दक्षिणा मैं नहीं दे सकूँगा। इसलिए उसी योग्य तैयारी करना। पंडे ने बिना किसी झगड़े के मेरी बात मानली। कहा—'हमतो क्या गरीब और क्या अमीर सबसे एकही सी पूजा करवाते हैं। यजमान अपनी इच्छा और सरधा के अनुसार जो दक्षिणा देदे वह सही।' मुझे ऐसा नहीं मालूम हुआ कि पंडे ने पूजा में कोई कोर-कसर रक्खी हो। बारह बजे तक पूजा स्नान से निवृत्त होकर मैं काशी-विश्वनाथ के दर्शन करने गया। पर वहाँ जो कुछ देखा उससे मनमें बड़ा दुःख हुआ।

सन १८९१ ई० में जब मैं बंबई में वकालत करता था, एक दिन प्रार्थना समाज मंदिर में 'काशी-यात्रा' पर एक व्याख्यान सुना था, इसलिए कुछ निराशा के लिए तो वहीं से तैयार हो गया था, पर प्रत्यक्ष देखने पर जो निराशा हुई वह तो धारणा से अधिक थी।

सँकड़ी फिसलनी गली से होकर जाना पड़ता था। शांति का कहीं नाम नहीं। मक्खियाँ चारों ओर भिनभिना रही थीं। यात्रियों और दुकानदारों का हो-हल्ला असह्य मालूम हुआ।

जिस जगह मनुष्य ध्यान एवं भगवच्चिन्तन की आशा रखता हो, वहाँ उनका नामोनिशान नहीं, ध्यान करना हो तो वह अपने अंतर मे करले। हाँ ऐसी भावुक बहन मैंने जरूर देखीं जो ऐसी ध्यान-मग्न थीं कि उन्हें अपने आस-पास का कुछ भी हाल मालूम न होता था। पर इसका श्रेय मंदिर के संचालकों को नहीं मिल सकता। संचालकों का कर्तव्य तो यह है कि काशी-विश्वनाथ के आस-पास

शांत, निर्मल, सुगंधित, स्वच्छ वाता-वरण, क्या बाह्य और आंतरिक उत्पन्न करें, और उसे बनाये रक्खें। पर इसकी जगह मैंने वहाँ गुण्डे लोगों की परले दरजे की मिठाई और खिलोनों की दुकानें देखीं।

मंदिर पर पहुँचते ही दरवाजे के सामने सड़े हुए फूल पड़े थे और उनमें से दुर्गन्ध छूट रही थी। अंदर बढ़िया संगमर्मरी फ़र्श था। उस पर किसी अंध श्रद्धालु ने रुपये जड़ रक्खे थे, रुपयों में मैल-कचरा घुसा रहता था।

मैं ज्ञानवापी के पास गया। यहाँ मैंने ईश्वर की खोज की, वह होगा पर वह न मिला। इससे मैं मन-ही-मन घुट-घुटा रहा था। ज्ञान-वापी के पास भी गंदगी देखी। भेंट रखने की मेरी ज़रा भी इच्छा न हुई, इसलिए मैंनें तो सचमुच ही एक पाई वहाँ चढ़ाई। इस पर पंडा जी उखड़-पडे! उन्होंने पाई उठाकर फेंकदी और दो चार गालियां सुनाकर बोले—'तू इस तरह अपमान करेगा तो नरक में पड़ेगा!'

मैं चुप रहा। मैंने कहा—'महराज! मेरा तो जो होना होगा; वह होगा, पर आपके मुँह से हलकी जबान शोभा नहीं देती। यह पाई लेना हो तो लें वर्ना इसे भी गवाँएँगे!' 'जा तेरी पाई मुझे नहीं चाहिए' कह कर उन्होंने ज्यादा भला-बुरा कहा। मैं पाई लेकर चलता हुआ। मैंने सोचा कि महाराज ने पाई गँवाई और मैंने बचाली। पर महाराज पाई खोने वाले न थे। उन्होंने मुझे फिर बुलाया और कहा-"अच्छा रखदे, मैं तेरे जैसा नहीं होना चाहता। मैं न लूँ तो तेरा बुरा होगा"।

मैंने चुपचाप पाई देदी और एक लंबी सांस लेकर चलता बना।

इसके बाद भी दो-एक वार काशी-विश्वनाथ गया था, पर वह तो जब तब 'महात्मा' बन चुका था। इसलिए १९०२ के अनुभव भला कैसे मिलते ? खुद मेरे ही दर्शन करने वाले मुझे क्या दर्शन करने देते। 'महात्मा' के दुःख तो मुझ जैसे 'महात्मा' ही जान सकते हैं। किन्तु गंदगी और हो-हल्ला तो जैसे के तैसेही वहाँ देखा ।

परमात्मा की दया पर जिसे शंका हो वे ऐसे तीर्थ-क्षेत्रों को देखें। वह महायोगी अपने नाम पर होने वाले कितने ढोंग, अधर्म और पाखण्ड इत्यादि का सहन करते हैं। उन्होंने तो कह रक्खा है:-

"ये यथामां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम्"

अर्थात्—"जैसा करना वैसा भरना" कर्म को कौन मिथ्या कर सकता है ? फिर भगवान को बीच में पड़ने की क्या जरूरत है ? वह तो अपना कानून बतला कर अलग हो गया।

यह अनुभव लेकर मैं मिसेज़ बेसेंट के दर्शन करने गया। वे अभी बीमारी से उठी थीं, यह मैं जानता था। मैंने नाम पहुँचाया, वे तुरंत मिलने आईं। मुझे तो सिर्फ दर्शन ही करने थे। इस लिए मैंने कहा—

"मुझे आपकी तबीयत का हाल मालूम है, मुझे तो सिर्फ़ आपके दर्शन ही करना था। तबीयत ख़राब होते हुए भी आपने मुझे दर्शन दे दिये, केवल इसी से मैं संतुष्ट हूँ; मैं आपको अधिक कष्ट नहीं देना चाहता।"

यह कहकर मैंने उनसे बिदा ली।

---

(२१)

वम्बई में स्थिर हुआ

गोखले की वड़ी इच्छा थी कि मैं वम्बई रह जाऊँ वहीं वैरिस्टरी करूँ और उनके साथ लोक-सेवा में भाग लूँ। उस समय लोक-सेवा का मतलव महासभा-सेवा था। उनकी प्रस्थापित संस्था का खास व्यवसाय महासभा के कार्य का चलाना ही था।

मेरी भी वही इच्छा थी, पर धंदे के मिलजाने के विषय में मुझे आत्म-विश्वास नहीं था,पहिले अनुभव की याद भूला न था, खुशामद करना तो मेरे लिए जहर था।

इसलिए पहिले तो मैं राजकोट ही में रहा। वहाँ मेरे पुराने हितैषी और मुझे विलायट भेजने वाले केवलराम मावजी दवे थे, उन्होंने मुझे तीन मुकद्मे दिये। दो अपीलें, जो काठियावाड़ के ज्युडिशियल असिस्टेंट के सामने थीं, और एक खास मुकद्मा जामनगर में था। यह मामला महत्व का था। इस मामले की जिम्मेदारी लेने से मैंने आना कानी की तव केवलराम वोल उठे—"हारेंगें तो हम हारेंगें न ? तुमसे जितना हो सके करना, और मैं भी तो तुम्हारे साथ ही रहूँगा ?।'

इस मामले में प्रतिपक्षी की तरफ़ स्व० समर्थ थे। मेरी तैयारी भी ठीक थी, यहाँ के कानून की तो मुझे ठीक जानकारी नहीं थी, पर इस सम्बन्ध में मुझ केवलराम दवे ने पूरा तैयार कर दिया था। दक्षिण आफ्रिका जाने से पहले मित्र लोग मुझे कहा करते कि—"एविडन्स-एक्ट साक्षी विधान फिरोजशाह की ज़बान पर रक्खा है, और यही उनकी सफलता की चाबी है।" यह मैंने ध्यान में रक्खा, और दक्षिण आफ्रिका जाते समय मैंने भारत के इस कानून को टीका सहित पढ़ लिया था, इसके अतिरिक्त दक्षिण आफ्रिका का अनुभव तो था ही।

मुकद्दमें में मेरी जीत हुई, इससे मेरा विश्वास दृढ़ हुआ, पहिली उन दो अपीलों के विषय में तो मुझे पहले से भय था ही नहीं, मन में आया कि अब बम्बई जाने पर वहाँ भी कोई हर्ज नहीं,

इस विषय पर अधिक लिखने से पहिले ज़रा अंग्रेज़ अधिकारियों के अविचार और अज्ञान का अनुभव भी कह डालूँ। जुडिशियल असिस्टेंट कहीं एक जगह नहीं बैठते थे। उनकी सवारी घूमती रहती थी और जहाँ ये साहब जाते वहीं वकील और मवक्किलों को भी जाना ही पड़ता। जितनी फ़ीस वकील अपनी जगह पर हो उससे बाहर तो अधिक होती ही हैं। इसलिए मवक्किल को सहज ही दुगना ख़र्च पड़ता। पर इसका विचार करने की जज्ज को ज़रूरत?

इस अपील की सुनवाई वेरावल में होने वाली थी, उस वक्त वेरावल में प्लेग कसरत से था। जहां तक मुझे याद है, रोज के ५० केस होते थे। वहाँ की वस्ती ५५०० के लगभग थी।

करीब करीब सारा गाँव खाली हो गया था। मेरे ठहरने का स्थान वहाँ की निर्जन धर्मशाला में था। गाँव से वह कुछ दूरी पर थी। पर मवक्किलों का क्या हाल? यदि वे गरीब हों तो उनका मालिक तो ईश्वर ही को समझिए?

मुझे वकील मित्रों ने तार दिया कि मैं साहब से प्रार्थना करूँ कि प्लेग के कारण अदालत का स्थान बदल दें! प्रार्थना करने पर साहब ने पूँछा कि—'तुम प्लेग से डरते हो?

मैंने कहा—"यह मेरे डरने का प्रश्न नहीं है। मुझे अपने बचने का तरीका मालूम है। पर मवक्किलों का क्या होगा?"

साहब बोले—'प्लेग ने तो हिन्दुस्तान में घर कर लिया है, उससे क्या डरना? वेरावल की हवा तो कितनी सुंदर है,! (साहब गाँव से दूरी दरिया किनारे पर महल के समान एक तम्बू में रहते थे) लोगों को इस प्रकार बाहर रहना सीखना चाहिए"

इस फिलासफी के सामने मेरा क्या चलने लगा? साहब ने सरिश्तेदार से कहा—"मि० गान्धी का कहना ध्यान में रखना, यदि वकील और मवक्किलों को ज्यादा तकलीफ़ मालूम दे, तो मेरा ध्यान आकर्षित करना।

इसमें साहब ने तो स्पष्टरूप से अपनी मति के माफ़िक उचित ही किया, पर उसे दीन-हिन्दुस्तान की असुविधाओं का अन्दाज कैसे हो? वह बेचारा हिन्दुस्तान की आवश्यकताओं, आदतों, कुटेवों, और रिवाजों को क्या समझे? पंद्रह रुपये की मुहर की गिनती को जानने वाला पाई की गिनती कैसे झट लगा सकेगा? अच्छे से अच्छा हेतु होने पर भी जैसे हाथी चींटी के लिए विचार करने में असमर्थ होता है, उसी प्रकार हाथी के समान

ज़रूरत वाला अंग्रेज़ भी चींटियों के समान ज़रूरत वाले हिन्दुस्तानी के लिए विचार करने और नियम निर्माण करने में असमर्थ ही होगा।

अब खास विषय पर आता हूँ, ऊपर कहे माफिक सफलता मिलने पर भी थोड़ा समय राजकोट में ही रहने का विचार कर रहा था, कि इतने में एक दिन केवलराम मेरे पास आये, और बोले 'अब तुमको यहाँ नहीं रहने देंगे, तुम्हें तो बम्बई में ही रहना पड़ेगा।"

"पर वहाँ मेरी पूछ ही ज्यादा नहीं होगी- मेरा खर्च आप चलायेंगे ?" मैंने कहा।

"हाँ हाँ, मैं तुम्हारा खर्च चलाऊँगा, तुम्हें बड़े-बड़े वैरिस्टरों की तरह किसी वक्त यहाँ लाऊँगा, और लिखने-लिखाने का काम तो तुम्हारे लिए वहीं भेज दूँगा। वैरिस्टरों को बड़े छोटे बनाना यह काम तो हम वकीलों का है न? तुमने अपना काम जो जामनगर और वेरावल में किया है, इससे मैं वेफिकर हूँ। तुम जो लोक-सेवा करने के लिए पैदा हुए हो उसे हम यहाँ काठियावाड़ में दफन नहीं होने देंगे, बोलिए—कब जा रहे हो ?"

"नाताल से मेरे कुछ पैसे आना बाकी है, उनके आते ही जाऊँगा। पैसे दो एक सप्ताह में आये कि मैं बम्बई गया, पेईन, गिल्वर्ट और समानी के ऑफिस में "चेम्बर्स" किराये पर लिये, और मैं स्थिर हो गया।

---

(२२)

धर्म-संकट

मैंने आफिस के साथ गिरगाँव में घर भी लिया। परन्तु ईश्वर ने मुझे स्थिर नहीं रहने दिया, घर लिये बहुत दिन नहीं हुए थे, कि मेरा दूसरा लड़का बीमार हो गया, काल-ज्वर ने घेर लिया, बुखार उतरता नहीं था, घबराहट भी तो थी ही। पर रात को सन्निपात के लक्षण भी दिखाई देने लगे। इस व्याधि से पहले बचपन में उसे शीतला भी खूब निकल चुकी थी।

डॉक्टर की सलाह ली, डॉक्टर ने कहा 'इसके लिए दवा का उपयोग नहीं हो सक्ता, अब तो इसे अण्डे और मुर्गी का शोर्वा देने की जरूरत है,।'

मणिलाल की वय दस साल की थी, उसे तो मुझे क्या पूछना था? ज़िम्मेदार तो मैं ही था, मुझे ही निर्णय करना था, डाक्टर एक भले पारसी सज्जन थे, 'डाक्टर' हम तो सब अन्नाहारी हैं, मेरा विचार तो मेरे लड़के को इन दोनों में से एक भी वस्तु देने का नहीं है, दूसरी कोई वस्तु बतलाइए न?'

डॉक्टर बोले:—"तुम्हारे लड़के की जान ख़तरे में है, दूध और पानी मिला कर दिया जा सकता है, पर उससे पूरा संतोष

नहीं हो सकता। तुम जानते हो कि मैं तो बहुत से हिन्दू परिवारों में जाया करता हूँ पर दवा के लिए तो हम जो चाहते हैं वह चीज़ उन्हें देते हैं, और वे लेते भी हैं; और मैं तो चाहता हूँ कि तुम भी अपने लड़के के साथ ऐसी सख्ती न करो तो अच्छा होगा,"

'आप कहते हैं वह तो ठीक ही है, और आपको ऐसा कहना ही चाहिए। पर मेरी जिम्मेदारी बहुत बड़ी है। यदि लड़का बड़ा होता तो ज़रूर उसकी इच्छा के जानने का प्रयत्न भी करता और और जो वह चाहता वही उसे करने देता, पर यहाँ तो इसके लिए मुझे ही विचार करना पड़ रहा है। मैं तो समझता हूँ कि मनुष्य के धर्म की कसौटी ऐसे ही समय होती है। चाहे सच्चा हो चाहे गलत मैंने तो इसीको धर्म माना है कि मनुष्य को मांसादिक नहीं खाना चाहिए। जीवन के साधनों की भी सीमा होती है। जीने के लिए भी अमुक वस्तुओं को हमें नहीं ग्रहण करना चाहिए। मेरे धर्म की मर्यादा मेरे और मेरों के लिए भी ऐसे समय पर मांस इत्यादि के उपयोग करने से रोकती है। इसलिए आप जिस खतरे को देखते हैं मुझे उसके उठाने पर ही छुटकारा है। पर आप से मैं एक वस्तु माँग लेता हूँ। आपके उपचार तो मैं नहीं करूँगा, पर मुझे इस बालक की नाड़ी और हृदय को देखना नहीं आता है। जल-चिकित्सा की मुझे थोड़ी जानकारी है। उन उपचारों को मैं करना चाहता हूँ। परन्तु जो आप नियम से मणिलाल की तबियत देखने को आते रहें, और उसके शरीर में होने वाले फेरफ़ारों से विदित करते रहेंगे तो मैं आपका उपकार मानूँगा,'। सज्जन डॉक्टर मेरी कठिनाइयों को समझ गये। और मेरी इच्छानुसार उन्होंने मणिलाल को देखने के लिए आना मन्जूर कर लिया।

यद्यपि मणिलाल अपनी राय क़ायम करने लायक नहीं था, तो भी डाक्टर के साथ जो मेरी बात चीत हुई थी वह उसे मैंने सुनाई और अपने विचार प्रकट करने को कहा।

'आप सुखपूर्वक जल-चिकित्सा कीजिए मुझे शोरवा नहीं पीना और अंडे खाना है।' इन वाक्यों से मैं प्रसन्न हो गया, यद्यपि मैं जानता था कि अगर मैं उसे दोनों चीजें खाने को कहता तो वह खा भी लेता।

मैं क्यूनी के उपचारों को जानता था, उनका उपयोग भी किया था। बीमारी में उपवास का स्थान बड़ा है, यह भी मैं जानता था। क्यूनी की पद्धति के अनुसार मैंने मणिलाल को कटि-स्नान कराना शुरू किया, तीन मिनट से ज्यादा उसे मैं टब में नहीं रखता। तीन दिन तक तो सिर्फ नारङ्गी के रस में पानी मिला कर देता रहा और उसीपर रक्खा।

बुखार दूर नहीं होता था और रात को वह कुछ-कुछ बड़बड़ाता भी था। बुखार १०४ डिग्री तक जाता। मैं घबराया, यदि बालक को खो बैठा तो जगत में लोग मुझे क्या कहेंगे? बड़े भाई क्या कहेंगे? दूसरे डॉक्टर को क्यों न बुलवाया जाय, ? वैद्य को क्यों नहीं बुलवाऊँ? मा-बाप को अपनी अधूरी अकल आजमाने का क्या हक़ है?

ऐसे विचार उठते। पर यह विचार भी उठते कि—'जीव! जो तू अपने लिए करता है, वही लड़के के लिए भी कर। इससे परमेश्वर सन्तोष मानेंगे। तुझे जलचिकित्सा पर श्रद्धा है, दवा पर नहीं। डॉक्टर जीवन-दान तो देते नहीं। उनके भी प्रयोग ही हैं, जीवन की दोरी तो एक मात्र ईश्वर के ही हाथ में है। ईश्वर का नाम ले और उसपर श्रद्धा रख। अपने मार्ग को न छोड़।'

मन में इस तरह उथल-पुथल मचती रही। रात हुई। मैं मणिलाल को अपने पास ले कर सोया हुआ था। मैंने निश्चय किया कि उसे भिगो कर निचोड़े हुए कपड़ों में रखा जाय। मैं उठा, कपड़ा लिया, ठंढे पानी में उसे डुबोया और निचोड़ कर उसमें पैर से ले कर सिर तक उसे लपेट दिया, और ऊपर से दो कम्बल ओढ़ा दिये। सिर पर भीगा हुआ टुवाल भी रख दिया। शरीर तवे की तरह तप रहा था। वह सूखा था, पसीना तो आता ही नहीं था।

मैं खूब थक गया था, मणिलाल को उसकी माँ को सौंप कर मैं आध घण्टे के लिए, खुली हवा में ताज़गी और शांति प्राप्त करने के इरादे से चौपाटी की तरफ़ गया। रात के दस बजे होंगे। मनुष्यों का आमद-रफ्त कम हो गया था। पर मुझे इसका ख़याल न था। मैं विचार-सागर में गोते लगा रहा था "हे ईश्वर ! इस धर्म-सङ्कट में तू मेरी लाज रखना, मुँह से 'राम' 'राम' का रटन तो चल ही रहा था। कुछ देर के बाद मैं वापिस लौटा। मेरा कलेजा धड़क रहा था। घर में घुसते ही मणिलाल ने आवाज़ दी,—'बापू ! आप आ गये ?

'हाँ भाई !'

'मुझे इसमें से निकालिए न ? मैं तो मारे आग के मरा जा रहा हूँ।'

'क्यों, पसीना छूट रहा है क्या ?

'अजी मैं तो पसीने से तर हो गया। अब मुझे निकालिए न भाई साहब ?'

मैंने मणिलाल का सिर देखा उस पर मोती की तरह पसीने

की बूँदें चमक रही थीं। बुखार कम हो रहा था, मैंने ईश्वर को धन्यवाद दिये।

'मणिलाल घबड़ा नहीं। अब तेरा बुखार चला जायगा। पर कुछ और पसीना आ जावे तो कैसे?

'नहीं जी भाई साहब! अब तो मुझे छुड़ाइए। फिर दूसरी वक्त देखा जायगा।'

मुझे धैर्य आ गया था,। इसलिए बातों ही में कुछ मिनिट गुजार दिये। सिर से पसीने की धार बह चली, मैंने चद्दर को अलग किया, और शरीर को अब पोंछ कर सूखा कर दिया और फिर बाप-बेटे दोनों साथ सो गये। दोनों खूब सोये।

सुबह देखा तो मणिलाल का बुखार बहुत कम हो गया है। दूध, पानी तथा फलों पर वह चालीस दिन तक रहा, मैं निडर हो गया था। बुखार हठीला था, पर वह क़ाबू में आ गया था। आज मेरे लड़कों में मणिलाल ही सब से अधिक स्वस्थ और मज़बूत है।

इसका निर्णय कौन कर सकता है कि यह रामजी की कृपा है, या जल-चिकित्सा, अल्पाहार अथवा और किसी उपाय की? भले ही सभी अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार वरतें पर उस वक्त मेरी तो ईश्वर.ने ही लाज रक्खी यही मैंने माना, और आज भी यही मानता हूँ।

---

(२३)

फिर दक्षिण आफ्रिका

मणिलाल तो अच्छा हो गया, पर मैंने देखा कि गिरगाँव वाला मकान रहने लायक नहीं था। उसमें सीलन थी। उजेला भी काफ़ी नहीं था। इसलिए रेवाशंकर भाई से सलाह कर के हम दोनों ने बंबई के किसी खुली जगह वाले मुहल्ले में मकान लेने का निश्चय किया। मैं बाँद्रा, सांता क्रूज, वगैरा में भटका। बाँद्रा में कसाई-खाना था इसलिए वहां रहने की हमारी इच्छा नहीं हुई। घाटकोपर वगैरह समुद्र से दूर मालूम हुए। सातां क्रूज में एक सुंदर बंगला मिल गया। वहाँ रहने गये। हमें मालूम हुआ कि आरोग्य की दृष्टि से हम सुरक्षित हो गये। चर्चगेट जाने के लिए मैंने वहां से पहिले दर्जे का पास निकलवाया। मुझे स्मरण है कि कई बार पहिले दर्जे में मैं अकेला ही रहता। इसलिए मुझे कुछ अभिमान भी होता; कई बार बाँद्रा से चर्च गेट जाने वाली खास गाड़ी पकड़ने के लिए सांताक्रूज़ से बाँद्रा चलकर जाता। मेरा धन्धा आर्थिक दृष्टि से भी ठीक चलता हुआ मालूम होने लगा। दक्षिण आफ्रिका के मवक्किल भी मुझे कुछ काम देते थे; मुझे मालूम हुआ इससे मेरा खर्चा सहूलियत से निकल सकेगा।

हाईकोर्ट का काम तो अभी मुझे नहीं मिलता था; पर उस समय वहाँ पर 'मूट' (चर्चा) चलती रहती थी। उसमें मैं जाया करता था। उसमें भाग लेने की तो हिम्मत नहीं होती थी। मुझे याद है कि उसमें जमीयतराम नानाभाई काफ़ी भाग लेते थे; और दो नये बैरिस्टरों की भांति मैं भी हाईकोर्ट में केस सुनने के लिए जाता; वहाँ कुछ जानने के बदले समुद्र की मन्द मन्द चलने वाली हवा में ऊँघने में आनन्द आता था। दूसरों को भी ऊँघते देखकर मुझे लज्जा नहीं आती; मैंने देखा कि ऊंघना भी फैशन में शुमार है।

हाईकोर्ट के पुस्तकालय का उपयोग शुरू किया; और वहाँ कुछ पहिचान करना भी शुरू की; मैंने देखा कि थोड़े ही समय में मैं भी हाईकोर्ट में काम करने वाला हो जाऊँगा।

इस प्रकार एक ओर से मुझे अपने धन्धे के विषय में कुछ निश्चिन्तता होने लगी। दूसरी तरफ से गोखले की नज़र तो मुझ पर थी ही। सप्ताह में दो तीन बार चेम्बर में आ कर वे मेरी खबर ले जाते, और कभी कभी अपने खास मित्रों को भी ले आते। वे अपने काम करने के ढङ्ग से भी मुझे वाकिफ़ करते जाते थे।

पर मेरे भविष्य के विषय में यह कहना ठीक होगा कि ईश्वर ने ऐसा कोई काम नहीं होने दिया जिसे करने का मैंने पहले सोच रक्खा हो।

जैसे ही मैंने स्थिर होने का निश्चय किया; और स्वस्थता का अनुभव करने लगा एकाएक दक्षिण अफ्रिका से तार आ गया:—"चेम्बरलेन यहाँ आ रहे हैं, तुम्हें शीघ्र यहाँ आना चाहिए" मेरे वचन मुझे याद थे। मैंने तार दिया—"मेरा खर्च भेजिए, मैं

आने को तैयार हूँ" उन्होंने झट पैसे भेजे; और मैं आफिस समेट कर रवाना हुआ।

मैंने सोचा कि मुझे वहाँ एक वर्ष तो यों ही लग जायगा। बंगला रहने दिया और बाल बच्चों को भी वहीं रखना ठीक समझा।

मैं उस समय समझता था कि जो युवक लोग देश में कमाई न करते हों और साहसी हों उन्हें विदेशों में जाना चाहिए। इस लिये मैं अपने साथ चार पाँच युवकों को भी ले गया; उनमें मगनलाल गाँधी भी थे।

गाँधी-कुटुम्ब बड़ा था; आज भी है। मेरी इच्छा भी थी कि उसमें से जो लोग स्वतंत्र होना चाहें-हो जायँ। मेरे पिता कइयों का निर्वाह करते थे; पर वे थे रजवाड़ों की नौकरी में। म चाहता था कि वे इस नौकरी से निकल सकें तो ठीक हो। यह हो नहीं सकता था कि मैं उन्हें दूसरी नौकरी दिलवाने का यत्न करता। शक्ति होने पर भी इच्छा नहीं थी। मेरी धारणा तो यह थी कि वे स्वयं और दूसरे भी स्वावलम्बी बनें तो अच्छा।

पर अन्त में तो ज्यों ज्यों मेरे आदर्श आगे बढ़े (यह मैं मानता हूं) त्यों त्यों उन युवकों के आदर्श को बनाना भी मैंने आरम्भ किया; उनमें मगनलाल गाँधी को बनाने में मुझे अधिक सफलता मिली; पर इस विषय पर आगे चलकर लिखना है।

बाल बच्चों का वियोग; जमा हुआ काम तोड़ देना निश्चित वस्तु से अनिश्चित में प्रवेश करना—यह सब क्षण भर के लिए खटका। पर मैं तो अनिश्चित जीवन का आदी हो गया था; इस दुनियाँ में चाहे ईश्वर कहो या सत्य कहो, उसके सिवाय दूसरा भी निश्चित नहीं; यहाँ निश्चित पन का मानना ही भ्रम है;

यह जो सम्पूर्ण अपने आस-पास दिखाई पड़ता है; और बनता रहता है यह सब अनिश्चित है, और क्षणिक है; उनमें जो एक परम तत्त्व निश्चित रूप से छिपा हुआ है उसकी 'झांकी' सर्वदा होती है; उस पर श्रद्धा बनी रहे तभी हमारा जीवन सार्थक हो सकता है। उसकी खोज ही परम पुरुषार्थ है।

मैं डरबन एक दिन भी पहले पहुँचा यह नहीं कह सकता। मेरे लिए काम तैयार ही रखा था; मि० चेम्बरलेन से मिलने वाले डेप्यूटेशन की तारीख तय हो चुकी थी, मुझे उनके सामने पढ़ने के लिए अर्जी तैयार करनी थी, और डेप्यूटेशन के साथ जाना था।

भाग तीसरा, खंड पहला समाप्त

म० गांधी के कुछ विचार

शिक्षा

परोपकार करना, दूसरे की सेवा करना, और उसमें ज़रा भी अहंकार न करना, यही सच्ची शिक्षा है।

❀ ❀ ❀

तुम्हें पढ़ने की इतनी चिन्ता क्यों है? यदि कमाने योग्य होने के लिए यह चिन्ता हो तो उसे छोड़ दो। क्योंकि परमात्मा सब के पेट के लिए देता है। तुम मज़दूरी करके भी अपना पेट भर सकते हो। अगर तुम्हें देश-सेवा के लिए पढ़ना हो तो वह अब भी करते ही हो। अगर आत्मा को पहचानने के लिए पढ़ना हो तो पहले अच्छे बनो।

❀ ❀ ❀

जब तक तुम अपने चरित्र को पवित्र बनाये रख सकते हो, अपना कर्तव्य किये जाते हो, मैं तुम्हारे अक्षर-ज्ञान के विषय में निश्चिन्त हूँ।

❀ ❀ ❀

मनुष्य का सच्चा धंधा तो यह है कि वह अपना चरित्र बनावे। कमाने के लिए कुछ सीखने की ज़रूरत नहीं। जो मनुष्यता को नहीं छोड़ता वह कभी भूखों नहीं मर सकता। और यदि कहीं ऐसा समय आ भी जाय तो वह घबड़ाता नहीं।

❀ ❀ ❀

हमारी संपूर्ण शिक्षा-पद्धति सड़ी हुई है। इसकी फिर नये सिरे से रचना करने की ज़रूरत है।

अगर मेरी चले तो आजकल पाठशाला में जो पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं उनमें से अधिकांश को मैं नष्ट कर दूं; और ऐसी पुस्तकें

लिखवाऊँ जिनका गृह-जीवन से निकट सम्बन्ध हो। इससे उनकी पढ़ाई का उपयोग उनके गृह-जीवन में भी हो सकेगा।

❀ ❀ ❀

स्वदेशी

स्वदेशी वह भावना है, कि जो हमें अपने आसपास की परिस्थिति का उपयोग करने एवं उसकी सेवा करने की प्रेरणा करती है।

❀ ❀ ❀

अगर मुझ में स्वदेशी भावना है तो धर्म के विषय में मैं अपने पूर्वजों के धर्म पर ही दृढ़ रहूँगा। इससे मैं अपनी परिवर्ती धार्मिक परिस्थिति का उपयोग करता हूँ। अगर मुझे उसमें कोई खामी दिखाई दे तो उसे दूर करके मुझे अपने धर्म की सेवा करनी चाहिए। राजनैतिक बातों में भी मुझे देशी संस्थाओं का ही उपयोग करना चाहिए। आर्थिक विषय में मुझे अपने आसपास रहने वालों की बनाई चीजों का ही उपयोग करना चाहिए।

अगर आदमी स्वदेशी भावना के अनुसार आचरण करे तो दुनिया में सत्ययुग जल्दी आ जायगा।

❀ ❀ ❀

मेरा तो ख्याल है कि मेरी तमाम प्रवृत्तियों में चरखा सब से अधिक स्थायी और कल्याणकारी है। हिन्दुस्तान के लाखों परिवारों की दरिद्रता और अकालों का वह रामबाण उपाय है।

अकालों के कारण लोग इतने भूखों मरते हैं कि कितने ही परिवार डूब मरते हैं। इसका कारण यह नहीं कि बाज़ार में अनाज नहीं मिलता, बल्कि यह है कि अनाज खरीदने

के लिए उनके पास पैसे नहीं। आठ घंटे कातने वाली औरतों को चरखा प्रति दिन तीन आने दे सकता है।

❀ ❀ ❀

जो आदमी एक बार खादी खरीदता है वह कम से कम तीन आने ग़रीबों के यहाँ देता है। खादी में कितना स्वदेशाभिमान है यह वही आदमी जानता है जो आग्रह-पूर्वक खादी पहनता है। स्वदेशी करोड़ों के लिए कल्याणकारक है।

❀ ❀ ❀

खादी हिन्दू-मुसलिम एकता की निशानी है और दरिद्रों के प्रति सहानुभूति का चिन्ह है।

❀ ❀ ❀

असहयोग

यदि हमारे असहयोग के मानी सचमुच आत्म-शुद्धि है तो वह हमें और इंग्लैंड को भी ऊँचा उठा देगा। जहाँ एक भी आदमी तपश्चर्या करता है वहाँ का वायु मण्डल शुद्ध हो जा । है।

❀ ❀ ❀

असहयोग आत्म-शुद्धि का मार्ग है। और हमें हम से जुदे होने वालों के अंतःकरण और भावनाओं को जागृत करने का सतत प्रयत्न करते हुए उनके बाल को भी चोट नहीं पहुँचानी चाहिए।

❀ ❀ ❀

प्रत्येक स्त्री-पुरुष को चाहिए कि महासभा की प्रतिज्ञा ले, महासभा का चन्दा देकर अपना नाम उसके सभासदों में लिखवाए, तिलक-स्वराज्य-कोष में धन दे, राष्ट्रीय शालाओं की सहायता करे, विदेशी कपड़े को छोड़ दे, चरखा चलावे, अछूतों की सहायता करे, पंचायतों की स्थापना करे; और बीमारों की सेवा करे।

सस्ता-साहित्य-मंडल, अजमेर.

स्थापना सन् १९२५ ई०; मूलधन ४५०००)

उद्देश्य—सस्ते से सस्ते मूल्य में ऐसे धार्मिक, नैतिक, समाज सुधार सम्बन्धी और राजनैतिक साहित्य को प्रकाशित करना जो देश को स्वराज्य के लिए तैय्यार बनाने में सहायक हो, नवयुवकों में नवजीवन का संचार करे, स्त्रीस्वातंत्र्य और अछूतोद्धार आन्दोलन को बल मिले।

संस्थापक—सेठ घनश्यामदासजी बिड़ला (सभापति) सेठ जमनालालजी बजाज आदि सात सज्जन।

मंडल से—राष्ट्र-निर्माणमाला और राष्ट्र-जागृतिमाला ये दो मालाएँ प्रकाशित होती हैं। पहले इनका नाम सस्तीमाला और प्रकीर्णमाला था।

राष्ट्र निर्माणमाला (सस्तीमाला) में प्रौढ और सुशिक्षित लोगों के लिए गंभीर साहित्य की पुस्तकें निकलती हैं।

राष्ट्र-जागृतिमाला (प्रकीर्णमाला) में समाज सुधार, ग्रामसंगठन, अछूतोद्धार और राजनैतिक जागृति उत्पन्न करनेवाली पुस्तकें निकलती हैं।

स्थाई ग्राहक होने के नियम

(१) उपर्युक्त प्रत्येक माला में वर्ष भर में कम से कम सोलह सौ पृष्ठों की पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। (२) प्रत्येक माला की पुस्तकों का मूल्य डाक व्यय सहित ४) वार्षिक है। अर्थात् दोनों मालाओं का ८) वार्षिक। (३) स्थाई ग्राहक बनने के लिए केवल एक बार ॥) प्रत्येक माला की प्रवेश फीस ली जाती है। अर्थात् दोनों मालाओं का एक रुपिया। (४) किसी माला का स्थायी ग्राहक बन जाने पर उसी माला की पिछले वर्षों में प्रकाशित सभी या चुनी हुई पुस्तकों की एक एक प्रति ग्राहकों को लागत मूल्य पर मिल सकती है। (५) माला का वर्ष जनवरी मास से शुरू होता है। (६) जिस वर्ष से जो ग्राहक बनते हैं उस वर्ष की सभी पुस्तकें उन्हें लेनी होती हैं। यदि उस वर्ष की कुछ पुस्तकें उन्होंने पहले से ही ले रखी हों तो उनका नाम व मूल्य कार्य्यालय में लिख भेजना चाहिए। उस वर्ष की शेष पुस्तकों के लिए कितना रुपिया भेजना चाहिये, यह कार्य्यालय से सूचना मिल जायगी।

सस्ती-साहित्य-माला के प्रथम वर्ष की पुस्तकें

(१) दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह—प्रथम भाग (महात्मा गांधी) पृष्ठ सं० २७२, मूल्य स्थायी ग्राहकों से ।=) सर्वसाधारण से ॥।)

(२) शिवाजी की योग्यता—(ले० गोपाल दामोदर तामस्कर एम० ए० एल० टी०) पृष्ठ १२२ मूल्य ।=) ग्राहकों से ।)

(३) दिव्य जीवन—पुस्तक दिव्य विचारों की खान है। पृष्ठ-संख्या १३६, मूल्य ।=) ग्राहकों से ।) चौथी बार छपी है।

(४) भारत के स्त्री रत्न—(पाँच भाग) इस में वैदिक काल से लगाकर आज तक की प्रायः सब धर्मों की आदर्श, पतिव्रता, विदुषी और भक्त कोई ५०० स्त्रियों की जीवनी होंगी। प्रथम भाग पृष्ठ २१० मू० १) ग्राहकों से ॥।) दूसरा भाग दूसरे वर्ष में छपा है। पृष्ठ ३२० मू० ॥।-)

(५) व्यावहारिक सभ्यता—छोटे बड़े सब के उपयोगी व्यावहारिक शिक्षाएं। पृष्ठ १२८, मूल्य ।)॥ ग्राहकों से ≡)॥

(६) आत्मोपदेश—पृष्ठ १०४, मू० ।) ग्राहकों से ≡)

(७) क्या करें? (टॉल्सटॉय) महात्मा गांधी जी लिखते हैं—"इस पुस्तक ने मेरे मन पर बड़ी गहरी छाप डाली है। विश्व-प्रेम मनुष्य को कहाँ तक ले जा सकता है, यह मैं अधिकाधिक समझने लगा" प्रथम भाग पृष्ठ २२६ मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)

(८) कलवार की करतूत—(नाटक) (ले० टाल्सटाय) अर्थात् शराबखोरी के दुष्परिणाम; पृष्ठ ४० मू० -)॥। ग्राहकों से -)।

(९) जीवन साहित्य—(भू० ले० बाबू राजेन्द्रप्रसादजी) काका कालेलकर के धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक विषयों पर मौलिक और मननीय लेख—प्रथम भाग-पृष्ठ २१८ मू० ॥) ग्राहकों से ।=)

प्रथम वर्ष में उपरोक्त नौ पुस्तकें १६६८ पृष्ठों की निकली हैं

सस्ती-साहित्य-माला के द्वितीय वर्ष की पुस्तकें

(१) तामिल वेद—[ले० अछूत संत महर्षि तिरुवल्लुवर] धर्म और नीति पर अमृतमय उपदेश—पृष्ठ २४८ मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)॥

(२) स्त्री और पुरुष [म० टाल्सटाय] स्त्री और पुरुषों के पारस्परिक सम्बन्ध पर आदर्श विचार—पृष्ठ १३४ मू० ।=) ग्राहकों से ।)

(३) हाथ की कताई बुनाई [अनु० श्री रामदास गौड़ एम० ए०) पृष्ठ २६७ मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)॥ इस विषय पर आई हुई ६६ पुस्तकों में से इसको पसंद कर म० गांधीजी ने इसके लेखकों को १०००) दिया है।

(४) हमारे जमाने की गुलामी (टाल्सटाय) पृष्ठ १०० मू० ।)

(५) चीन की आवाज़—पृष्ठ १२० मू० ।–) ग्राहकों से ≡)॥

(६) द० अफ्रिका का सत्याग्रह—(दूसरा भाग) ले० म० गांधी पृष्ठ २२८ मू० ॥) ग्राहकों से ।=) प्रथम भाग पहले वर्ष में निकल चुका है।

(७) भारत के स्त्रीरत्न (दूसरा भाग] पृष्ठ लगभग ३२० मू० ॥।–) ग्राहकों से ॥≡) प्रथम भाग पहले वर्ष में निकल चुका है।

(८) जीवन साहित्य [दूसरा भाग] पृष्ठ लगभग २०० मू० ॥) ग्राहकों से ।≡) इसका पहला भाग पहले वर्ष में निकल चुका है।

दूसरे वर्ष में लगभग १६५० पृष्ठों की ये ८ पुस्तकें निकली हैं

सस्ती-प्रकीर्ण-माला के प्रथम वर्ष की पुस्तकें

(१) कर्मयोग—पृष्ठ १५२, मू० ।=) ग्राहकों से ।)

(२) सीताजी की अग्नि-परीक्षा—पृष्ठ १२४ मू० ।–) ग्राहकों से ≡)॥

(३) कन्या-शिक्षा—पृष्ठ सं० ९४, मू० केवल ।) स्थायी ग्राहकों से ≡)

(४) यथार्थ आदर्श जीवन—पृष्ठ २६४, मू० ॥–) ग्राहकों से ।=)॥

(५) स्वाधीनता के सिद्धान्त—पृष्ठ २०८ मू० ॥) ग्राहकों से ।–)॥

(६) तरंगित हृदय—(ले० पं० देवशर्म्मा विद्यालंकार) भू० ले० पं० पद्मसिंहजी शर्मा पृष्ठ १७६, मू० ।≡) ग्राहकों से ।–)

(७) गंगा गोविन्दसिंह (ले० चण्डीचरणसेन) ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों और उनके कारिन्दों की काली करतूतें और देश की विनाशोन्मुख स्वाधीनता को बचाने के लिए लड़ने वाली आत्माओं की वीर गाथाओं का उपन्यास के रूप में वर्णन—पृष्ठ २८० मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)॥

(८) स्वामीजी [श्रद्धानंदजी] का बलिदान और हमारा कर्तव्य [ले० पं० हरिभाऊ उपाध्याय] पृष्ठ १२८ मू० ।–) ग्राहकों से ।)

(९) यूरोप का सम्पूर्ण इतिहास [प्रथम भाग] यूरोप का इतिहास स्वाधीनता का तथा जागृत जातियों की प्रगति का इतिहास है। प्रत्येक भारत-वासी को यह ग्रन्थ रत्न पढ़ना चाहिये। पृष्ठ ३६६ मू० ॥।=) ग्राहकों से ॥–)

प्रथम वर्ष में १७९२ पृष्ठों की ये ९ पुस्तकें निकली हैं